भारत भाव रूप

श्रीकृष्ण



सम्पादक

भवानीशंकर शुक्ल

हरिमोहन मालवीय

वृन्दावन शोध संस्थान

रमणरेती, वृन्दावन - 281121 (भारत)

भारत भाव रूप : श्रीकृष्ण

भारत भाव रूप : श्रीकृष्ण

(संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार के अनुदान से प्रकाशित)

सम्पादक

भवानी शंकर शुक्ल

हरिमोहन मालवीय

वृन्दावन शोध संस्थान

रमणरेती, वृन्दावन-281121 (उ०प्र०) भारत

प्रकाशक :

निदेशक

वृन्दावन शोध संस्थान

रमणरेती, वृन्दावन-281121 (उ.प्र.) भारत

फोन : (0565) 2540628, 6450731, फैक्स : 2540576

e-mail : info@vrindavanresearch.org

संस्करण :

प्रथम संस्करण - 2011

आई.एस.बी.एन.नं० : 978-81-904946-2-5

मूल्य :

रु० 500/-

मुद्रण-संयोजन :

विद्यालय प्रेस

केशीघाट, वृन्दावन ☎ : (0565) 2442571

अनुक्रमणिका

भारत भाव रूप : श्रीकृष्ण

खण्ड–1

भारतभाव श्रीकृष्ण

1. भारतभाव रूप : श्रीकृष्ण —डॉ० विद्यानिवास मिश्र 1
2. श्रीकृष्ण का लीला विस्तार —डॉ० प्रभुदयाल मीतल 14
3. महाभारत के कृष्ण —डॉ० रघुवीर शास्त्री 22
4. कृष्णकाली तत्त्व निरूपण —डॉ० प्रेमलता पालीवाल 30
5. महामानव के परिप्रेक्ष्य में महाभारत के श्रीकृष्ण —श्रीवृन्दावन बिहारी 39

खण्ड–2

विविध सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण

6. चैतन्य–सम्प्रदाय के आलोक में श्रीकृष्ण —डॉ० नरेश चन्द्र बंसल 49
7. निम्बार्क सम्प्रदाय के श्रीकृष्ण —स्व० डॉ० प्रेमनारायण श्रीवास्तव 64
8. राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण —डॉ० विजयेन्द्र स्नातक 73
9. वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन–संगीत में श्रीकृष्ण भावनामृत —श्री प्रपन्नाचार्य 77
10. जैन चिन्तन के आलोक में श्रीकृष्ण —डॉ० श्री रंजन सूरिदेव 90

खण्ड–3

विविध भाषाओं में श्रीकृष्ण

11. संस्कृत साहित्य में श्रीकृष्ण —आचार्य डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी 103

12. उड़िया (उत्कल) के परिप्रेक्ष्य में भावरूप श्रीकृष्ण
—डॉ० शंकरलाल पुरोहित 111
13. भावरूप श्रीकृष्ण : बंगला साहित्य में
—श्रीगोपालचन्द्र घोष 120
14. भारतभाव रूप श्रीकृष्ण : असमिया साहित्य के परिप्रेक्ष्य में
—डॉ० महेन्द्र नाथ दुबे 127
15. मणिपुर में श्रीराधाकृष्ण भक्ति —डॉ० जगमल सिंह 135
16. गुजरात में श्रीकृष्ण भक्ति का विकास
—श्री के० का० शास्त्री 158
17. कृष्ण-भक्ति और मराठी वैष्णव साहित्य
—डॉ० प्रभाकर माचवे 166
18. भारत का भाव-पुरुष श्रीकृष्ण —डॉ० ना० नागप्पा 175
(कन्नड़, साहित्य के परिप्रेक्ष्य में)
19. श्रीकृष्ण : तेलुगु साहित्य के संदर्भ में
—प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी 186
20. केरल और मलयालम साहित्य और श्रीकृष्ण भाव
—डॉ० एन०ई० विश्वनाथ अय्यर 199
21. तमिल के राष्ट्रकवि भारती और श्रीकृष्ण
—डॉ० डी० श्रीनिवास वरदन् 213
22. सिंधी साहित्य में श्रीकृष्ण —डॉ० मोतीलाल जोतवाणी 222
23. श्रीकृष्ण : कश्मीरी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में
—डॉ० ओंकारनाथ कौल 226
24. डोगरी का कृष्ण काव्य —डॉ० बीना गुप्ता 236
25. उर्दू साहित्य में श्रीकृष्ण —डॉ० नजीर मुहम्मद 246

26. नेपाल में कृष्ण भक्ति —डॉ० डिल्लीराम निमसिया 260
—डॉ० भगवती प्रसाद सिंह

खण्ड–4

लोक साहित्य में श्रीकृष्ण

27. अपभ्रंश साहित्य में श्रीकृष्ण —डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस' 267
28. बुंदेली लोक गीतों में श्रीकृष्ण —डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ 278
29. अवधी में श्रीकृष्ण —डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस' 291
30. श्रीकृष्ण और कला (साँझी) —डॉ० हर्षनन्दिनी भाटिया 297
31. श्रीकृष्ण और लोकवार्ता का शास्त्रीय पक्ष
—डॉ० राजेन्द्र रंजन 307

खण्ड–5

पुरातत्व, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं में श्रीकृष्ण

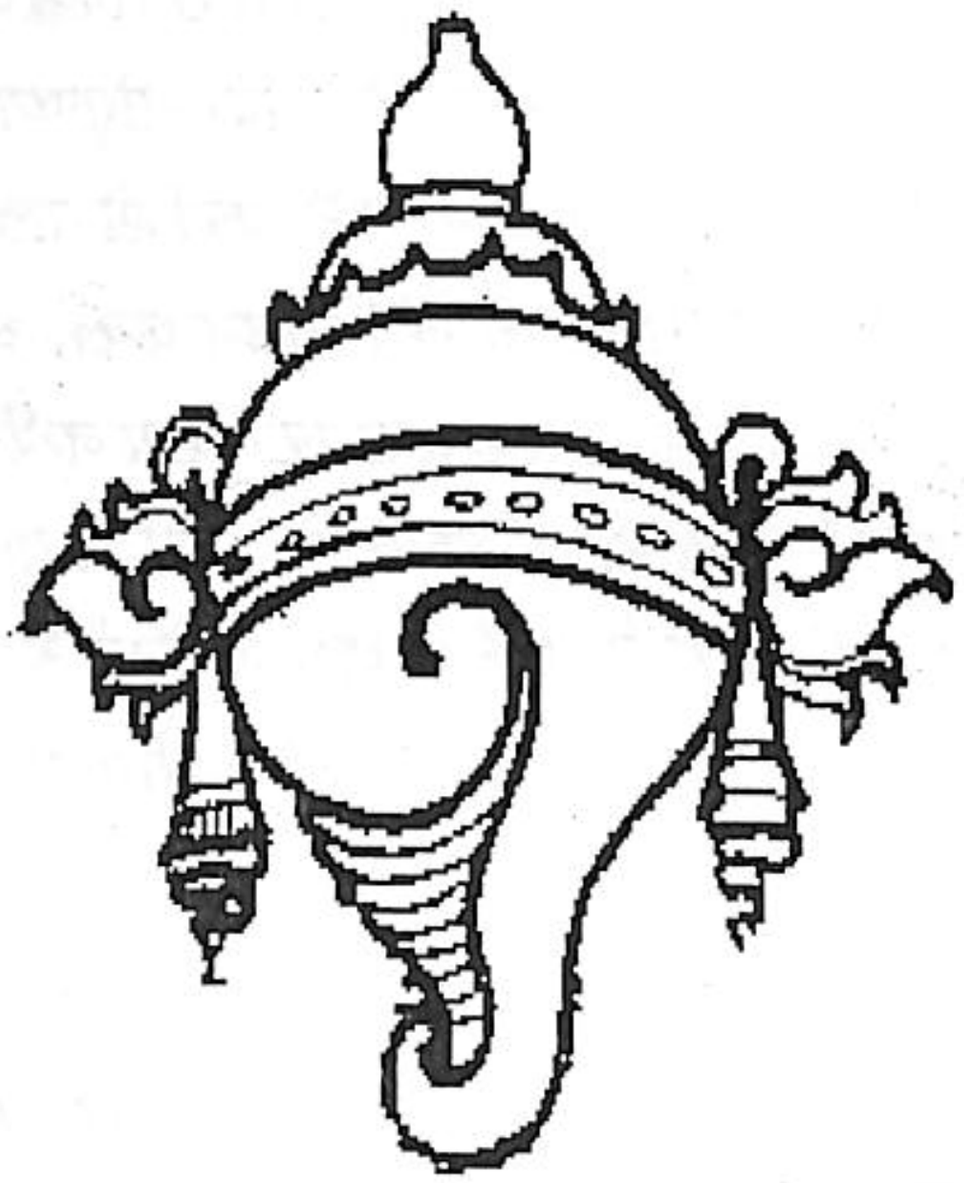
32. श्रीकृष्ण संदर्भित पुरातात्विक साक्ष्य —प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी 313
33. श्रीकृष्ण विग्रह उपासना का आदि केन्द्र
—डॉ० नरेशचन्द्र बंसल 320
34. भारतीय मनीषा की समन्वयी वृत्ति के प्रतीक श्रीकृष्ण :
प्रतिमा के अलोक में —डॉ० गोपाल शर्मा 326
35. श्रीकृष्ण का भावरूप और संगीत कला
—प्रो० विश्वनाथ शुक्ल 340
36. श्रीकृष्ण भावधारिता रासलीला —डॉ० वसन्त जामदग्नि 356
37. श्रीकृष्ण के चित्रण में सान्तता और अनन्तता की समस्या
—डॉ० जगदीश गुप्त 366

38. राजकीय संग्रहालय मथुरा में कृष्ण विषयक लघु चित्र
—स्व० श्रीमती पुष्पा ठकुरैल 376
39. भारतीय चित्रकला और कृष्ण चरित्र
—डॉ० जयसिंह 'नीरज' 381
40. श्रीकृष्ण अट्टम : श्रीकृष्ण कथा पर आधारित केरलीय प्राचीन नाट्य रूप
—डॉ० एन०ई० विश्वनाथ अय्यर 390

❀❀

"श्रीकृष्ण के साथ भक्ति, इस बुरी तरह जुड़ी हुई है कि लोग अपने आप मान लेते हैं कि श्रीकृष्ण-भक्ति में डूबने का अर्थ, कर्म से भागना है, कर्म से पलायन है, कर्म से मुक्ति है। पहले तो मैं निवेदन करूँ, श्रीकृष्ण प्रतीक पुरुष नहीं हैं, प्रतीक बराबर मुख्य नहीं रहता, गौण रहता है। हमारी संस्कृति में, प्रतीकों को लेकर बातचीत नहीं होती है, प्रतीक कुछ मूर्तियाँ हैं, प्रतीक श्रीकृष्ण की मूर्ति हो सकती है, लेकिन श्रीकृष्ण की जो परिकल्पना है वह प्रतीक रूप में नहीं है क्योंकि ओट में वह नहीं है, वह किसी की भी निःश्वास ओट में नहीं है, साक्षात् उपस्थित है। एक अत्यन्त जीवन्त उपस्थिति के रूप में हमारे प्रतिदिन के, श्वास-निश्वास में है।"

— डॉ० विद्यानिवास मिश्र



आयोजन के प्रतिभागी

1. डॉ० विद्यानिवास मिश्र, कुलपति काशी विद्यापीठ, वाराणसी
2. श्री सुरेन्द्रमोहन, प्रमुख सचिव, उ०प्र० सरकार, लखनऊ
3. डॉ० हजारीलाल माहेश्वरी, पांडिचेरी आश्रम, पांडिचेरी
4. श्री दयाप्रकाश सिन्हा, निदेशक, सांस्कृतिक कार्य निदेशालय, उ०प्र० लखनऊ
5. डॉ० जगदीश गुप्त, इलाहाबाद
6. डॉ० एन० नागप्पा, बंगलौर
7. डॉ० गोपाल शर्मा, नई दिल्ली
8. श्री जितेन्द्र कुमार, निदेशक, संग्रहालय, मथुरा
9. डॉ० जयसिंह नीरज, जयपुर
10. डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, वाराणसी
11. श्रीमती पुष्पा ठकुरैल, मथुरा
12. डॉ० हर्षनन्दिनी भाटिया, अलीगढ़
13. डॉ० नरेशचन्द्र बंसल, कासगंज
14. डॉ० विश्वनाथ शुक्ल, अलीगढ़
15. डॉ० वसन्त यामदग्नि
16. श्री मोहनस्वरूप भाटिया
17. डॉ० श्रीराम शर्मा
18. श्रीमती लीला वेंकटरमण
19. डॉ० जगमल सिंह, सहा० प्रोफेसर, मणिपुर विश्वविद्यालय, इम्फाल
20. डॉ० शंकरलाल पुरोहित, प्राचार्य, शान्ति निकेतन विश्वविद्यालय
21. डॉ० कणिका तोमर, प्रोफेसर, शान्ति निकेतन विश्वविद्यालय
22. डॉ० महेन्द्रनाथ दुबे, रीडर, क०मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

23. श्री गोपालचन्द्र घोष, पुस्तकालयाध्यक्ष, वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन
24. डॉ० नजीर मुहम्मद, प्रोफेसर, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
25. डॉ० ओंकारनाथ कौल, प्रोफेसर, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी, मसूरी
26. डॉ० वीना गुप्ता, रीडर, डोगरी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
27. डॉ० हरमहेन्द्र सिंह वेदी, रीडर, गुरुनानक विश्वविद्यालय, अमृतसर
28. डॉ० मोतीलाल जोतवाणी, प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय
29. डॉ० गोविन्द शर्मा, वृन्दावन
30. डॉ० श्रीनिवास वरदन, प्रोफेसर–अध्यक्ष, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
31. प्रो० सुन्दर रेड्डी, पू० डीन फैकल्टी आर्ट्स, आन्ध्र विश्वविद्यालय
32. डॉ० एन० विश्वनाथ अय्यर, पू० प्रोफेसर, कोचीन विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम
33. डॉ० अंबाशंकर नायर, निदेशक, हिन्दुस्तानी पीठ, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
34. डॉ० प्रभाकर माचवे, पू० निदेशक, भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता
35. डॉ० रघुवीर शास्त्री, सम्पादक कैटेलाग, वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन, पू० प्रो० पी०जी० कालेज, आगरा
36. डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी, प्रोफेसर, प्राच्य दर्शन महाविद्यालय, वृन्दावन
37. डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस', प्रो० डी०ए०वी० कालेज, जालन्धर
38. डॉ० रंजन सूरिदेव, पू० सम्पादक, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना
39. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, पू० प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय, मथुरा
40. डॉ० प्रेमनारायण श्रीवास्तव
41. डॉ० प्रेमलता पालीवाल, आचार्या, आर०सी०ए० महाविद्यालय, मथुरा

42. डॉ० चन्द्रभान रावत, पू० प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद
43. श्री वृन्दावनबिहारी, वरिष्ठ शोध सहायक, वृ०शो०सं०, वृन्दावन
44. डॉ० तपेश्वरनाथ, प्रोफेसर भागलपुर विश्वविद्यालय
45. डॉ० राधेबिहारीलाल सक्सेना, गोवर्धन
46. डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ, पू० प्राचार्या, किशोरीरमण कालेज, मथुरा
47. डॉ० राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी
48. डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, निदेशक, वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन
49. श्री बनवारीलाल पाठक



प्राक्कथन

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में श्रीकृष्ण ईश्वर के अवतार हैं अथवा स्वयं ईश्वर हैं। श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व ऐतिहासिक क्रम में विकसित हुआ है और उसने संस्कृति के विभिन्न पक्षों-अभिनीत कला तथा संगीत व दृश्य कला आदि सभी को प्रभावित किया है। वास्तविकता यह है कि श्रीकृष्ण चेतना भारतीय मन और सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों में अविच्छिन्न रूप से व्याप्त है। श्रीकृष्ण की कल्पना समयान्तर के साथ-साथ मतों की विभिन्नता का अतिक्रमण करती रही है। यही कारण है कि धीरे-धीरे अनेक मतान्तरों के बावजूद उत्तरी और दक्षिणी भारत को उसने समग्रीकृत किया है। निराकार या साकार, हिन्दू या मुसलमान, बौद्ध जातक या जैन आगम-सभी के लिये श्रीकृष्ण का महान् योगदान है। यह बात पूरे तौर पर हम तभी ग्रहण कर सकेंगे जब हमारे सम्मुख ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य होगा और इस बात की जानकारी होगी कि सभी वर्ग और बौद्धिक स्तर के लोग श्रीकृष्ण की कल्पना से अनुप्राणित हैं। भारत एक देश नहीं, न देश का इतिहास है, भारत एक भाव है। उस भाव को खोजना हो तो श्रीकृष्ण में उसको खोजा जा सकेगा।

पहले हम श्रीकृष्ण के चरित्र को धार्मिक और तात्विक दृष्टि से देखें जो लोकोत्तर और लौकिक तत्वों का संवाहक रहा है। इसके निर्माण में महाभारत, हरिवंश पुराण, श्रीमद्भागवत पुराणादि की विशेष भूमिका रही है। कालान्तर से पुराण वाङ्मय उत्तरोत्तर अवतारवाद का प्रेरक बन गया। पांचरात्र सम्प्रदाय की ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या की धारणाओं से पुष्ट होकर

तथा सांख्य के प्रकृति तत्व और आगमों की युगल कल्पना का आलम्बन बनकर कृष्ण का व्यक्तित्व लीलावाद रूप इतना सशक्त सिद्ध हुआ कि उनके लोक रक्षक, राजनीतिक, योगी, धर्मात्मा आदि के स्वरूप गौण पड़ गये। सभी वैष्णव-सम्प्रदायों की दार्शनिक विचारधाराओं में कृष्ण के लीलात्मक गोपाल एवं रसिकेश्वर रूप को ही प्रमुखता प्राप्त हुई। आलवारों के भाव पूर्ण गीतों से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं के शृंगारपरक साहित्य तक में रसिकेश्वर कृष्ण के व्यक्तित्व का ललित रूप ही मुख्य रूप से अभिव्यक्त हुआ है। भागवत पुराण के अनुसार बैकुण्ठवासी भगवान श्रीकृष्ण के तीन रूप हैं—स्वयंरूप, तदैकात्मरूप और आवेशरूप। श्रीकृष्ण भगवान के स्वयं रूप हैं। वैसे तो गीता के अनुसार जब-जब पृथ्वी पर धर्म की हांनि होती है और अधर्म बढ़ता है, भगवान पृथ्वी पर मानव रूप में अवतरित होते हैं, परन्तु वैष्णव भक्त श्रीकृष्ण के अवतरण का यह मुख्य कारण नहीं मानते हैं। उनके अनुसार लीला ही मुख्य कारण है जो लोक को रसमय बनाती है।

श्रीकृष्ण की प्रसिद्धि सम्भवतः वैदिक काल में भी थी। ऋग्वेद (4.40.8, 10.179.2) में 'व्रज' शब्द का अनेकधा उल्लेख हुआ है। विद्वानों ने ब्रज का अर्थ पशु समूह, सेना आदि बतलाया है। ऋग्वेद में 'ब्रजपति', 'चरन्तम्' का भी उल्लेख है, जिसका अर्थ कालान्तर से साहित्य में 'ब्रजपति' श्रीकृष्ण के रूप में हुआ है, जो गोवंश के रक्षक हैं। प्रो० दयानाथ त्रिपाठी के मत से 'ब्रज भूमि' के रक्षक हलधर (बलदाऊ) तथा (कृष्ण देवत्म) को कृषि एवं गोपालन की द्वितीय क्रान्ति का प्रवर्तक माना जा सकता है। जिन दोनों महापुरुषों की बाद में पूजा की जाने लगी तथा जिसकी चर्चा हमें लोक गाथाओं में मिलती है। इसी प्रकार राधा का भी वेदों में उल्लेख है।

छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आंगिरस के शिष्य देवकी पुत्र कृष्ण की चर्चा है। श्रीकृष्ण को उपदेश देते हुए आंगिरस ने

जो कहा वह संक्षेप में यही है कि 'यह पूरा जीवन यज्ञ है, इसी रूप में इसे स्वीकार करो। जो तुम्हें प्यास लगती हो, भूख लगती हो, दूसरे की चाह जागती हो, अकेले रहना दुसह है तो उसका अर्थ यही है कि तुम सबके अकेलेपन को, सबकी भूख-प्यास को समझ सकते हो और समझोगे तो जीवन को समझोगे यह समाज की सामाजिक सार्थकता का सिद्धान्त है। आंगिरस के शिष्य पुराणों में वर्णित देवकी तथा वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं हैं। गीता में दिया गया उपदेश आंगिरस की दी हुई शिक्षा का ही एक रूप है। महाभारत काल तक आते-आते कृष्ण उपदेशक, राजनीतिज्ञ और फिर रास-रमणक बन गये। लगभग पाँच सौ ईसा पूर्व पाणिनि ने एक सूत्र में अर्जुन के साथ वासुदेव शब्द का प्रयोग किया—वासुदेव में जिनकी भक्ति है, उन्हें वासुदेवक और अर्जुन में जिनकी भक्ति है, उन्हें अर्जुनक कहते हैं। श्रीमद्भागवत, विष्णु, ब्रह्मवैवर्त, नारद और पद्म इन पाँच पुराणों में विष्णु के आध्यात्मिक रूप तथा महिमा का व्यापक और सर्वांग सुन्दर वर्णन किया गया है, जिसने हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य को बहुत प्रभावित किया है। वैदिक संदर्भ में भक्ति का अर्थ यद्यपि कुछ भिन्न है परन्तु यास्क (लगभग 700 ई०पू०) के समय में भक्ति, भक्त और भगवन्त शब्द एक-दूसरे से अभिन्न हो चुके थे। पाणिनि के काल में विष्णु-कृष्ण की अवधारणा स्पष्ट हो गई थी। इससे स्पष्ट है कि पूर्वकालीन ग्रन्थों और अभिलेखों में जहाँ कहीं कृष्ण-वासुदेव का उल्लेख है, वहाँ उसका तात्पर्य कृष्ण की भक्ति से है। यह भक्ति जाति और धर्म की सीमाओं से बाहर थी। सर्वत्रात (लगभग 200 ई०पू०) का घोसुण्डी अभिलेख, यवन हेलियो डोरस का बेसनगर स्तम्भलेख, नानाघाट गुहालेख आदि वासुदेव की भक्ति (भागवत धर्म) से सम्बन्धित है।

श्रीकृष्ण तत्व का निरूपण करना दुःसाध्य विषय है। निम्बार्क सम्प्रदाय में वे सर्वेश्वर के रूप में मान्य हैं। गौड़ीय सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को सर्वकारण, परात्पर प्रभु के रूप में

प्रतिपादित किया गया है। चैतन्य चरितामृत में कृष्णदास कविदास गोस्वामी ने बताया है कि "सर्व अवतारी कृष्ण स्वयं भगवान हैं।" श्रीकृष्ण मूलनारायण हैं आदि पुरुष हैं। हरिदास, हित हरिवंश और हरिराम व्यास ने उन्हें भावरूप में स्वीकार कर रसोद्रेक के माध्यम से रस स्वरूप माना है। वे रसिक शेखर और स्वयं रसरूप हैं।

धर्म की सूक्ष्मरूप से रक्षा या उसके आधार की रक्षा करने के प्रयोजन के अनुसार श्रीकृष्ण ने मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि अनेक रूप धारण किये। उसी क्रम में उन्होंने मानव का रूप धारण किया। विकासवाद की इस अवधारणा को महर्षि अरविन्द ने स्वीकार किया है। पूर्व में कृष्ण ऋषि, महर्षि अथवा राजाधिराज कुमार के रूप में आये। परन्तु द्वापर में वह भगवानत्व अथवा राजाधिराज की विशिष्टता को त्यागकर जनसाधारण में आये और गोप-गोपिका के बीच, गायों के बीच गोपाल बने। मानव समाज के बीच आकर उसमें घुल-मिल गये और अपने पूर्णत्व का परिचय दिया।

विष्णु पुराण के पंचम अंश में श्रीकृष्ण का अलौकिक चरित्र वैष्णव भक्तों का आलम्बन है। यह कृष्ण चरित्र भागवत के दशम स्कन्ध के समान ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में चार खण्ड हैं। इसके कृष्णजन्म खण्ड के आधे से अधिक भाग में श्रीकृष्ण चरित्र का सांगोपांग वर्णन इस पुराण का लक्ष्य रहा है। इसमें राधाकृष्ण की शक्ति है। राधाकृष्ण की लीला स्वरूप तथा उनके पारम्परिक सम्बन्धों के विषय में वैष्णव सम्प्रदायों जैसे गौड़ीय, बल्लभ, राधाबल्लभी मतों में जिन साधन-भूत रहस्यों का प्रमाण है, उनका मूल ब्रह्मवैवर्त पुराण में है। इस पुराण में गोलोक का वर्णन मिलता है। राधा गोलोक में श्रीकृष्ण की हृदयेश्वरी हैं। यह पुराण कृष्णपरक है, इसलिए कृष्ण भक्त वैष्णवों में इनकी बहुत अधिक मान्यता है। विशेषतः गौड़ीय वैष्णवों में इसका विशेष महत्व है। विद्वानों के अनुसार भारत में भक्ति

दक्षिण के आलवार भक्तों से आई। पुनः भागवत माहात्म्य में वर्णित भक्ति भी दक्षिण से ही होती हुई वृन्दावन में आई। धीरे-धीरे इसी भक्ति में वेद के गोपा और ब्रज शब्दों को लेकर गोप-लीला, रासलीला का प्रादुर्भाव कवि कल्पना से हो गया, साथ ही राधा को भी कृष्ण से सम्बन्धित कर उनके अलौकिक प्रेम का अवलम्बन कर माधुर्य भक्ति की उपासना प्रचलित हो गई। भागवत धर्म के तीन सम्प्रदायों- निम्बार्क, माध्व एवं वल्लभ सम्प्रदायों ने राधाकृष्ण की रूप माधुरी का चित्रण किया है। भक्ति मूलतः वैष्णव भक्ति ही है और मुख्यतः कृष्ण-वासुदेव की भक्ति है। हिन्दी के रीतिकाव्य में राधाकृष्ण को नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया। उत्तर भारत के कृष्ण भक्ति आन्दोलन को प्रभावित करने में 12वीं 13वीं शताब्दी तथा इसके भी पूर्व विकसित दक्षिण के वैष्णव-सम्प्रदायों का हाथ रहा। दक्षिण में जन्म लेकर चार सम्प्रदायों ने उत्तर भारत में भक्ति का विकास किया। ये चार सम्प्रदाय हैं—श्री रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत पर आधारित श्री-सम्प्रदाय, श्री मध्वाचार्य का द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित ब्रह्म सम्प्रदाय, श्री निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद पर आश्रित 'सनक सम्प्रदाय तथा विष्णु स्वामी का शुद्धाद्वैत पर आधारित रुद्र सम्प्रदाय।' बल्लभाचार्य जी को विष्णु स्वामी की परम्परा में अन्तर्भुक्त करके विष्णु स्वामी के सम्प्रदाय की विचारधारा को शुद्धाद्वैत कहकर स्थिर किया गया है।

भारत की प्रज्ञा ने भगवान श्रीकृष्ण का गत साढ़े पाँच हजार वर्षों से निरन्तर अभिनन्दन, वन्दन, अर्चन एवं अनुसरण किया है। भारतभाव रूप श्रीकृष्ण भारतीय धर्म, संस्कृति, संगीत, साहित्य और विविध कलाओं के प्राण हैं। श्रीकृष्ण के बिना राष्ट्र की एकसूत्रता की परिकल्पना नहीं की जा सकती। यह अद्वितीय शलाकापुरुष, महापुरुष और सच्चे भारतभाव-पुरुष हैं। उनका ऐतिहासिक गौरव, माहात्म्य और महत्व "न भूतो न भविष्यति" की कोटि का है। ये कालिदास के गोपवेष विष्णु, जयदेव के

गोविन्द, महापुरुष शंकरदेव के 'एकशरण', चैतन्य के राधाकृष्ण, सूरदास के श्याम, नरसी के साँवरिया और मीरा के नटवर नागर बने। सम्पूर्ण ब्रजमण्डल-विशेषतः वृन्दावन में अपनी सरस, मधुर रसोपासना और रासलीलाओं के माध्यम से वह अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा के साथ जुगल किशोर बने और रस के अधिष्ठान बने। श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व, उनके निर्द्वन्द्व, निष्काम, निःस्व और अनासक्त कर्म; उनके रसिया-छलिया, गिरिधर, चक्रसुदर्शनधारी, योगी, कर्मयोगी, शान्तिदूत, सारथि, प्रवरयोद्धा, गीता गायक आदि अनेक रूप, गुण, आदर्श और यथार्थ शत्रु और मित्र आदि विरोधों का समन्वय एवं सामंजस्य बैठाने वाला जीवन दर्शन है।

अवतारवाद की भावना वैदिकोत्तर काल में पुष्ट हुई है। धीरे-धीरे अवतारवाद ने समूचे आर्यावर्त में अपना स्थान बनाया। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण इन छह अवतारों की चर्चा है। पुराणों में दशावतार तथा बाद में चौबीस अवतारों तक का वर्णन मिलता है। कृष्णावतार की कल्पना प्राचीन और विस्तार लिये हुए है। कृष्ण एक ओर कंसारि हैं और दूसरी ओर गोपाल, गोपीजन वल्लभ हैं। कृष्ण का दूसरा रूप प्रधान हो गया। आभीर संस्कृति के ग्रन्थ - हाल की 'गाहा सतसई' में कृष्ण की ब्रजलीला के सम्बन्ध में कई पद हैं। कवि भट्ट नारायण कृत वेणी संहार नाटक के नौवें श्लोक में कृष्ण के अनुनय का उल्लेख है। आनन्द वर्धन कृत ध्वन्यालोक में राधाकृष्ण विषयक एक प्राचीन श्लोक उद्धृत है। कवीन्द्र वचन समुच्चय में राधाकृष्ण के बारे में चार पद संगृहीत हैं। यह संकलन प्रायः दसवीं शताब्दी का है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि भागवत महापुराण में श्रीकृष्ण लीला की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है, उससे भिन्न एक और भी परम्परा थी, जिसका प्रकाश जयदेव के गीत गोविन्द-परम्परा में हुआ है। उनके अनुसार श्रीकृष्ण अवतार की

लीलाओं में अद्‌भुत मानवीय रस है। इसी मानवीय रस को भक्त कवियों ने उच्च धरातल पर रख दिया है। मनुष्य के जितने भी मनोरोग हैं, वे सभी भगवान की ओर प्रवृत्त होकर महान बन जाते हैं। इसी मनोवृत्ति से चालित होकर भक्त कवियों ने मनुष्य के सभी रागों को भगवन्दुन्मुख करने का प्रयत्न किया है।

भक्ति का अर्थ भगवान का सेवा प्रकार। शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है। नारद भक्ति सूत्र के अनुसार भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूप है। अमृत स्वरूप भक्ति को पाकर मनुष्य तृप्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, जिसको पाकर मनुष्य किसी वस्तु की न इच्छा करता है, और न किसी वस्तु में आसक्त होता है। विषय भोगों के प्रति उसका कोई उत्साह नहीं रहता और आत्मानन्द के साक्षात्कार से वह संसार के विषयों से निरपेक्ष होकर मस्त रहता है। भागवताकार के अनुसार—मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ कर्म वही है, जिसके द्वारा भगवान कृष्ण में भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द स्वरूप भगवान की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है। वृहन्नारदीय पुराण में हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य को प्रभावित करने वाले कथन विद्यमान हैं। पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में विष्णु भक्ति की विशेष रूप से प्रशंसा की गई है। वामन पुराण में भगवान विष्णु के वामन अवतार का वर्णन है। वैष्णव पुराणों की भाँति इसमें कृष्णावतार उनके अलौकिक कार्य और रासलीला आदि का वर्णन नहीं है। वराह पुराण में मथुरा माहात्म्य वर्णित है। हरिवंश में तो कृष्ण गोपाल की चर्चा में 20 अध्याय ही लिखे गये हैं। हरिवंश की हल्लीसक-क्रीड़ा ही भागवत की रासलीला का पूर्व रूप है। भागवत की रासपंचाध्यायी भागवत का नवनीत है जो गोपीजन के साथ आठों प्रहर की कृष्णलीला का अंग बन गई। हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य को प्रभावित करने वाला श्रीकृष्ण का बाल और

किशोर रूप ही है जो गोकुल, वृन्दावन और मथुरा में व्यतीत हुआ था। हिन्दी कृष्ण काव्य में कृष्ण पूर्ण रूप से पुराणों के असुर संहारी और गोपी वल्लभ श्रीकृष्ण हैं।

एक और विशेष पक्ष श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है—वह है उनका लोक मंगलकारी तथा लोकरंजक रूप, जिसने रसखान, सूरदास, मीरा और जयदेव विद्यापति आदि को काव्य के लिये प्रेरित किया तथा बल्लभाचार्य जैसे अनेक दार्शनिकों को अपने भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों को धर्म, भाषा, जाति तथा भूगोल की सीमाएँ और बंधन तोड़ते हुए प्रचारित और प्रसारित करने के लिये अनुप्राणित किया। यह बात भी सोचने और अध्ययन करने की है कि श्रीकृष्ण चेतना का पिछले अनेक वर्षों से नई शक्ति और उत्साह के साथ सार्वभौमिक विस्तार हो रहा है।

भारत का एक भाव है अपनी विशिष्टता को छोड़कर साधारणता का वरण करना। श्रीकृष्ण को परब्रह्म कहा गया है परन्तु परब्रह्म होते हुए भी वह पृथ्वी पर मानव लीला करते हैं। वह यज्ञ-तप से भी विरत हैं, वह यह नहीं प्रदर्शित करते कि वस्तुतः वह कौन हैं? इसलिए वे ब्रज से परिपूर्ण हो धूल धूसरित रहते हैं, नन्द के निकेतन में बच्चों की भाँति नृत्य करते हैं। साधारणपन ही उन्हें जीवन भर इतनी बड़ी भूमिका अदा करते हुए भी विशिष्ट बनाये रखती है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अग्रपुरुष के रूप में पूजित होते हैं, फिर भी वहाँ काम करते हैं, अतिथियों के पैर धोने का और जूठी पत्तलें उठाने का। श्रीकृष्ण महाभारत के सूत्रधार हैं, लेकिन काम करते हैं घोड़ों की सफाई करने का, उनकी मालिश करने का तथा उन्हें हाँकने का। इससे अधिक सामान्य आदमी क्या हो सकता है? यही सामान्य आदमी इतनी बड़ी भूमिका अदा करने का काम कर रहा है प्रत्येक क्षेत्र में, राजनीति के क्षेत्र में, साधना के क्षेत्र में। वह एक नीति निर्देशक होकर आगे की भी सोच में तल्लीन हैं। वह अनेक

अभिमानियों के मान का मर्दन करते हैं। ऐसे व्यक्ति को हमने भारत के 'भाव' के रूप में स्वीकार किया है।

शास्त्रीय तथा लोक कलाओं के क्षेत्र में श्रीकृष्ण का स्थान निश्चय ही सर्वोपरि है। उनका यह पक्ष सौन्दर्य है—जिसमें सहजता, लावण्य और गति है। ग्रामीण क्षेत्रों में सोहर जैसे लोक गीतों, साँझी, अल्पना, भित्ति चित्रण, लोक नाट्यों, गायन विधाओं, हरिकथा पाण्डवानी, जात्रा, यक्षगान जैसी लोक कला विधाओं से लेकर शास्त्रीय कलाओं के उत्कृष्ट रूप जैसे मूर्तियों, नाटक, संगीत तथा चित्रों में श्रीकृष्ण पूरे तौर पर व्याप्त हैं। दीर्घकाल से किसी-न-किसी रूप में श्रीकृष्ण कवि और साहित्यकारों के भी प्रेरणा स्रोत रहे हैं। वास्तव में बिना श्रीकृष्ण को समझे भारतीय कला के विविध रूपों तथा उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना कठिन है।

सर्वव्यापी विष्णु के विराट स्वरूप को 'विश्वरूप' कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता (11/16) में विष्णु के इस स्वरूप को 'विश्वेश्वर विश्वरूप' कहा गया है। विष्णु ने अपने इस विस्मयकारी रूप को समय-समय पर बलि, परशुराम कौशल्या, यशोदा, अर्जुन आदि को दिखाया है। इनमें अर्जुन को दिखाये गये विश्वरूप का ही सर्वाधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि में अर्जुन को दिखाये नये विश्वरूप का गीता के दसवें तथा ग्यारहवें अध्याय में विस्तृत वर्णन है। इसमें विष्णु के सैकड़ों-हजारों नाना प्रकार के, नाना वर्णों तथा आकृतियों वाले अलौकिक रूप समाहित हैं। विश्वरूप विष्णु के इस स्वरूप में द्वादश आदित्य, आठ वसु, एकादश रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार, उन्चास मरुद्गण (11/6), सचराचर सहित सम्पूर्ण जगत (11/7), हजार सूर्यों का प्रकाश (11/12) आदि सम्मिलित हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में विश्वरूप विष्णु-प्रतिमा में अन्य देवों तथा अन्य प्राणियों के मुखों के अंकन का निर्देश है। विश्वरूप विष्णु के इस स्वरूप का क्रमिक सर्वप्रथम मथुरा-कला में ही

दिखायी देता है। अष्टभुज विष्णु का अंकन सर्वप्रथम ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में कुषाणकालीन कला में पाया गया है। गुप्तकाल में अष्टभुज विष्णु के स्थान पर चतुर्भुज वैकुण्ठ-विष्णु आँके जाने लगे। इस प्रकार की मूर्ति में मध्यमुख किरीटधारी मानवमुख है और उसके अलग-बगल सिंह और वराह के मुख हैं। यद्यपि गुप्तोत्तरकाल तथा मध्यकाल में वैकुण्ठ विष्णु की मूर्तियाँ देश के विभिन्न भागों (कश्मीर, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि) में भी अंकित की गयी थीं तथापि विष्णु के इस स्वरूप की उद्भावना का श्रेय मथुरा-कला को ही जाता है। मथुरा की इन वैकुण्ठ मूर्तियों में सिंह और वराहमुख विष्णुमुख के दाएँ-बाएँ पार्श्वों में बनाये गये हैं। मथुरा तथा अन्य स्थानों से प्राप्त मूर्तियों तथा अंकनों में श्रीकृष्ण को प्रायः द्विभुज पाया गया है। महाभारत से भी यही संकेत मिलता है। आचार्य रामानुज के अनुसार कंसवध के पश्चात् श्रीकृष्ण अर्जुन हो गये। वस्तुस्थिति यह है कि मानव-रूप में वह द्विभुज ही थे। अध्यात्म चिंतन तथा आराध्य रूप में वह चतुर्भुज थे। भारतीय कला में श्रीकृष्ण की लीलाओं का सर्वाधिक अंकन हुआ है। देश के सभी संग्रहालयों में वह प्रतिमाओं, चित्रों, मृण्मूर्तियों, काष्ठकृतियों तथा धातु कृतियों के रूप में उपलब्ध हैं। अकेले मथुरा संग्रहालय में ही श्रीकृष्ण से सम्बन्धित लगभग 88 प्रदर्श हैं। इसी प्रकार उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम के अनेक भारतीय मन्दिरों में उनका अंकन है। कांगड़ा, राजस्थानी सहित-विशेषतः मुगलकालीन लघुचित्रों में कृष्णलीला चित्रण बहुल है। इसी प्रकार भित्ति चित्रों तथा पटचित्रों में भी कृष्णलीला की भरमार है।

जैन धर्म की परम्परा में श्रीकृष्ण का जो चरित्र विकसित हुआ, वह अवतारवाद की रसमयी कल्पना से सर्वथा भिन्न है। अवतार की अवधारणा जैन धर्म में मान्य नहीं है। अतः जैन साहित्य में कृष्ण भगवद् स्वरूप नहीं हैं। जैन मत में शलाका-

पुरुषों की अवधारणा के अनुरूप कृष्ण एक शलाकापुरुष हैं। जैन-परम्परा के अनुसार एक कालखण्ड में शलाकापुरुष जन्म लेते हैं। 24 तीर्थंकरों के अतिरिक्त जो विशिष्ट नाम चक्रवर्ती शलाकापुरुषों की सूची में मिलते हैं, उनमें प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों ही प्रकार के नाम हैं। इनमें 24 तीर्थंकरों के अलावा भरत, राम, लक्ष्मण, रावण, कृष्ण, बलराम और जरासंध उल्लेखनीय हैं। जैन परम्परा में कृष्ण नवम् वासुदेव के रूप में मान्य हैं तथा जरासंध जो इनका प्रतिद्वन्द्वी है, वह नवम् प्रति वासुदेव है।

जैन धर्म की इस धारणा के अनुसार श्रीकृष्ण शलाका-पुरुष वासुदेव हैं। वासुदेव रूप में वह आधे भरतक्षेत्र (खण्ड) के स्वामी, अर्द्धचक्रवर्ती और त्रिखण्डाधिपति हैं। वह द्वारका सहित सम्पूर्ण दक्षिण क्षेत्र के अधिपति हैं। "निरयावलिका" जैन ग्रन्थ के अनुसार द्वारावती नगरी में कृष्ण नाम के वासुदेव राजा थे। वह उस नगरी का शासन करते हुए विचरते थे। अनेक अधीनस्थ राजाओं, ऐश्वर्यवान नागरिकों सहित बैताढगिरि से सागर पर्यन्त दक्षिण भारत क्षेत्र उनके प्रभाव में था। इस प्रकार कृष्ण एक महान शक्तिशाली राजपुरुष थे। जैन मान्यता के अनुसार कृष्ण और जरासंध में संघर्ष होता रहता था, जिसमें कृष्ण ने जरासंध का संहार किया तथा वह वासुदेव राजा के रूप में प्रतिष्ठित हुए। जैन परम्परा में वासुदेव के व्यक्तित्व की अनेक विशिष्टताओं का उल्लेख मिलता है। जैनागम ग्रन्थ 'समवायोग' सूत्र में शलाकापुरुष वासुदेव के व्यक्तित्व की जिन विशेषताओं का उल्लेख मिलता है, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—ओजस्वी, यशस्वी, कांतिमय, कामवान, प्रियदर्शी, सुशील, सर्वप्रिय, बलवान, अपराजेय, दयालु, अल्पभाषी, प्रियभाषी, शरणागत-वत्सल, धनुर्धारी, धीरपुरुष, नरपति, नरेन्द्र, दीप्ति-तेजवान, इन्द्रवत्-राज्यलक्ष्मी आदि। जैन धर्म में कृष्णचरित उदात्त लौकिक धरातल पर विकसित हुआ है। जैन आगमों में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं, जिनके अनुसार अर्हत, अरिष्टनेमि, द्वारका जाते थे और

कृष्ण अपने पूरे परिवार तथा अनुगत के साथ उनके उपदेशों को सुनते थे।

प्रसिद्ध जैन विद्वान श्री ज्योति प्रसाद जैन का कथन है कि जैन साहित्य में कृष्ण चरित्र इतनी विविधता एवं विस्तार से देशकाल एवं भाषाओं की सीमा का उल्लंघन करता हुआ प्राप्त होता है तो जैन कला में कृष्ण की कोई अभिव्यक्ति नहीं होती यह असम्भव था। शक-कुषाण कालीन मथुरा कला में तीर्थंकर अरिष्टनेमि की कई प्रतिमायें प्राप्त हैं, जिनमें तीर्थंकर के एक ओर हलधर बलराम खड़े हैं और दूसरी ओर मुकुट एवं चक्रधर नारायण कृष्ण। तत्कालीन मथुरा की प्रसिद्ध हरनेगनेशी मूर्तियों का सम्बन्ध भी कृष्ण कथा से है, न कि जैसा प्रायः समझा जाता है, महावीर जन्म से।'' सच तो यह है कि न केवल जैन साहित्य में बल्कि जैन शिल्प और चित्रकला में भी कृष्ण का महत्वपूर्ण स्थान है।

कृष्ण केवल हिन्दू धर्म, साहित्य और कला तथा जैन साहित्य और कला में ही व्याप्त नहीं हैं। इस स्थिति में बौद्ध साहित्य इससे अछूता कैसे रह सकता था। प्रकारान्तर से कृष्ण कथा ने यहाँ भी स्थान प्राप्त किया। बौद्ध वाङ्मय में कृष्ण कथा का विस्तृत रूप हमें घटजातक में प्राप्त है, जिसमें श्रीकृष्ण को बोधिसत्व घट का भाई बतलाया गया है। बौद्धों के पालि निद्देस ग्रन्थों (लगभग 400 ई०पू०)- महानिद्देस और चुल्लनिद्देस में भी वासुदेव की भक्ति का स्पष्ट संकेत है। परवर्ती बौद्ध-तन्त्र वाङ्मय में भी कृष्ण, भगवद्गीता आदि की चर्चा प्राप्त होती है। 13वीं शताब्दी में रामचन्द्र कवि भारती ने जो भक्ति शतक नामक ग्रन्थ की रचना की उसमें भी बुद्ध की भक्ति के परिप्रेक्ष्य में कृष्ण, राम, शिव की भाँति ही प्रस्तुत किया गया है।

श्रीकृष्ण और उनके भाव की व्यापकता केवल भारतीय उपमहाद्वीप के प्रत्येक भाग तक सीमित नहीं है। बाह्य तथा आन्तरिक पुरातात्विक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि श्रीकृष्ण मध्य

एशिया तथा पूर्वी द्वीप समूह के अनेक द्वीपों में भी प्रतिष्ठित थे। कम्बोडिया के एक शिलालेख में यमुना तटवर्ती किसी दिवाकर भट्ट का उल्लेख है जो वैष्णव धर्मी था। ग्रीक संदर्भों में सुरासेनोई (शूरसेन), जबानेस (यमुना), क्लीसबोरा (कृष्णपुर), मेथोरा (डमजीवतंत्रमथुरा), भ्मतंबसमे (वासुदेव कृष्ण) की मथुरा में पूजा का उल्लेख है।

अंततः भावरूप कृष्ण का सारांश यही है कि भारतीय परम्परा में श्रीकृष्ण एक ऐसी परम्परा के वाहक हैं जो रहस्यवादी होते हुए भी अत्यन्त-पार्थिव हैं—जो एक ओर भक्ति-दर्शन की ओर लोगों को प्रेरित करती है और दूसरी ओर गीता के कर्मयोगी बनने और क्लैव्य की ओर न जाने का आदेश देती है। इसी भाव से भावित होने के लिए देवता भी कहते हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं, प्रसन्न येषां स्विदुतस्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्ध्वा नृषु भारताजिरे मुकुन्द सेवौपयिकं स्पृहाहिनः॥

×

श्रीकृष्ण की सार्वभौमिक व्याप्ति को ध्यान में रखकर वर्ष 1988 में अक्टूबर 24 से 26 तक वृन्दावन शोध संस्थान द्वारा एक त्रिदिवसीय संगोष्ठी 'भारत भाव रूप कृष्ण' शीर्षक से उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक कार्य निदेशालय के सहयोग से सम्पन्न हुई थी। समारोह का उद्घाटन उत्तर प्रदेश के तत्कालीन सचिव श्रीसुरेन्द्र मोहन ने तथा उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता श्रीप्रभुदयाल मीतल जी ने की थी। संगोष्ठी में मुख्य अतिथि डॉ० विद्यानिवास मिश्र एवं विशिष्ट अतिथि श्रीअरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी से पधारे डॉ० हजारीलाल माहेश्वरी थे।

वृन्दावन शोध संस्थान के तत्कालीन निदेशक एवं भाषा विज्ञान के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया ने संगोष्ठी की पृष्ठभूमि का परिचय प्रस्तुत किया और इस सत्र में प्रयाग से पधारे डॉ० जगदीश गुप्त एवं बंगलौर से पधारे डॉ० एम० नागप्पा ने अपने विचार व्यक्त किये।

संगोष्ठी का प्रथम सत्र पुरातत्व, स्थापत्य मूर्ति चित्रकला के परिप्रेक्ष्य में प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। भाग लेने वाले विद्वान थे डॉ० गोपाल शर्मा, श्री जितेन्द्र कुमार, डॉ० जय सिंह 'नीरद', डॉ० नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी, डॉ० जगदीश गुप्त, श्रीमती पुष्पा ठकुरैल, डॉ० हर्षनन्दिनी भाटिया।

द्वितीय सत्र संगीत, मंचीय कला आदि के परिप्रेक्ष्य में श्रीदयाप्रकाश सिन्हा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ, जिसमें डॉ० विश्वनाथ शुक्ल, डॉ० विश्वनाथ अय्यर, डॉ० बसन्त यमदग्नि, श्रीमोहन स्वरूप भाटिया, डॉ० श्रीराम शर्मा तथा श्रीमती शीला वेंकटरमण ने भाग लिया। संयोजक थे डॉ० नरेशचन्द्र बंसल।

तृतीय सत्र भारतीय भाषाओं के साहित्य के परिप्रेक्ष्य में श्रीकृष्ण विषय पर साहित्य अकादमी दिल्ली के तत्कालीन सचिव डॉ० इन्द्रनाथ चौधरी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इसमें भाग लेने वाले विद्वान थे—शंकरलाल पुरोहित, डॉ० कर्णिका तोमर, डॉ० महेन्द्र दुबे, श्रीगोपाल चन्द्र सिंह, डॉ० नजीर मोहम्मद, डॉ० ओंकारनाथ कौल, डॉ० बीना गुप्ता, डॉ० हरमिन्दर सिंह बेदी तथा डॉ० मोतीलाल जोतवाणी।

चतुर्थ सत्र में भी भारतीय भाषाओं के साहित्य के ही परिप्रेक्ष्य में श्रीकृष्ण विषयक परिचर्चा डॉ० एम०ई० विश्वनाथ अय्यर की अध्यक्षता में हुई। भागीदार थे डॉ० श्रीनिवास बरदन, प्रो० एन० नागप्पा, डॉ० अंबाशंकर नागर, डॉ० प्रभाकर माचवे, डॉ० रघुवीर शास्त्री, डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी, डॉ० मुरारीलाल सुरस, डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव। संयोजन प्रो० गोविन्द शर्मा ने किया था।

पंचम सत्र का विषय था—'हिन्दी साहित्य तथा लोक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में श्रीकृष्ण।' अध्यक्ष थे डॉ० विजयेन्द्र स्नातक। इसमें भाग लेने वाले विद्वान थे, डॉ० नरेश चन्द्र बंसल, डॉ० प्रेमनारायण श्रीवास्तव, डॉ० विश्वनाथ शुक्ल, डॉ० प्रेमलता पालीवाल, डॉ० चन्द्रभान रावत, सरोजिनी कुलश्रेष्ठ, डॉ०

हर्षनन्दिनी भाटिया, डॉ० गोविन्द शर्मा, डॉ० राजेन्द्र रंजन।

इस महानुष्ठान में अलीगढ़, मथुरा-वृन्दावन, लखनऊ, वाराणसी इलाहाबाद, पांडिचेरी, बंगलोर, जयपुर, नई दिल्ली, इम्फाल, भुवनेश्वर, शान्ति निकेतन, आगरा, मसूरी, जम्मू, अमृतसर, वाल्टेयर, त्रिवेन्द्रम, मैसूर, अहमदाबाद, कलकत्ता, जालन्धर, पटना, हैदराबाद से विद्वान पधारे थे।

विशिष्ट अतिथि के रूप में स्वामी आनन्ददेव 'टाटबाबा' ने भाग लिया। इस आयोजन में चित्र, मूर्ति एवं लोककला, संगीत, कृष्णट्टम्, रासलीला सांगीत-नौटंकी, स्वांग, भगत, रसिया-लावनी, नृत्य विषयक गंभीर एवं ललित चर्चाएँ हुईं।

मणिपुरी, उड़िया, बृजवुलि, असमिया, बंगला, उर्दू, कश्मीरी, डोगरी, पंजाबी, सिंधी के अतिरिक्त तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़, गुजराती, मराठी, संस्कृत, अपभ्रंश भाषाओं में निहित कृष्ण तत्व का संधान विद्वानों ने किया। जैन धर्म, चैतन्य तथा निम्बार्क, बल्लभ सम्प्रदायों में कृष्ण के स्वरूप तथा अवधी, बुंदेली, ब्रज, गढ़वाली बोलियाँ जनजातीय भाषा तत्व में अन्तर्निहित कृष्ण रूप पर विद्वानों की उल्लेखनीय चर्चाएँ हुईं।

इस विद्वत् समागम में विद्वानों ने अनेक ऐसे विचार-बिन्दु प्रस्तुत किये जो बरबस विचारशील पाठकों को सहज ही आकृष्ट करेंगे। प्रसिद्ध विचारक एवं भारतीय संस्कृति के प्रस्तोता एवं इस संगोष्ठी के मुख्य अतिथि डॉ० विद्यानिवास मिश्र के अनुसार 'श्रीकृष्ण प्रतीक' नहीं हैं, वह तो साक्षात् हैं, वास्तविक हैं। श्रीकृष्ण में रस रूप विवर्त होने की अपार क्षमता है। विशिष्ट से हटकर सामान्य में मिल जाना ही 'कृष्ण की भारत भाव रूपता' है। प्रभुदयाल मीतल के अनुसार श्रीराम का चरित्र आदि से अन्त तक एक रस रहा, वहाँ कृष्ण विचित्रता और विविधता से पूर्ण है। सांस्कृतिक कार्य विभाग उ०प्र० के तत्कालीन निदेशक 'श्री दयाप्रकाश सिन्हा ने निरूपित किया कि श्रीकृष्ण का एक

गतिशील बहुमुखी व्यक्तित्व था, जिसने भारत को एक सूत्र में बाँधा।'

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के पूर्व निदेशक डॉ० गोपाल शर्मा ने संकेत किया कि 'खजुराहो की कृष्णलीला सम्बन्धी मूर्तियाँ एवं पुरी, भुवनेश्वर और कोणार्क की प्रकीर्ण मूर्तियों के दर्शन करने से प्रतीत होता है कि कृष्ण जैसे विलक्षण लीलाओं वाले महापुरुष थे; वैसे ही विविध और विचित्र उनकी प्रतिमाएँ हैं जो भारतीय जीवन में समन्वय की छाप लगाती हैं। यही समन्वय यवनी इतिहास, पुराण, संस्कृति और कला शैलियों की प्रेरणा बनी।' डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी की स्थापना है कि कृष्ण के दो प्रधान रूप हैं—आराध्य रूप और लीलामय रूप। 'श्रीकृष्ण की मूर्तियाँ सुदूर कांधार देश (पाकिस्तान) तक मिलती हैं। कुषाण काल और गुप्तकाल से पूर्व अवतार का चित्रण शिल्प में नहीं मिलता। अवतारों में उन्हें विष्णु रूप दर्शाया गया है।' डॉ० कृष्णदत्त वाजपेयी मानते हैं कि श्रीकृष्ण देशकाल की सीमाओं से परे विश्व जनीन सिद्ध हुए हैं।

केरल के प्रख्यात विद्वान् डॉ० एन०ई० विश्वनाथ अय्यर ने कहा केरल में जयदेव के गीत गोविन्द (अष्टपदी) को नृत्य नाट्य के रूप में गाया जाता है, जिसे अष्टदियाट्टम कहते हैं। सत्रहवीं शती में इसी से प्रभावित होकर 'कृष्णाट्टम्' प्रस्तुत किया गया और 'कृष्ण गीति' नाम से कृष्णाट्य का आधार ग्रन्थ लिखा गया।'

डॉ० बसन्त यामदग्नि ने रास-रहस्य पर चर्चा की कि परमात्मा का रहस्यपूर्ण व्यापार ही लीला है। उसकी लीला स्वयं पूर्ण और अहैतुकी है। मणिपुर के विद्वान ने बताया कि श्री चैतन्य महाप्रभु की भक्ति-भावना का प्रभाव ही मणिपुर पर पड़ा है। उत्कल के विद्वान शंकरलाल पुरोहित के अनुसार भगवान जगन्नाथ से अनुप्राणित भक्तिधारा एक दृढ़ परम्परा बनकर जाति-पांति के भेद-भाव से ऊपर उठ गयी। इस भावना ने

उत्कल जीवन को महिमामय बनाया।

असमी विद्वान डॉ० महेन्द्रनाथ दुबे ने शंकरदेव के बृजबुलि गीता काव्य ग्रन्थों और नाटकों की चर्चा के साथ माधवदेव के बर गीतों पर प्रकाश डाला। वृन्दावन के प्रख्यात विद्वान गोपालचन्द्र घोष ने बताया—बंगाल में 'कानु छाड़ा गीत नाई' अर्थात् कृष्ण बिना कोई नहीं है। यह लोक मान्यता है। बंगला कृष्ण भक्ति साहित्य में "ब्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण नायक शिरोमणि एवं नायकार शिरोमणि राधा ठकुरानी हैं" 'चैतन्य महाप्रभु के कारण सोलहवीं शताब्दी में बंगला साहित्य का कृष्ण भावनामय विकास हुआ।'

प्रसिद्ध विद्वान डॉ० नजीर मुहम्मद ने नजीर अकबरावादी की कन्हैया की बाँसुरी का स्मरण कराया। हिन्दी बंगला के अधिकारी विद्वान डॉ० इन्द्रनाथ चौधरी के मतानुसार कृष्ण का विराट व्यक्तित्व हमें महाभारत में दृष्टिगोचर होता है। वे जाति-पांति देश आदि किसी भी सीमा में बँधे न थे। आध्यात्मिक दृष्टि से यह देह कृष्ण का निवास है तथा इस देह से देहातीत तक पहुँचना कृष्ण को प्राप्त करना है।

प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी ने स्मरण दिलाया कि महाप्रभु वल्लभाचार्य तेलुगू भाषी तथा ब्रजभाषा के विद्वान थे। प्रो० एन० नागप्पा ने बताया जन्माष्टमी पर मैसूर में कृष्ण लीला सोलह दिन तक चलती है। गुजरात की कृष्ण भक्ति पर व्यापक चर्चा करते हुए डॉ० अंबाशंकर नागर ने संकेत किया कि गुजरात में भागवत धर्म एवं वासुदेव कृष्ण की मधुर ब्रह्मरूप में उपासना के प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाण हमें जूनागढ़ (गिरनार) के ई० सन् 556 के शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। गुजराती कवियों द्वारा कृष्ण काव्य गुजराती एवं ब्रज दोनों भाषाओं में उपलब्ध होता है। अष्टछाप के कवियों में कृष्णदास अधिकारी गुजरात के थे। डॉ० प्रभाकर माचवे के अनुसार मराठी संत कवि या तो कृष्ण के बालरूप का वर्णन करते हैं या गीता वाले योगेश्वर रूप का।

16वीं शताब्दी से कश्मीरी कृष्ण भक्ति साहित्य का

कश्मीरी में लेखन कार्य हुआ था। यह स्थापना थी डॉ० ओंकारनाथ कौल की। डॉ० बीना गुप्ता के अनुसार डोंगरी काव्य में कृष्ण भक्ति के स्रोत प्राचीन हैं पर वे प्रायः लोक साहित्य में निहित प्रतीत होते हैं। पंजाब के विद्वान हरमिंदर सिंह की स्थापना थी कि गुरुमुखी का कृष्ण काव्य जनचेतना से जुड़ा है। पंजाब में कृष्ण काव्य प्रायः दो रूपों में मिलता है—(1) गुरुमुखी लिपि में ब्रजभाषा काव्य। (2) पंजाबी भाषा में रचित काव्य।

प्रख्यात सिंधी भाषा के विद्वान डॉ० मोतीलाल जोतवाणी के अनुसार सिंध में सूफी प्रभाव अधिक था किन्तु कुछ ने कृष्ण काव्य रचे थे।

तमिल विद्वान डॉ० डी० निवास वरदन ने राष्ट्रकवि सुब्रह्मण्यम भारती के कृष्ण को रेखांकित किया। आलवार भक्तों की भक्ति पर भी प्रकाश डाला।

जैन आचार्यों ने उपजीव्य के रूप में श्रीकृष्ण चरित लिखा। अपभ्रंश की रचनाएँ महापुराण, पुराण और चरित काव्य के रूप में मिलती हैं। यह मान्यता डॉ० मुरारीलाल सुरस की थीं। जैन चिन्तन के आलोक में डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव का कथन था कि जैन दृष्टि कृष्ण के अति लौकिक या अति मानवीय गुणों की उपेक्षा नहीं कर पाती।

श्रीकृष्ण मन्दिरों की चर्चा करते हुए केरल से पधारे डॉ० एन०ई० विश्वनाथ अय्यर ने बताया भारत के प्रमुख 108 मन्दिरों में 13 चेरदेश में हैं। मलयालम साहित्य के लोकगीत, लोककथा, लोकनृत्य सभी में कृष्ण कथा है।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार निम्बार्क सम्प्रदाय में वृन्दावन बिहारी श्रीकृष्ण ही रसिक किशोर रूप में एकमात्र नित्य बिहारी पुरुष हैं। उनकी परा प्रकृति ही राधा हैं जो चिंत-अचिंत विशिष्ट आह्लादिनी निज शक्तिरूपा हैं। सारा जगत इन्हीं रसिक युगल किशोर का प्रतिबिम्ब है।

दुर्भाग्यवश उक्त संगोष्ठी में जो मूल्यवान् लिखित वक्तव्य

आदि संस्थान को उपलब्ध हुए वे वर्षों से संचिकाओं में ही पड़े रहे। उनके उद्धार में डॉ० कमलेश पारीक और श्रीरजत शुक्ल का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। उसी का परिणाम है पुस्तक रूप में 'भारत भाव रूप : श्रीकृष्ण' का प्रकाशन। जिन विद्वानों के आलेख इस संगोष्ठी में प्राप्त हुए, उन्हें प्रकाशित कर हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है। आशा है कि इस संकलन ग्रन्थ का विद्वानों तथा कृष्ण भक्तों के बीच स्वागत होगा।

इस आयोजन के प्रस्तोता एवं सूत्रधार डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। ग्रन्थ के प्रकाशन में डॉ० ब्रजभूषण चतुर्वेदी, डॉ० उमाशंकर दीक्षित एवं विद्यालय प्रेस के श्रीविष्णुदान शर्मा का योगदान उल्लेखनीय है। मथुरा संग्रहालय से आवरण पृष्ठ के लिए 'विश्वरूप कृष्ण' की मूर्ति का चित्र प्राप्त हुआ है। एतदर्थ वहाँ के सहायक निदेशक श्री एस०पी० सिंह धन्यवाद के पात्र हैं।

—भवानी शंकर शुक्ल
—हरिमोहन मालवीय

खण्ड – 1

भारतभाव श्रीकृष्ण

भारत भाव रूप : श्रीकृष्ण

❀ डॉ० विद्यानिवास मिश्र

विचार करें कि वृन्दावन या ब्रजभूमि के साथ ज़ो कृष्ण का एकात्म्य है, कृष्ण का सामान्य जीवन के साथ जो एकात्म्य है, पशु-पक्षी, नदी-पर्वत, घास-बालू, इन सबके साथ जो एकात्म्य है वह किस प्रकार का एकात्म्य है और वह एकात्म्य, कंकरीट के जो नये जंगल खड़े हो रहे हैं उनमें पाया जा सकता है या नहीं? हमारे जीवन दर्शन में, जो एक आलस्य है, प्रमाद है, एक निश्चिंतता है, वह विकास की विरोधिनी है। एक प्रबल विचारधारा है कि भक्ति कर्म का प्रतिषेध है। श्रीकृष्ण के साथ भक्ति, इस बुरी तरह जुड़ी हुई है कि लोग अपने आप मान लेते हैं कि श्रीकृष्ण-भक्ति में डूबने का अर्थ, कर्म से भागना है, कर्म से पलायन है, कर्म से मुक्ति है। पहले तो मैं निवेदन करूँ, श्रीकृष्ण प्रतीक पुरुष नहीं हैं, प्रतीक बराबर मुख्य नहीं रहता, गौण रहता है। हमारी संस्कृति में, प्रतीकों को लेकर बातचीत नहीं होती है, प्रतीक कुछ मूर्तियाँ हैं, प्रतीक श्रीकृष्ण की मूर्ति हो सकती है, लेकिन श्रीकृष्ण की जो परिकल्पना है वह प्रतीक रूप में नहीं है क्योंकि ओट में वह नहीं है, वह किसी की भी नि:श्वास ओट में नहीं है, साक्षात् उपस्थित है। एक अत्यन्त जीवन्त उपस्थिति के रूप में हमारे प्रतिदिन के, श्वास-निश्वास में है। यह अनुभव साधारण आदमी जल्दी कर लेता है, असाधारण आदमी जो पढ़ा-लिखा है वह नहीं कर पाता है। असाधारण आदमी के मस्तिष्क में कई प्रकार के जाले हैं। एक जाला इतिहास का ही है, इतिहास का अध्ययन, इतिहास की दृष्टि से अध्ययन, संस्कृति के निर्वचन कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। लेकिन अगर एकान्तिक रूप से इतिहास के ही प्रकोष्ठ में रखकर के,

इतिहास के ही साँचे में रख करके समूची संस्कृति का अध्ययन किया जाता है तो संस्कृति का बहुत बड़ा हिस्सा गायब हो जाता है। कार्य-कारण से सम्बद्ध जितना हिस्सा है वही रहता है, एक अखण्ड रूप जो रहता है वह गायब हो जाता है, क्योंकि इतिहास है ही खण्ड रूप में, सोचने की विधा।

अयोध्या में श्री दयाप्रकाश जी के साथ चर्चा हुई थी और वहाँ चर्चा होते-होते तय हुआ कि श्रीकृष्ण को केन्द्र में रख करके यहाँ वृन्दावन में कुछ किया जाय, अच्छा रहेगा। मैंने सुझाया कि भाव पुरुष कृष्ण को केन्द्र में रखा जाय। उसके पीछे, मेरे मन में जो बात थी वह मैं कहने जा रहा हूँ। सबसे पहली तो यह बात थी कि भाव और रस में एक अन्तर है। भाव जब श्रीकृष्ण को कहा जाता है तो रस होने की उनमें क्षमता है, रस रूप में विवर्तित होने की उनमें क्षमता है। तो भारत का एक भाव है वह किस प्रकार का भाव है वह भाव है कि अपनी विशिष्टता को छोड़ करके, साधारणता का वरण करो। विशिष्टता कई प्रकार की होती है और श्रीकृष्ण विशिष्टतम हैं। विशिष्टतम को निरुक्त करने के लिये ही कहा गया कि वह परब्रह्म हैं। परब्रह्म होते हुए भी इतने सामान्य हैं कि

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्द निकेतांगणेमयादृष्टम्।
गोधूलि धूसरांगो नृत्यति वेदान्त सिद्धांतः।।

वेदान्त के जो परम सिद्धान्त हैं, जो साध्य हैं वह नाचते हैं ब्रज में, धूलि में, इतने सामान्य हो जाते हैं। इससे भी सामान्य हो जाते हैं कि यहाँ रहने वाले जो लोग हैं, इतने ज्ञानवान नहीं हैं इतने यज्ञ-तप आदि से युक्त नहीं हैं कि उनकी चरण-रज लेने वाले भी, उनकी चरण-रज लेने के लिये भी, आकांक्षी हो जाते हैं इससे बढ़कर सामान्य होने की कोई स्थिति होती है? ये सामान्यता ही उन्हें जीवनभर इतनी बड़ी भूमिका अदा करते हुये भी विशिष्ट बनाये रखती है।

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अग्रपुरुष के रूप में पूजित होते हैं, लेकिन काम करते हैं पैर धोने का और जूठी पत्तल बटोरने का। महाभारत के सूत्रधार हैं, लेकिन काम करते हैं घोड़ों की सफाई का और घोड़ों के

हाँकने का। इससे अधिक सामान्य आदमी क्या हो सकता है। और वह ही आदमी इतनी बड़ी भूमिका अदा कर रहा हो, प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञान के क्षेत्र में, राजनीति के क्षेत्र में, साधना के क्षेत्र में—वह एक नीति निर्देश दे रहा हो और आगे की सोच रहा हो। अनेक कंटकों का उद्धार कर रहा हो। अनेक अभिमानों का उद्धार कर रहा हो। यहाँ तक कि सबसे बड़े दुरभिमानी जाति के मद का जो उद्धार कर रहा हो, जाति के मद से मुक्त कर रहा हो। ऐसे निर्मोही व्यक्ति को हमने ''भाव'' माना है। सम्पूर्ण भारत का भाव माना है और भारत-वन्दना जब श्रीमद्भागवत में की गई है, तो देवताओं की अभिलाषा इस प्रकार प्रकट होती है—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न ऐषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धा नृषु भारताजिरे
मुकुन्द सेवौपयिकं स्पृहा हिनः।

उन्होंने क्या पुण्य किया कि भारत के आँगन में जन्म लिया। हमारे मन में तो ललक ही रह गई कि हम मुकुन्द की सेवा के लिये उपाय बनने वाला कोई शरीर पायें। हमारा शरीर तो हो ही नहीं सकता इसके लिये। यह भोग-प्रधान शरीर मुकुन्द की सेवा नहीं कर सकता। यह ऐश्वर्य धारण करने वाला शरीर, श्रीकृष्ण की सेवा नहीं कर सकता है। श्रीकृष्ण ने यहाँ तक कहा है कि मान लो अनिर्वचनीय ब्रह्म ही हमें षोडश द्वापर पुरुष कहा गया है। इसका अर्थ और कुछ नहीं है, एक ही अर्थ है कि जीवन के भीतर गुजरते हुए इसकी भूख प्यास, एक दूसरे की आकांक्षा, इन सबके भीतर से गुजरते हुए, इन सबको पार करके जाओ और अपने को निचोड़ते हुए जाओ। छान्दोग्य-उपनिषद् में जो श्रीकृष्ण का उपदेश है घोर आंगिरस का, संक्षेप में यह ही उपदेश है कि यह पूरा जीवन यज्ञ है, इसी रूप में इसे स्वीकार करो, जो तुम्हें प्यास लगती हो, भूख लगती हो दूसरे की चाह जगती होती है मन में सोचो तुम यज्ञ की दीक्षा दे रहे हो। क्योंकि भूख होगी प्यास होगी दूसरे के लिये आकांक्षा

होगी अकेले रहना दु:सह होगा तो इसका अर्थ है कि तुम सबको, सबके अकेलेपन को, सबकी भूख को, सबकी प्यास को समझ सकते हो और जब समझोगे तो जीवन को समझोगे, जीवन में प्रवेश करोगे।

पहले समझो, जैसे तुम्हारी प्यास वैसे ही सबकी प्यास, जैसे तुम्हारी भूख वैसे सबकी भूख, जैसे तुम्हारे भीतर अकेलेपन की जो व्यथा है, किसी के साथ किसी से बात करने की इच्छा है वैसी सबके मन में इच्छा है। यही दीक्षा है तुम्हारी और जब इस भाव से तुम खाओगे, पिओगे, दूसरों से जुड़ोगे कि मैं, ये जो भोजन कर रहा हूँ, ये जो पानी पी रहा हूँ दूसरों से जुड़ रहा हूँ यह एक का एक से जुड़ना नहीं है, समष्टि का समष्टि के इसी रूप से जुड़ना है अर्थात् समष्टि के भाव से ही ये सारे जीवन का व्यापार है। यही यज्ञ के समीप आना है और इसके बाद जब आहुति डाली जाती है, उस समय के जो मन्त्र होते हैं, उसमें यही भावना है कि जो कुछ किया है वह सब मेरा नहीं है, इसमें मैं कहीं नहीं हूँ। इसके बाद मृत्यु का क्षण जब आता है तो अवभृथ स्नान है यज्ञ का और भृथ का अर्थ होता है—पूरी तरह भीतर भर लेना; जो कुछ किया है उसको भीतर भर लेना और भर करके, फिर नया हो जाना, उस सम्भरण के बाद जो नया होना है वही जीवन है। इसलिए उनसे कहा, अपने को खपाते हुए अनुभव करो कि खपे नहीं, घर के भीतर रहते हुए अनुभव करो कि तुम्हारा कोई घर नहीं। मरते हुए अनुभव करो कि तुम मरे नहीं, "**अक्षतमसि**" **अव्ययमति, प्राणसंशितमसि,** अन्तिम उपदेश घोर आंगिरस का छान्दोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण का यही है कि यह अनुभव करो कि तुम्हारे प्राण चोरे जा रहे हैं। निरन्तर अनुभव करता रहे आदमी कि कितना मैं सबका हो करके, सब हो करके कर रहा हूँ। कितना मैं एक छोटा सा अहं होकर के कर रहा हूँ। ये जब तक चिन्तन नहीं होता है तब तक जीवन नहीं होता है और उसके बाद छान्दोग्य-उपनिषद् की टीका है।

श्रोष्यति स अश्रोष्ट—इस प्रकार, निरन्तर व्यक्ति अपना भ्रवन करेगा, अपने को निचोड़ेगा जैसे सोम की लता निचोड़ी जाती है और

श्रीकृष्ण ने अपने को बूँद -वूँद निचोड़ा। अव इस सन्दर्भ में समाज नाम की जो चीज है वह छोटी है।

समाज को सामाजिक सार्थकता की बात क्यों आती है, किस सिद्धान्त से आती है, किस प्रिंसिपल से आती है, इस सिद्धान्त से आती है कि लोग वराबर हैं, वराबरी का सिद्धान्त समता का सिद्धान्त बड़ा ऊँचा सिद्धान्त है। इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन जो समाज ने स्वीकार किया है उसकी कुछ मर्यादाएँ हैं, वह स्वीकार नहीं कर सकता समाज। वह उस विश्व के तादात्म्य को स्वीकार नहीं कर सकता। अखण्डता को वह स्वीकार नहीं कर सकता, सव एक हैं, उसमें द्वैत निहित है, द्वैत मानने की एक लाचारी है, एक विश्वास की लाचारी उसके लिये तो बराबरी का सिद्धान्त बहुत ऊँचा सिद्धान्त है, समाज की दृष्टि से। लेकिन परमार्थ के स्तर पर, परमसत्ता के और द्वैत है दिमाग में और वह नहीं है कि उसका एक छोटा-सा रूप है वही घटित हो रहा है, जो ब्रह्माण्ड में घटित हो रहा है वही पिण्ड में घटित हो रहा है, पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है, ब्रह्माण्ड ही पिण्ड है, अलग नहीं है। यह घटना समानान्तर नहीं होती है, घटना एक ही होती है अभिव्यक्ति अलग है, वहाँ पर समता का सिद्धान्त छोटा सिद्धान्त है। वहाँ तादात्म्य से नीति प्रवर्तित होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में जो कहा गया है कि **शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**- वहाँ सम की व्याख्या की जा सकती है। सभी टीकाकारों ने इसकी व्याख्या की उनके अनुसार— 'सम' का अर्थ बराबर नहीं है, सम का अर्थ है ब्रह्म। एक ही चैतन्य को सबमें प्रवाहित देखना। जो एक देखता है वो पण्डित है, अलग-अलग करके जो लोग देखते हैं, खण्डशः जो लोग देखते हैं, वे तो मृत्यु देखते हैं जो सबकी तरफ से देखता है वही देखता है। असली देखना वही देखना है। इसका उपदेश ब्राह्मणों के यज्ञ व्यापार के नये निर्वचन के रूप में जो छान्दोग्य-उपनिषद् में श्रीकृष्ण के निदर्शन में मिलता है वही भारत का भाव है। भारत देश नहीं है, न इतिहास है देश का, भारत एक भाव ही है। इसीलिये उस भाव को खोजना हो तो

श्रीकृष्ण ऐसे आकार, ऐसे विग्रह में मिलते हैं। उस भाव को पाया जा सकता है। सोलहवीं कला का अर्थ कुछ और होता ही नहीं है। उस कला का नाम है अमृता और अमृता कला होती है। कृष्ण पक्ष की अमावस्या के दिन चन्द्रमा की जो कला है, जो अदृश्य कला है, वह अमृता है अर्थात् अपने को पूरा खपा दे चन्द्रमा देखने में कुछ भी न रह जाय वही तो है उसका अमृत्व है और वही दृष्टि अमृत दृष्टि है, **सर्वभूतेषु एवस्त्रेकम् भावमध्येममीक्षते।** जितनी सत्ताएँ हैं, उनमें एक न चुकने वाला भाव देखना, सत्ता के रूप में तो कोई बात चुकती ही नहीं, कोई पदार्थ चुकता ही नहीं, प्रक्रिया की दशा में सब एक ही प्रवाह की ओर अभिमुख हैं, वह प्रवाह क्या है कि जैसे एक अनन्त महासागर की कल्पना होती है। ये सारी चीजें, सारी नदियाँ जा करके वहाँ भर जाती हैं और अनन्त महासागर शान्त रहता है, उस सबके भावों का एक संचय रहता है। यहीं तक अगर हम मानते श्रीकृष्ण को। तो एक ठहराव की स्थिति आती है। कृष्ण शब्द की जो व्युत्पत्ति महाभारत की एक टीका में की गई है, कृष्णभावाचक शब्द: निवृत्तिवाचक इसमें जो कृष् धातु है उसका अर्थ है--दोनों खेती भी तो होना ही है, बंजर जमीन उपजाऊ जमीन होती है तो होती हो तो है जो रहती है वो नहीं रहती। तो उसका ध्यान करने का अर्थ बनता है कि जो आप हैं वह नहीं रहेंगे आप, अमुक कुल में उत्पन्न हैं, अमुक जाति में उत्पन्न हैं, अमुक क्षेत्र में उत्पन्न हैं, वह आप नहीं रहेंगे, उससे कुछ भिन्न हो जायेंगे भिन्न होने की प्रक्रिया में तो चले ही जायेंगे आप, न हो पायें, धीरे-धीरे हों, लेकिन प्रक्रिया में आप चले जायेंगे, आप वो नहीं रह पायेंगे, जो आप थे। चाहे आप श्रीकृष्ण का ध्यान करें, चाहे श्रीकृष्ण का काव्य पढ़ें। हमारे जैसे लोग तो काव्य ही से सन्तोष कर लेते हैं। काव्य ही से भावान्तर पा जाते हैं, तो वह नहीं रहेंगे। ये तो एक अर्थ है कि अपने को तैयार करना, अपने को योग्य बनाना, पात्र बनाना, बीजवपन के लिये क्षमतायुक्त बनाना। दूसरा भाव है वह बहुत निर्ममता का अंश है, णस्तु निर्वृत्तिवाचक: ण का अर्थ होता है, न का हो रूप है ण, ण का अर्थ

होता है, निषेध। लेकिन न निषेध जब ऊपर आ जाय जब उसका मूर्धन्यीकरण हो जाय, मूर्धा के स्थान से बोला जाय तो ण हो जायेगा। उस स्थान से बोला जाने के कारण वाचक हो जाता है पूर्ण रूप से सारे घेरों के निषेध का और निषेध ही तक बात सीमित नहीं रहती है, उस निषेध से परम सुख मिलता है। सुख कहना ही जरा छोटा शब्द है, सुख लेकिन कोई दूसरा शब्द है नहीं। सुख से उसका अभिव्यंजन नहीं होता है, निवृत्ति वाचक: कोई घेरा नहीं रह जाता। सब घेरों से बाहर निकल करके जो स्थिति हो सकती है, जो एक घेराहीन स्थिति हो सकती है, वहाँ तक पहुँचाने वाला है। तो ये एक तैयारी है और तैयारी के साथ आपको सबसे अलग करना और सबसे तोड़ना ये निर्ममता कृष्ण में है। यह निर्ममता भारत की दृष्टि में भी है। भारत ने यदि उपनिवेश नहीं स्थापित किये, भारत के व्यक्ति ने अगर बाहर जाकर दूसरे लोगों के साथ जुड़ करके संस्कृति का विकास किया, लेकिन भारत से निरन्तर कर लेने-देने का सम्बन्ध नहीं रखा, वहीं खप गये, वहीं आत्मसात्। ये दृष्टि विजय की दृष्टि नहीं, जय की दृष्टि है, उत्कर्ष की दृष्टि है कि अपने को खपा करके अच्छे बनो। किसी में अपने को जज्ब कर दो और अच्छे बन जाओ। यह दृष्टि है जैसे एक अपभ्रंश के दोहे में प्रेम की परिभाषा दी गई कि जैसे नये सकोरे में पानी जज्ब हो जाता है, तो पानी तो नहीं रहता उसमें लेकिन उसी पानी के कारण सकोरे में सलोनी गन्ध आती है, पानी जज्ब होता है, तो उस मिट्टी के पात्र की जो अपनी सहज गन्ध है, सहज सुवास है वो उन्मीलित होती है। बिना पानी के नहीं होती। सकोरा रख दीजिये उसकी गन्ध नहीं आयेगी लेकिन जब पानी उसमें जज्ब हो जायेगा तो एक गन्ध आयेगी तो इस प्रकार अपने को पूर्णरूप से किसी में खपा दें चाहे जातीय चेतना में खपायें, चाहे सामान्य जन के साथ। जोड़कर के काम करने में खपा दें, तो सामान्य व्यक्ति में भी मिट्टी के पात्र में भी सुरभि आ जाती है। एक विलक्षण सुरभि आ जाती है।

श्रीकृष्ण भाव यही भाव है कि अपने साथ इतनी नृशंसता, अपना कोई नहीं और सब अपने, इसी के कारण हम जब सामाजिक

सार्थकता की बात करते हैं तो ये सोचना चाहिये कि जहाँ पर्वत की चिन्ता होती है, पर्वतीय परिवेश के रक्षा की चिन्ता होती है। जहाँ श्रीकृष्ण ने हरिवंश पुराण में यदुवंशियों को पहले समझाया कि देखो तुम लोगों ने तीन पाप किये हैं, इसलिए द्वारिका डूबेगी। तीनों पापों में पहला पाप था कि तुमने जंगल काटे हैं, जंगल काट करके महल खड़े किये हैं। दूसरा पाप था तुमने शक्ति का एक केन्द्र रखा है और वह प्रमाणित है कि वहाँ की जो संस्कृति के अवशेष मिले एक ही माप के बांट मिले हैं। सौ जगह जो खुदाई हुई थी हड़प्पा सभ्यता की तो एक ही माप के बांट मिले अर्थात् केन्द्रीयकरण भयंकर था और तीसरी बात कही कि जो तुम लोगों में ये मद हो गया है कि हम सबसे अधिक ऐश्वर्यशाली हैं, विश्व में—ये तुम लोगों को खा जायेगा। ये भविष्यवाणी हरिवंश पुराण में मिलती है। भविष्यवाणी क्या है, आदमी आज भी देखता है लगभग वैसी ही स्थिति है। आज भी ऐसी भविष्यवाणी, आदमी उस भाव में रहकर कर सकता है और पागल कहा जा सकता है। श्रीकृष्ण ने अपने को सत्य के धरातल पर इतना निर्मम रखा परन्तु जहाँ कहीं जुड़ने की बात हुई, वहाँ कैसे रहे, यह कहने की बात ही नहीं है। श्रीकृष्ण को हटा दीजिये, हिन्दुस्तान के साहित्य से, कला से, संगीत से, जीवन से, तो आपके पास बचेगा क्या? ये सोचना पड़ेगा। कौन-सी चीज आपके पास बचेगी? डॉ० लोहिया बड़ी अच्छी बात कहा करते थे कि राम का चरित्र ऐसा है जिसके पीछे चलने को मन होता है राम आगे हैं तो आश्वासन होता है कि कोई आगे है जो कि राह बतायेगा जिस राह पर चलेगा वह राह अच्छी होगी। शिव को पूजने की इच्छा होती है, ऐसा बौड़म देवता उसके पास अपना कुछ नहीं है सारे संसार का मालिक है। ऐसे आदमी को पूजने की इच्छा करती है और कृष्ण को प्यार करने की इच्छा हो न हो बरबस होती है कि श्रीकृष्ण को प्यार किये बिना काम चलता ही नहीं है। अर्थात् एक ऐसा चरित्र है जिसमें सौन्दर्य, ऐश्वर्य और अकिंचनता इन तीनों का अपूर्व समन्वय है और इसीलिये उनको प्यार करने के लिये आदमी को सबकुछ गँवाना

पड़ता है। सब सत्यानाश करना पड़ता है, सारे नाते-रिश्ते छोड़ने पड़ते हैं। गोपी गीत में कहा गया है श्रीमद्भागवत में दूसरे सारे राग छोटे पड़ जाते हैं, कोई रिश्ता रहता ही नहीं। एक रिश्ता हो जाता है दूसरा रिश्ता रहता ही नहीं और प्यार करने से कष्ट-ही-कष्ट होता है। जो सुख की अनुभूति की बात लोग करते हैं कि श्रीकृष्ण के साथ जो जुड़ेगा, वो बड़ा निश्चिन्त रहेगा, हो नहीं सकता एक क्षण का भी चैन उसे नहीं होगा। श्रीकृष्ण के जो भाव की अन्तिम दशा है, जिसे चैतन्य सम्प्रदाय में महाभाव कहा गया है उससे भी ऊपर की स्थितियाँ हैं, वहाँ चैन नाम की चीज तो है ही नहीं। वहाँ सबसे बड़ी बिड़म्बना यह है कि जिस तत्त्व को स्मरण करने के लिये जन्म-जन्मान्तर तक योगी साधना करते हैं उनका विस्मरण करने के लिये उपाय सोचा जाता है और विस्मरण नहीं होता। चाहते हैं कि श्रीकृष्ण का नाम निकल आये, ऐसे आदमी का नाम लेना ही नहीं चाहिये। गया तो गया, आया ही नहीं, झाँका तक नहीं वृन्दावन में। उसका नाम ही नहीं लेना चाहिये, लेकिन छोड़ा नहीं जाता। कोई क्रिया नहीं है जिसमें श्रीकृष्ण नहीं हैं, इस देह का कोई व्यापार नहीं है जिसमें श्रीकृष्ण नहीं हैं। अध्यात्म—अध्यात्म कोई चीज नहीं होती क्योंकि रसखान ने एक जगह कहा कि दो मन तो मिल जाते हैं, मन का एकीकरण कोई खास बात नहीं है, देह मिल जाये, ऐसी देह मिल जाये कि एक जो पिण्ड शरीर है, ये विराट शरीर से मिल जाये बहुत बड़ी बात है। ये तो शठता है क्योंकि जिस रूप से सत्ता है वह रूप चंचल होता हुआ भी इतना आकर्षक इतना खींचने वाला है कि आदमी खिंच जाता है, प्रयास करने की जरूरत नहीं पड़ती। उस चपलता के कारण खिंचता है तो इतनी दूर चला जाता है, लौटना चाहता है पर लौटने की उसके पास कोई राह नहीं रहती श्रीकृष्ण कोई राह नहीं है, राह के निर्देशक भी नहीं हैं। वह राह बताते हैं और सब राहों का अतिक्रमण बतलाते हैं साथ ही राह बनाने के लिये एक आदमी के भीतर प्रेरणा देते हैं कि अपनी राह तुम खुद हो? किस बिन्दु से तुम शुरू करते हो, उसकी राह तुम बनाओगे, हम क्या

जानें ? हम तो तुम्हें छोड़ देंगे। अपने साथ ले चलेंगे और छोड़ देंगे और ऐसी जगह छोड़ेंगे जहाँ कोई न होगा। छोड़ देंगे, राधा को छोड़ा उन्होंने ले जा करके, कंधे पर चढ़ा करके और छोड़ दिया। अर्जुन को छोड़ा। उद्धव से कहा कि तुम जाओ। उसने कहा कि आपके साथ सेवा करना चाहता हूँ। प्रत्युत्तर में कहा कि नहीं जाओ तुम, तुम्हारी जरूरत नहीं है, तुम्हारी जरूरत है वहाँ जाओ। बद्रिकाश्रम, नरनारायण के साहचर्य का उपदेश करो। अपने सारथी, दारुक को छोड़ा और जब उसने कहा– महाराज, क्या करें हम। कहा, नहीं- जाओ तुम, द्वारिका वालों से कहा कि खाली करें द्वारिका, तुम्हारा काम नहीं है। सबको छोड़ना। अपनी राह बनायें, हम क्यों बतायें। श्रीकृष्ण भाव से जो विद्ध होगा, उसे राह बताने की जरूरत है, जरूरत है ही नहीं। वह तो राह स्वयं है। वह जो चलता है श्रीकृष्ण के पीछे, वह मदान्ध हो जाता है और इसमं कर्म का प्रतिभेद कहाँ होता है, क्योंकि श्रीकृष्ण से आविद्ध होने वाला व्यक्ति कर्म करेगा ही। गोपिका कहीं नहीं आती है। मथुरा तो दो कोस है, लेकिन कोई गोपी मथुरा नहीं गई, क्यों नहीं गई कि प्रत्येक कर्म में कृष्ण बसे हुए थे। भागवत में बड़ा सुन्दर श्लोक है–

या दोहनेऽवहनने मधानोपलेपङ्तङ्खनार्भरुदितो क्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्योधन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः।

(10/44/15)

गाय दुहती हैं, मूसल से धान कूटती है, दही मथती हैं मक्खन निकालने के लिये, घर लीपती हैं, झूले पर झूलती हैं, बच्चा रोता है उसको चुप कराती हैं, उसको उबटन लगाती हैं, कोई भी काम करती हैं तो प्रत्येक कर्म में, प्रत्येक कर्म करते हुए और बड़ी कुशलता के साथ करती हैं कि सबेरे चार बजे उठ करके उनका जो क्रम है वह टूटता नहीं, उद्धव गये नन्द के साथ सारी रात बातचीत करते रहे और सबेरे उनकी नींद नहीं खुली और सबरे उन्हें मालूम कैसे हुआ कि दही के मथे जाने का और उस मन्थन के साथ गोपियों के द्वारा गाये गये श्रीकृष्ण लीला का जब स्वर उनके कानों में पड़ा तो कहा कि भोर हो गई और सभी दिशाओं का

मंगल उस गीत से मन्थन की उस ध्वनि से हुआ तो, काम में कुशलता इस कारण आती है कि सारा काम तो उनके लिये है कि घर लीपा जायेगा वो आयेंगे, दधि मथा जा रहा है तो मक्खन तो उनके लिये है। ये चावल तैयार किया जा रहा है सब उनके लिये है। समष्टि रूप से कृष्ण के लिये सारा निवेदित है, इस कार्य में आयाम कहाँ है, इस कार्य में क्लेश कहाँ है और इस कार्य का प्रतिरोध कैसे करें। उनके लिये करना ही है, सारा जीवन वही है, ये श्रीकृष्णमय जीवन है इसको तो बिताना है। प्रत्येक कर्मकाण्ड को करते हुए और विधिपूर्वक करते हुए, यथासमय करते हुए चलना है। प्रतिषेध नहीं है जैसा कि लोग सोच लेते हैं। वन्दनीय जन होंगे जिन्होंने अर्थ लगाया है कि कर्म का प्रतिरोध हो जाता है, लेकिन श्रीकृष्ण का प्यार, कर्म को लीला के रूप में परिवर्तित करने वाला प्यार है, कर्म उनकी लीला का एक अंश हो जाता है इसीलिये कर्म में आस्वाद आ जाता है। प्रत्येक क्रिया इतनी अधिक पूर्ण होती है, उसमें अधूरापन नहीं रहता चाहे वह चित्र बनाना हो, चाहे साँझी बनाना हो, चाहे घर का कोई काम हो। कोई चीज अगर सम्पन्न होगी तो उसमें श्रीकृष्ण भाव पीछे रहेगा और इसलिये वह कर्म अधिक सार्थक होगा और इसीलिये केवल मनुष्य की सेवा तो छोटी बात है, मनुष्य-मनुष्य बराबर है, मनुष्य के समाज तक अपने को सीमित रखना तो छोटी बात है। समग्र जो जीवन है, जिसमें पशु-पक्षी, पेड़-पर्वत सभी हैं उन सब में देवताओं से ऊपरी भाव देखते हुए, बछड़े के रूप में श्रीकृष्ण होते हैं, गोपाल के रूप में श्रीकृष्ण होते हैं, उसका अर्थ ही यही है। पहचान कि समष्टि चेतना इतनी सामान्य में बिखरी हुई है, उसकी पहचान सबको हो जाय। वह पहचान भारतवर्ष में सबसे सटीक प्यार की पहचान है कि वह पहचान सामान्य जीवन अत्यन्त अनपढ़ जीवन में भी एक समष्टि भाव देखने वाली पहचान है। जब श्रीकृष्ण इन लोगों के समक्ष जिस तरह की बात करते हैं, जिस प्रकार का व्यवहार करते हैं यह लगता है, यह अलग-अलग हैं। इन चीजों को अलग-अलग करके देखें कि यह लगता है, एक कृष्ण अमुक

हैं, एक गोपाल कृष्ण हैं जैसा इतिहासकारों ने कहा एक यदुवीर कृष्ण हैं, नर-नारायण हैं तो आपको लगेगा कि अमुक समय में इस प्रकार की अवधारणा थी और सभी अवधारणाएँ इकट्ठी होती गईं, तालमेल होता गया तो कृष्ण का ये रूप नवमी, दशमी शताब्दी में आ गया। देखने का एक तरीका है और कुछ चीजों के समझने में सहायक भी होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। लेकिन पूरे जीवन को भारतवर्ष को समझने में बाधक भी होता है। इस दृष्टि से सीमित है। उस इतिहास पुरुष की खोज एक सीमित उद्देश्य से नहीं होनी चाहिये। ठीक है मूर्तियों में कब की मूर्ति है, कला के क्रमिक विकास की पहचान होनी चाहिए परन्तु जो अखण्ड रूप में जातीय चेतना के, जातीय स्मृति में जो चीज है, उसकी अवहेलना नहीं होनी चाहिए। इतिहास के इतने आक्रामक बोध के कारण जो उसकी अवहेलना हम अपने जीवन में करते हैं, जिसके कारण यह कहते हुए हमें संकोच होता है कि भई, श्रीकृष्ण की यह जो लीला थी, वह आध्यात्मिक लीला थी, भौतिक लीला नहीं थी और वे पाँच वर्ष के थे। जो क्षमा-याचना का स्वर आता है ये गलत स्वर है, जब सम्पूर्णता हमारे भीतर होगी तो ये क्षमा-याचना का स्वर नहीं आयेगा। जैसा गीता प्रेस की भागवत की एक टीका से मिलता है। करपात्री जी ने उसकी व्याख्या की है, ऐन्द्रिय अर्थ है। अगर माखन खाये और उसमें स्वाद न आये तो माखन काहे का। सामान्य जीवन जीना है। सम्पूर्णता आई है उस प्रकार के समस्त जीवन से गुजर करके; और सबके आस्वाद का अतिक्रमण करके। यह शक्ति आयी है, यह क्षमता आई है कि सबके मोह से, सबके बन्धन से ऊपर उठ जाएँ। यहाँ तक कि मुक्ति भी तो बन्धन ही है। अजीब बन्धन है वह कि मुक्त हो गये। कुछ कर ही नहीं सकते, जड़ हो गये। ये जड़ता भी तो बन्धन है। समुद्र हो गये अजीब बन्धन है, सुख की अनन्त राशि होकर क्या करेंगे। तो उसमें आनन्द नहीं है। परब्रह्म होकर क्या करेंगे, अगर व्यष्टि के लिए मन के भीतर हूक नहीं उठेगी। उन्होंने सुदामा से कहा कि मित्र तुम्हें याद है उस घनेरी रात में अंधेरी रात में हम-तुम पेड़ के

ऊपर चढ़े थे, लकड़ी तोड़ने गये थे। राह नहीं दीख रही थी, एक दूसरे का हाथ पकड़े हम सारी रात को नकारते रहे, अन्धकार को नकारते रहे। साधारण आदमी के साथ जुड़ करके, उस वर्षा की रात का चित्र श्रीकृष्ण ने खींचा। ये क्या सूचित करता है, सूचित करता है कि वह ऐसे विराट का अकेलापन ही तो दु:सह होता है विराट होकर करेंगे क्या ? विकल हो जो कहीं अंधेरे में पुकार रहा है। उसके लिये विकल है, वह विकलता आती है तब उनमें पूर्णता आती है। वह पंचदश कलात्मक नहीं कहते षोडश कलात्मक हो जाते हैं, कि उनके भीतर बेचैनी है। इसीलिये मैं, कभी-कभी कहता हूँ कि श्रीकृष्ण युग, हमारा किशोर युग है। प्रौढ़ युग नहीं है प्रौढ़ावस्था नहीं है। राधा युग हमारी चेतना की प्रौढ़ावस्था है और यह मैं इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि राधा की भूमि में राधा की चापलूसी कर रहा हूँ। रहीम ने कहा है कि बिन्दु-सिन्धु में मिलना चाहती है इसमें तो कोई अचरज नहीं होता है, लेकिन सिन्धु-बिन्दु में खो जाती है यह अचरज की बात है तो इस ब्रजभूमि में जिस प्रगाढ़ भावना का साहित्य का, साधना का विकास हुआ उसमें श्रीकृष्ण भाव का राधा के रस के रूप में परिवर्तन हुआ और यही इस भारतीय चिन्तन की एक सबसे उत्कृष्ट चीज है, जो सबका अतिक्रमण करके मजहब या जातियों का अतिक्रमण करके हुआ। नहीं तो रहीम और रसखान तो मुसलमान ही जन्मे, मुसलमान ही गाढ़े गये, हिन्दू तो नहीं हुए पर बिना हिन्दू हुए श्रीकृष्ण के हुए। यह सम्भव हुआ है, इस प्रकार के प्रौढ़ चिन्तन से, प्रौढ़ भावना या चिन्तन से जिसमें जीवन का प्रतिरोध नहीं है जीवन का एक रसमय रूपान्तर है। मैं समझता हूँ कि ये कुछ बातें ऐसी हैं, उनको ध्यान में रखकर के कला के और स्थापत्य के क्षेत्र में चर्चा करें तो आप बराबर पायेंगे, श्रीकृष्ण लीला की जब-जब बात करते हैं, अलौकिकता छोटी हो जाती है, लौकिकता बड़ी हो जाती है। तो लौकिक पदार्थ की विशेषता बड़ी करने के लिये श्रीकृष्ण भाव की आप चर्चा करें, तो आपको असमंजस नहीं लगेगा। क्षमा-याचना करने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

श्रीकृष्ण का लीला विस्तार

❀ डॉ० प्रभुदयाल मीतल

श्रीकृष्ण के जन्म की पृष्ठभूमि—भारतवासियों की यह परम्परागत मान्यता रही है कि जब-जब इस भूतल पर धर्म की क्षति और अधर्म की वृद्धि होने पर सदाचारियों का दमन और अनाचारियों का संरक्षण होता है, तब-तब भगवान् जन्म धारण करते हैं। वे सज्जनों को संरक्षण प्रदान कर और दुर्जनों का ध्वंश कर धर्म की स्थापना करते हैं तथा अधर्म का विनाश करते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति सभी युगों में कई बार हो चुकी है, अत: भगवान् के भी कई अवतार हुए हैं। इसी बात को श्रीमद्भगवतगीता के अध्याय ४ श्लोक ८ में इस प्रकार कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। (४-८)

द्वापर युग के उत्तरार्ध में भी वैसी ही अशोभनीय स्थिति उत्पन्न हो गई थी। तब कंस और शिशुपाल, दुर्योधन एवं दु:शासन जैसे अधर्मी राजाओं ने इस भूतल पर मदांध होकर घोर अन्याय और भीषण उत्पात मचा दिया था। उन्होंने धर्मपरायण नर-नारियों पर बड़े अत्याचार किये थे और दुष्ट प्रवृत्ति के व्यक्तियों को आश्रय प्रदान किया था। उस समय ज्ञानी महापुरुष एवं अनुभवी वयोवृद्ध वाणी कुण्ठित करने को विवश हो गये थे।

वह परिस्थिति भगवान् के अवतार धारण करने के लिये पूर्णतया उपयुक्त थी। फलत: श्रीकृष्ण ने अवतरित होकर अबोधावस्था से

वृद्धावस्था तक अधर्म के विनाश और धर्म के पुन: स्थापन के युगान्तरकारी कार्य किये थे। उन्होंने पूतना, शकटासुर, यमलार्जुन वध जैसे अद्‌भुत कार्यों को अपनी अबोधावस्था में ही करके, अपने को अवतारी दिव्यात्मा सिद्ध कर दिया था। फिर मथुरा और द्वारका में उन्होंने जो अलौकिक कृत्य किये थे, उनके कारण किसी को भी उनके अवतारी दिव्य पुरुष होने में संदेह नहीं रहा था। महाभारत के विनाशकारी भीषण युद्ध में उन्होंने बिना शस्त्र धारण किये ही पाण्डवों के द्वारा अन्यायी कौरवों और उनके साथी समस्त अत्याचारी राजाओं का संहार करा दिया था। पहले लिखा जा चुका है कि श्रीकृष्ण द्वापर युग के उत्तरार्ध में विद्यमान थे, किन्तु उनके निश्चित काल का निर्णय आवश्यक है।

श्रीकृष्ण के काल का निर्णय—भगवान श्रीकृष्ण किस काल में विद्यमान थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। पश्चिमी मान्यताओं के समर्थक कतिपय देशी-विदेशी विद्वान श्रीकृष्ण-काल को 3500 वर्ष के लगभग मानते हैं, जबकि भारतीय मान्यता के अनुसार वह 5000 वर्ष से भी कुछ अधिक प्राचीन है। यह मान्यता कोरी कल्पना अथवा किंवदंती पर आधारित नहीं हैं, वरन् इसका वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक आधार है। इसकी पुष्टि ज्योतिष एवं पुरातत्व प्रमाणों से होती है; जिनका विवरण यहाँ लिखा जाता है।

ज्योतिष का प्रमाण—संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थों में कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जो श्रीकृष्ण-काल का निर्णय करने में सहायक होते हैं। ''शत्पथ ब्राह्मण'' और ''मैत्रायिणी उपनिषद्'' के ''कृत्तिका स्वादधीत'' उल्लेख से तत्कालीन खगोल स्थिति की गणना कर ट्रेनिंग कालेज पूना के गणित-प्राध्यापक स्व० शंकर बालकृष्ण दीक्षित महोदय ने 'शतपथ ब्राह्मण' को ईसवी सन् से 3000 वर्ष पूर्व का और 'मैत्रायिणी उपनिषद्' को ईसवीं सन् से 1900 वर्ष पूर्व का माना है। (छान्दोग्य उपनिषद्, प्रथम भाग, तृतीय खण्ड, पृष्ठ 17)।

मैत्रायिणी उपनिषद् सर्वाधिक परवर्ती उपनिषद् कहा जाता है

और इसमें 'छान्दोग्य उपनिषद्' के अवतरण मिलते हैं। इसलिए 'छान्दोग्य' 'मैत्रायिणी' से पूर्व का उपनिषद् एक ही काल की रचनाएँ हैं; अत: 'छान्दोग्य' का काल भी ईसवी सन् से 3000 वर्ष पूर्व का हुआ। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में देवकी पुत्र कृष्ण का उल्लेख मिलता है। ('आकाश के तारे') भारतीय ज्योतिष शास्त्र (पृष्ठ 34)। देवकी पुत्र विशेषण के कारण उक्त उल्लेख के कृष्ण स्पष्ट रूप से वृष्णि वंश के वासुदेव कृष्ण हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण की विद्यमानता का काल ईसवी सन् 3000 वर्ष पूर्व अर्थात् अब से प्राय: 5000 वर्ष पूर्व का ज्ञात होता है।

आकाश स्थित नक्षत्रों के आधार पर गणना करके अन्य प्रकार से भी कृष्ण काल का निर्णय किया गया है। परीक्षित के समय में सप्तर्षि मघा नक्षत्र पर थे, जैसा श्री शुकदेव जी द्वारा परीक्षित से कहे हुए वचन से ज्ञात होता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार सप्तर्षि एक नक्षत्र पर 100 वर्ष तक रहते हैं। आजकल सप्तर्षि कृत्तिका नक्षत्र पर हैं, जो मघा से 21वाँ नक्षत्र है। इस प्रकार मघा के कृत्तिका पर आने में 2100 वर्ष लगे हैं। किन्तु यह 2100 वर्ष का समय महाभारत का काल कदापि नहीं है। इससे यह मानना होगा कि मघा से आरम्भ कर 27 नक्षत्रों का एक चक्र पूरा हो गया था और दूसरे चक्र में ही सप्तर्षि उस काल में मघा पर आये थे। इस प्रकार पहले चक्र के 2700 वर्ष और दूसरे चक्र के 2100 वर्ष जोड़ने से 4800 वर्ष हुए। यह काल परीक्षित की विद्यमानता का हुआ। परीक्षित के पितामह अर्जुन थे, जो आयु में श्रीकृष्ण से 18 वर्ष छोटे थे। इस प्रकार ज्योतिष की उक्त गणना के अनुसार श्रीकृष्ण की विद्यमानता का काल अब से प्राय: 5000 वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है। इससे हमारे पूर्व कथन की पुष्टि होती है।

श्रीकृष्ण द्वापर युग के अन्त तक कलियुग के आरम्भ के सन्धि काल में विद्यमान थे। भारतीय ज्योतिषियों के मतानुसार कलियुग का आरम्भ शक संवत् 3180 वर्ष पूर्व श्री चैत्र शुक्ला को हुआ था। आज कल शक संवत् 1900 तक रहा कलियुग के आरम्भ के 6 वर्ष पूर्व की

मार्गशीर्ष शुक्ला 14 को महाभारत युद्ध का आरम्भ हुआ था, जो 18 दिनों तक चला था। उस समय श्रीकृष्ण की आयु 81 वर्ष की थी। उनका तिरोधान 119 वर्ष की आयु में हुआ था। इस प्रकार भारतीय मान्यता के अनुसार श्रीकृष्ण की विद्यमानता का काल शक संवत् पूर्व 3265 की भाद्रपद कृ. 8 बुधवार से शक संवत् पूर्व 3144 वर्ष तक है।

भारत के विख्यात् ज्योतिषी वराहमिहिर, आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त आदि की भी यही मान्यता है।

पुरातत्त्व का प्रमाण—श्रीकृष्ण-काल की भारतीय मान्यता का समर्थन पुरातत्त्व के प्रमाण से भी होता है। पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि अब से प्राय: 5000 वर्ष पूर्व प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित हुआ था। उस समय समुद्र में भीषण तूफान आया था और भयंकर आँधी-तूफानों ने वातावरण को झकझोर दिया था। उसके फलस्वरूप नदियों के प्रवाह पलट गये थे और अनेक स्थानों पर ज्वालामुखी पर्वत फूट पड़े थे तथा पहाड़ों के टूटे हुए भाग जहाँ-तहाँ बिखर गये थे। हजारों-लाखों प्राणियों की असामयिक मृत्यु हो गयी थी। वह अभूतपूर्व दैवी दुर्घटना वर्तमान इराक, ईरान, यूनान से लेकर वर्तमान मैक्सिको के विशाल भू-भाग में घटित हुई थी, जिसका काल अब से प्राय: 5000 वर्ष पूर्व का माना गया है।

भारत के प्राचीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उसी प्रकार की दैवी दुर्घटनाएँ महाभारत युद्ध के पश्चात् द्वारका और उसी अक्षांश पर स्थित अन्य देशों में भी हुई थी। उनके कारण द्वारका का विशाल राज्य समुद्र के गर्भ में समा गया था और अन्य देशों में भी विनाश लीलाएँ हुई थीं। पाठक जानते हैं कि उस समय श्रीकृष्ण विद्यमान थे, अतएव उनका काल अब से 5000 वर्ष पूर्व का प्रमाणित होता है।

इतिहास का प्रमाण—ज्योतिष और पुरातत्त्व के अतिरिक्त इतिहास से भी कृष्ण-काल विषयक भारतीय मान्यताओं की पुष्टि होती है। यवन-नरेश सिल्युकस ने भारत के महाराजा चन्द्रगुप्त के दरबार में

मैगस्थनीज नामक अपने राजदूत को भेजा था। मैगस्थनीज ने अपने तत्कालीन संस्मरणों को एक ग्रन्थ में लिखा था। इस समय वह मूल ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है किन्तु उसके जो अंश एरियन आदि यवन लेखकों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये थे, वे अब भी मिलते हैं। उन लेखकों के अनुसार मैगस्थनीज ने लिखा था—"मथुरा में शूरसेनी लोगों का निवास है। वे लोग हरिकुलीज (हरे कृष्ण) की उपासना-पूजा बड़ी निष्ठापूर्वक करते हैं।" उन्होंने लिखा है, हरिकुलीज (हरे कृष्ण) से चन्द्रगुप्त 138 पीढ़ी पश्चात् हुए थे। यदि एक पीढ़ी 20 व्रर्षों की मानी जाय, तब 2760 वर्ष का अन्तर श्रीकृष्ण और चन्द्रगुप्त के समय में हुआ। चन्द्रगुप्त का काल ईसवीं सन् 326 पूर्व का माना जाता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण की विद्यमानता का काल अब से 2760 + 326 = 3086 + 1989 = 5075 वर्ष पूर्व का हुआ, जो भारतीय मान्यता की पुष्टि करता है। इस प्रकार पश्चिमी मान्यता के समर्थक जो देशी-विदेशी विद्वान श्रीकृष्ण-काल को केवल 3500 वर्ष पूर्व का मानते हैं, वे बड़ी भारी भूल कर रहे हैं। कारण यह है कि कृष्ण-काल 5000 वर्ष से कम प्राचीन नहीं है, जैसा कि ज्योतिष, पुरातत्त्व और इतिहास के प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है। पश्चिमी मान्यता के समर्थकों को अंतत: अपनी भूल सुधारनी ही होगी।

श्रीकृष्ण-चरित्र के विविध स्त्रोत—प्राचीनतम संस्कृत साहित्य श्रीकृष्ण चरित्र का आदिम स्त्रोत संस्कृत का प्राचीनतम साहित्य है, यद्यपि उसमें तत्सम्बन्धी सूक्ष्म विवरण ही उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ, वैदिक संहिताओं के अनन्तर आरण्यकों, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और पाणिनीय सूत्रों में श्रीकृष्ण का थोड़ा ही उल्लेख मिलता है। यही स्थिति जैन और बौद्ध धर्मों के साहित्य की भी है।

अवैदिक धर्मों में जैन धर्म सर्वाधिक प्राचीन है। इसमें 24 तीर्थंकरों की प्राचीनतम मान्यता रही है। उनमें श्रीकृष्ण को 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ जी का चचेरा भाई बतलाया गया है। बस इतना ही उल्लेख जैन धर्म के

प्राचीनतम साहित्य में श्रीकृष्ण का मिलता है।

बौद्ध धर्म के प्राचीन साहित्य में 'जातक' कथाओं को अत्यन्त प्राचीन माना गया है। 'घट जातक' में श्रीकृष्ण का कुछ विवरण उपलब्ध है।

श्रीकृष्ण-चरित्र के प्रमुख ग्रन्थ—यद्यपि उपर्युक्त वैदिक और अवैदिक साहित्य में श्रीकृष्ण-चरित्र का कथन हुआ है, किन्तु इसके प्रमुख ग्रन्थ निम्नांकित हैं—जो संस्कृत भाषा के हैं—

1. महाभारत, 2. हरिवंश, 3. विविध पुराण, 4. गोपाल तापनी उपनिषद और गर्ग संहिता।

इन्हें श्रीकृष्ण-चरित्र के प्रधान स्रोत कहा जा सकता है। यहाँ इनमें वर्णित श्रीकृष्ण-चरित्र का संक्षिप्त विवरण लिखा जाता है—

महाभारत—यह संस्कृत साहित्य का सुविख्यात ग्रन्थ है, जो आकार में भी विशाल है। इसमें 18 पर्व, 1923 अध्याय तथा 84244 श्लोक हैं। प्रमुख रूप से इसमें कौरव-पाण्डवों की कथा वर्णित है; किन्तु प्रसंगवश इसमें श्रीकृष्ण के उत्तर जीवन का वर्णन किया है, पूर्व जीवन का नहीं। इस प्रकार इस विशाल ग्रन्थ में श्रीकृष्ण के अधूरे चरित्र का कथन हुआ है। इसी ग्रन्थ के अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता है, जो श्रीकृष्ण के अनुपम आध्यात्मिक ज्ञान का परिचायक है। इसमें मोहान्ध अर्जुन को कर्म करने का उपदेश दिया गया है।

हरिवंश—इसमें श्रीकृष्ण के पूर्व चरित्र का कथन है। इस प्रकार इसके द्वारा महाभारत में वर्णित श्रीकृष्ण के अधूरे जीवन-वृत्त को पूरा करने का प्रयत्न किया गया है। इसे महाभारत का 'ख' अर्थात् परिशिष्ट कहा जाता है। हरिवंश और महाभारत के सम्मिलित अध्ययन से श्रीकृष्ण के पूर्ण चरित्र का परिज्ञान हो जाता है।

विविध पुराण—पुराण 18 हैं, जिनमें से 10 पुराणों में श्रीकृष्ण का थोड़ा या अधिक चरित्र वर्णित है। उनमें से 'भागवत पुराण' में सर्वाधिक और 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में उससे कुछ कम श्रीकृष्ण के चरित्र

का कथन दिया गया है। इसका संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

श्रीमद्भागवत पुराण—इसमें 12 स्कन्ध हैं, जिनमें से 10वें स्कन्ध में श्रीकृष्ण का आद्योपान्त चरित्र वर्णित है। यह अत्यन्त प्रसिद्ध पुराण है, जिसकी कथा धार्मिक व्यक्तियों में प्राय: होती रहती है। उसका रचना काल विक्रम की छठी शती के लगभग माना जाता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण—इसकी यह विशेषता है कि इसमें श्रीकृष्ण के साथ राधा जी का कथन सर्वप्रथम किया गया है। इसका रचनाकाल 16वीं शती के लगभग बताया जाता है। इस प्रकार यह परवर्ती पुराण है। इसकी रचना किस महानुभाव ने की, इसे निश्चयपूर्वक बतलाना सम्भव नहीं है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस पुराण का रचयिता कोई अज्ञातनामा गौड़ीय विद्वान था।

पुराणोत्तर ग्रन्थ—पुराणों के अतिरिक्त जिन प्राचीन ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के चरित्र का कथन किया गया है, उनमें गोपालतापनी उपनिषद् और 'गर्ग संहिता' प्रमुख हैं। यहाँ इनका विवरण लिखा जाता है—

'गोपालतापनी' उपनिषद्—यह कृष्णोपासना से सम्बन्धित एक आध्यात्मिक रचना है। इसके 'पूर्व' और 'उत्तर' नामक दो भाग हैं। यह रचना 'सूत्र' शैली की है, अत: कृष्णोपासना के परवर्ती ग्रन्थों में यह प्राचीन जान पड़ती है। गर्ग संहिता के 'गोलोक खण्ड' में गोलोक धाम का बड़ा अद्भुत वर्णन हुआ है। वहाँ गोवर्धन, कालिन्दी नदी, वृन्दावन, रासमण्डप, वंशीवट आदि दिव्य रूप में विद्यमान हैं। वहाँ गोपियों से घिरे हुए श्रीराधा-कृष्ण भी विराजमान हैं। उसी समय दुष्टों के भार से दबी हुई पृथ्वी गो रूप में देवताओं के साथ वहाँ उपस्थित होती है। उन्होंने अपनी व्यथा का वर्णन श्रीकृष्ण को सुनाया और उनसे त्राण पाने की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—"वे पृथ्वी पर अवतार लेकर उनके कष्ट का निवारण करेंगे। जब श्रीराधा जी ने श्रीकृष्ण के वे वचन सुने, तब वे वियोग की आशंका से अत्यन्त त्रसित हुईं। इस पर श्रीकृष्ण ने उनसे अवतार धारण करने को कहा। फलत: श्रीकृष्ण और राधा जी का

पृथ्वी पर अवतार हुआ। वे अपने परिकर सहित ब्रज में अवतरित हुए। उसी खण्ड में कंस के जन्म और उसकी दिग्विजय का वर्णन हुआ है।

तदनन्तर बलदेव, कृष्ण और राधा के जन्मोत्सव का कथन है। फिर उनकी वात्सल्य लीलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन है। उसके बाद के अन्य खण्डों में मथुरा और द्वारका में की गई लीलाएँ वर्णित हैं।

इसके 'विश्वजित खण्ड' में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न की दिग्विजय का विस्तारपूर्वक कथन किया गया है।.इसके अन्तिम 'विज्ञान खण्ड' में भक्तिमार्ग और पूजन-अर्चन का विवेचन है।

इस ग्रन्थ के गोलोक खण्ड पर 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' का पर्याप्त प्रभाव दिखलाई देता है। उसी की तरह इसमें गोलोक का अद्‌भुत वर्णन हुआ है और उसी की तरह इसमें भी रहस्यपूर्ण ढंग से राधा-कृष्ण का प्रथम मिलन और ब्रह्मा जी द्वारा उनका विवाह कराये जाने का कथन किया गया है।

इस ग्रन्थ के मथुरा खण्ड में श्रीकृष्ण का बलराम जी के साथ मथुरा जाना, कंस का वध करना और मथुरा में अन्य लीलाएँ करना अन्य पुराणों की ही भाँति हैं। किन्तु उद्धव की प्रार्थना पर श्रीकृष्ण मथुरा से पुनः नन्दग्राम गये थे। वहाँ सबसे मिलकर उन्हें आनन्दित किया, राधा को सुख दिया और कार्तिक की पूर्णमासी को ब्रज-बालाओं के साथ रास किया। फिर कुछ दिन वहाँ रहकर पुनः मथुरा को वापिस आ गये और वहाँ से द्वारका चले गये। इस प्रकार का उल्लेख अन्य पुराणों में नहीं मिलता है। इसी प्रकार की कई विशेषताओं के कारण कृष्ण-चरित्र के परवर्ती ग्रन्थों में 'गर्ग संहिता' का विशिष्ट स्थान है।

●●

महाभारत के कृष्ण

❀ डॉ० रघुवीर शास्त्री

महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास का महाभारत भारत की राष्ट्रीय ज्ञान-संहिता है। उत्तर में भारतभूमि का मणिमुकुट देवात्मा हिमालय और दक्षिण में इसके चरण पखारता समुद्र जैसे दोनों ही रत्नाकर हैं। उसी प्रकार यह पंचम वेद महाभारत भारतवर्ष की सम्पूर्ण वैदिक और लौकिक संस्कृति की सम्पदा का आकर-ग्रन्थ है। भारतीय राजनीति, अध्यात्म-शास्त्र, समाज-विज्ञान, मानव-जीवन, धर्म, दर्शन एवं संस्कृति सभी के ताने-बाने से ओतप्रोत यह इतिहास-ग्रन्थ पुराण भी है और उपनिषद् भी। सनातन सत्य, ऋत, धर्म तथा शाश्वत ब्रह्म के साक्षात् अवतार भगवान वासुदेव श्रीकृष्ण की महिमा का कीर्तन ही मानो महाभारतकार का परम उद्देश्य है। श्रीकृष्ण ही महाभारत कथा के कथ्य हैं, ध्रुव हैं, धुरी भी और धुरन्धर भी। आदिपर्व में स्वयं व्यास जी द्वारा रचित अनुक्रमणी के दूसरे श्लोक में कहा गया है कि "युधिष्ठिर-रूपी धर्म भव्य महावृक्ष है। अर्जुन उसका तना है। भीमसेन उसकी शाखाएँ तथा नकुल-सहदेव उसके फल-फूल हैं। उसे रस से सींचने वाली जड़ का नाम श्रीकृष्ण है।" महाभारत के श्रीकृष्ण नारायण भी हैं और नर भी। पांचरात्रों और भागवतों का सिद्धान्त "**नारायणी नरश्चैव तत्वमेकं द्विधा कृतम्**" अनेक प्रसंगों में श्रीकृष्ण के वर्णनों में विराट्-कल्पना के रूप में उभरता अवश्य है, परन्तु महाभारत के मर्मज्ञ विद्वानों की यह धारणा है कि भारत संहिता के वासुदेव श्रीकृष्ण नारायण की अपेक्षा नर ही अधिक हैं।

सभापर्व (अध्याय 38) में भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण को वेद-वेदांगों के प्रकाण्ड विद्वान तथा क्षात्र-बल में सर्वाधिक कहा है। वे कहते

हैं कि दानशीलता, चतुरता, शूरता, लज्जाशीलता, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनम्रता, श्री, धैर्य, सन्तोष और समृद्धि (पुष्टि)-ये सभी बातें श्रीकृष्ण में विद्यमान हैं। अत: लोक-सम्मत आचार्य, रक्षक और पूजनीय एवं अर्घ्य-योग्य श्रीकृष्ण का सर्वोच्च सम्मान सर्वथा उचित है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण ने स्वयं ब्राह्मणों के चरण धोने का कार्य स्वीकार किया तथा युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह के आदेश के अनुसार ऋत्विक, आचार्य एवं राजा के लक्षणों से युक्त होने के आधार पर श्रीकृष्ण को ही सर्वप्रथम अर्घ्य देकर अध्यक्षता स्वीकार करने की प्रार्थना की।

दूरद्रष्टा संजय ने गीता के अन्तिम अध्याय में (भीष्म पर्व अ० 40) धृतराष्ट्र से कहा कि "जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं वहीं समृद्धि (श्री), ऐश्वर्य (भूति) और विजय तथा अचल नीति है।" श्रीकृष्ण ने स्वयं जरासंध के वध के लिये प्रस्थान करने से पहले युधिष्ठिर से कहा कि सैकड़ों राजाओं को कारागार में बन्दी बनाने वाले निरंकुश राजा जरासंध के रहते तुम राजसूय यज्ञ सम्पन्न नहीं कर सकते। जैसे यज्ञ तीन अग्नियों से सम्पन्न होता है वैसे ही मेरी नीति, भीम का बल और अर्जुन का रक्षाकार्य—इन तीनों से अत्याचारी जरासंध मारा जा सकेगा। इन प्रसंगों से यह स्पष्ट है कि महाभारतकार ने श्रीकृष्ण को योगेश्वर, नीतिकुशल, राजनीतिज्ञ, महाबली योद्धा, धर्मनिष्ठ बुद्धि वाले, विनयशील, धीर-वीर, नीतिज्ञ महापुरुष, स्वजनों के रक्षक और सखा के रूप में पूर्ण मानवीय चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया है। शान्तिपर्व में महाभारतकार ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य ही ज्ञान और विज्ञान का मध्य बिन्दु है, "मैं तुमसे यह रहस्य बतलाता हूँ कि इस लोक में मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ कुछ नहीं है।" **(गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।)** इस प्रकार नारायणी महिमा किस प्रकार नर-रूप में चरितार्थ होती है। इसका सांगोपांग निरूपण श्रीकृष्ण के चरित्र और लीलाओं के माध्यम से किया गया है।

अनेक असुरों का विनाश करने वाले, कालिय के सहस्र फनों

पर नर्तन करने वाले गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण महाभारत के चरितनायक हैं। सम्पूर्ण महाभारत की कथा और उसके कथ्य का सार दो वर्णों के एक पद में समाहित है और वह शब्द है धर्म। महाभारत धर्म संहिता है। महाभारत का अन्तिम व वरेण्य स्वर-वाक्य यह श्लोक है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्, धर्म त्यजेज्जीवितस्थानिहेतो:।
नित्यो धर्म:सुखदु:खेत्वनित्ये नित्योजीवो धातुरस्यत्वनित्य:।।

अर्थात् न तो कदाचित् कामवश होके, न ही किसी भय से और न ही किसी लोभ से (और तो क्या) प्राणों के हेतु भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये। धर्म ही नित्य एवं शाश्वत है, सुख और दु:ख तो अनित्य एवं क्षणिक हैं। जीव नित्य है और शरीर (धातु) अनित्य एवं नश्वर है। (स्वर्गारोहण 5/64)।

महाभारत अतिप्राचीन धर्मशास्त्र है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, शुक्र, बृहस्पति आदि अनेक धर्मशास्त्रकारों के हजारों श्लोक इसमें विद्यमान हैं। यह त्रिवर्ग शास्त्र भी है किन्तु धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग या मानव जीवन के चरम लक्ष्यों का सम्पादन धर्म से ही करना वेदव्यास को अभिप्रेत है।

''त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलं नरेन्द्र राज्यं वेदं धर्ममूलं वदन्ति।''

(वनपर्व 4/4)

इस प्रकार मानव जीवन के महत्वपूर्ण चरम उद्देश्यों की प्राप्ति, प्राणिमात्र की एवं प्रजा तथा राज्य एवं राष्ट्र की रक्षा एवं धारण के लिये धर्म की रक्षा करना अनिवार्य है क्योंकि रक्षा किया गया धर्म ही व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की रक्षा करता है और धर्म की हत्या से सबका विनाश होता है। धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश के लिये, साधुओं की सम्पूर्ण रक्षा और दुराचारी धर्म विरोधी तत्त्वों के विनाश के लिये स्वयं नारायण का नर रूप में जन्म (सम्भव) होता है। **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म संस्थापनार्थाय संभवामे युगे युगे॥'** (गीता 4/8) ऐसे ही विभिन्न प्रसंगों में श्रीकृष्ण के जीवन की लीलाओं

तथा अत्याचारी असुरों के विनाश के लिये किये गये उनके पराक्रमों का उल्लेख किया गया है। बचपन में उन्होंने पूतना का वध किया, गौओं और ब्रजजन की रक्षा के लिये गोवर्धन धारण किया, अरिष्ट, धेनुक, अश्वराज, केशी और मथुरा में महाबली चाणूर, मुष्टिक को मारा, कंस का वध करके महाराज उग्रसेन को राज्य सौंपा। वसुदेव और देवकी को मुक्त किया। युवा राजनीतिज्ञ एवं योद्धा के रूप में उन्होंने जरासंध, दंतवक्र, शिशुपाल, बाणासुर जैसे शक्तिशाली राजाओं को मारा। उन्होंने सुदूर पूर्व में प्राग्ज्यण्योतिवपुर में भौम नरकासुर का और निर्मोचन में मुर का वध किया। दूसरी ओर गान्धार देश में भारत की दूर पश्चिम सीमा पर राजा नग्नजित के पुत्रों को मथ डाला। उन्होंने पाण्ड्यकवार दुर्ग के राजा पांड्यू को मारकर भारत की दक्षिण दिशा में बढ़ते उपद्रव को शान्त किया। उत्तरी गुजरात में लूट-मार करने वाले तथा द्वारका पर आक्रमण करके विध्वंस मचाने वाले शाल्व को मारकर उसके सौभ दुर्ग को मिट्टी में मिला दिया तथा कलिंग के दत्त कूरराज का वध किया। निषादराज एकलव्य, जास्थी नगरी का आहुति, क्राथ, शतधन्वा और कशेरुमान यवन सभी श्रीकृष्ण के हाथों मारे गये। उनके अन्य पराक्रमों में रुक्मिणी का हरण तथा पाणिग्रहण और स्वर्ग से इन्द्र को हराकर पारिजात ले आना आदि अनेक की गणना की जा सकती है।

श्रीकृष्ण ने परम्परागत राजधर्म का उल्लंघन करने वाली, निरंकुश, मदोन्मत्त एवं अत्याचारी राजसत्ताओं और उनके शासकों का भारत के मानचित्र से समूल उन्मूलन करने के लिये आजीवन घोर परिश्रमसाध्य प्रयास किया। इन्द्रप्रस्थ को सम्पूर्ण भारतवर्ष की धुरी बनाने के लिये पाण्डवों के द्वारा सम्पूर्ण भारतवर्ष को दिग्विजय कराकर धर्मराज युधिष्ठिर को केन्द्रीय राजसत्ता सौंपने के लिये वे आजीवन प्रयत्नशील रहे। पहली बार उन्होंने जरासन्ध के बहनोई तथा ब्रज प्रदेश के क्रूर अत्याचारी शासक कंस का संहार किया। इस समय कृष्ण लगभग बारह वर्ष के किशोर ही थे। उन्होंने बड़े भाई बलराम की सहायता से सम्पूर्ण यादवगण

को संगठित करके आबालवृंद पूरे गण के साथ तीन ओर से समुद्र से घिरी हुई द्वारका की ओर प्रयाण किया और द्वारका को राजधानी बनाकर शक्तिशाली यादवगण की नींव रखी। उन्होंने गणराज्यों की गौरवमयी परम्पराओं के अनुसार छोटे-बड़े, गरीब-अमीर का भेद मिटाकर कुलगत, जातिगत और वर्णगत विषमताओं और अभिमानों को दूर कर समानता पर आधारित स्त्री-पुरुषों के सखा-सखी भाव से ओत-प्रोत कुंठाओं से रहित धीर-वीर किन्तु मधुर संस्कारों से सम्पन्न एक नये ब्रज समाज की रचना की। **जात्या च सदृशः सर्वे कुलेन सहशास्तथा।** (शान्तिपर्व) तभी तो वे महाभारत काल की उन जटिल परिस्थितियों में मगधराज जरासंध, चैदिनरेश शिशुपाल और सौभपति शाल्वराज से टक्कर ले सके। उन्होंने स्वयं द्वारिकाधीश होते हुए भी बलराम को राजा बनाकर इतिहास में पहली बार द्वैराज्य शासन प्रणाली की नींव डाली और घोषणा की कि गणराज्यों का विनाश फूट से होता है **(भेदमूलो विनाशो हि गणनाम्।)** अतः गणराज्य को आपसी कलह से बचाना चाहिये।

यद्यपि भारतवर्ष की महाभारतकालीन परिस्थितियों में भारतीय जन-जीवन के सांस्कृतिक एवं सामाजिक पुनर्निर्माण करने और आसेतु हिमाचल भारत को एक केन्द्र के अनुशासन में बहुरूपी एकता और अखण्डता प्रदान करके एक राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित करके आदि उनके अनेक कार्य-क्षेत्रों में श्रीकृष्ण के योगदान और महत्त्व का समग्र आकलन कर कृतज्ञ राष्ट्र ने उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम राम से भी ऊँचा स्थान दिया है। **''रामोविग्रहवान् धर्मः''** **''द्विः शरं नाभिसन्धत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते''** आदि अनेक वाक्यों में भगवान राम के लोकोत्तर आदर्श चरित्र की प्रशंसा की गई है। उन्होंने बनवासी होकर हजारों राक्षसों को मारकर दक्षिण भारत की जनजातियों की संगठित सेना लेकर अत्याचारी राक्षसराज रावण से घोर युद्ध किया और उसे परास्त कर जगज्जननी सीता के अपमान का उचित प्रतिकार किया। किन्तु श्रीकृष्ण ने महाभारत-काल की कहीं अधिक विषम और जटिल परिस्थितियों में

अनेक अत्याचारी असुरों का विनाश कर अन्त में धर्मद्रोही, निरंकुश, दुर्दान्त अभिमानी तथा दुर्बुद्धि दुर्योधन और उसके समर्थक दु:शासन, कर्ण, शकुनि, शाल्व, कृप, द्रोण, भीष्म और 11 अक्षौहिणी सेना के सेनापतियों और सैनिकों को पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना और उसके वीर पाण्डवपक्षीय महारथियों का नेतृत्व करते हुए रौंद डाला और अपनी सखी, कौरवों की कुलवधू और पांचालों की पुत्री महारानी द्रौपदी के सम्मान की रक्षा की तथा धर्मराज युधिष्ठिर को चक्रवर्ती एकछत्र सम्राट के रूप में पूरे भारतवर्ष का राज्य सौंप दिया। **''सीर्णा सा किल पांडयै रणनदी कैवर्तकः केशवः'' ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' ''कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्''** आदि शतशः वाक्यों में परम कृतज्ञ एवं श्रद्धावनत भारत-राष्ट्र की ऋतंभरा प्रज्ञा ने भगवान् श्रीकृष्ण का गत पाँच हजार वर्षों से निरन्तर अभिनन्दन, वन्दन, अर्चन एवं अनुकरण किया है। भारत भाव रूप श्रीकृष्ण भारतीय धर्म, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, कला और ललित लोक-जीवन के प्राण हैं। श्रीकृष्ण के बिना आसेतु हिमाचल एक राष्ट्र की एकसूत्रता की कल्पना नहीं की जा सकती। यह अद्वितीय शलाकापुरुष, पुरुषोत्तम महापुरुष और सच्चे भारत भाव-पुरुष हैं। उनका ऐतिहासिक गौरव, माहात्म्य और महत्त्व ''न भूतो न भविष्यति'' की कोटि का है। ये कालिदास के गोपवेष विष्णु, जयदेव के गोविन्द, चैतन्य के राधाकृष्ण, सूरदास के श्याम और मीरा के सांवरिया बने हैं और सम्पूर्ण ब्रजमण्डल विशेषत: वृन्दावन को अपनी सरस, मधुर, रसोपासना और रासलीलाओं में अपनी आह्लादिनी शक्ति सखी राधा के साथ जुगल किशोर बने रासप्लुत करते विराजमान हैं।

श्रीकृष्ण के व्यक्तिगत जीवन की इन्द्रधनुषी छटा; उनके निर्द्वन्द्व, निष्काम, नि:स्वार्थ और अनासक्त कर्म; उनके रसिया, छलिया, गिरिधर, चक्रसुदर्शन धारी, योगी, शान्तिदूत, सारथि, प्रखर योद्धा, गीता के आचार्य आदि अनेक रूपों के गुण; आदर्श और यथार्थ, नियति एवं पुरुषार्थ, शत्रु और मित्र आदि विरोधों का समन्वय एवं सामंजस्य बैठाने वाला जीवन-

दर्शन; निष्काम कर्म, ईश्वरार्पण बुद्धि तथा कर्मफल त्याग से युक्त अनन्य भक्ति और ज्ञानमार्ग का समन्वय करने वाला गीता का उपदेश—ये सभी तीनों कालों में प्रत्येक युग में देश, काल, समय, पात्र और अधिकार आदि के भेद से भिन्न-भिन्न व्याख्याओं की अपेक्षा रखते हैं। ''जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी'' गोस्वामी जी का यह कथन इस विषय में बिल्कुल सच्चा है।

श्रीकृष्ण ने कंस के कारागार में वसुदेव और देवकी के यहाँ जन्म लिया, यशोदा मैया ने उसे अमृत पिलाकर जीवन दिया, नन्दगोप ने पाला, अनन्त लीलायें कीं, मिट्टी खाई, ऊखल से बाँधा गया, कमली और काठी लेकर नन्द की गाय चराईं, वंशी बजाई और चराचर को मोहित कर दिया, बड़े भाई रोहिणेय बलराम का वात्सल्य पाया और राधा तथा अन्य गोपियों का सखी प्रेम और गोपों का सखाभाव उसका अवलम्बन बना, गोरस खाया खिलाया और चुराया भी, नदी में नंगी नहाती गोपियों के चीर भी चुराये, मथुरा में जाकर चाणूर और कंस को पछाड़ दिया किन्तु ''**चरैवेति चरैवेति**'' इस वैदिक सन्देश के पालक कर्मयोगी कृष्ण ने जो कदम बढ़ाया उसे पीछे नहीं हटाया कभी मुड़कर नहीं देखा, मानो उसके पूरे जीवन में भावना से कर्तव्य ही बलवान रहा। वह एक बार द्वारका पहुँच गया तो लौटकर कभी मथुरा, गोकुल, बरसाने या वृन्दावन नहीं आया। जैसे न तो कोई उसका अपना हो, न पराया और न कोई निजी स्वार्थ। वह समष्टिगत कल्याण के लिये व्यष्टि की बलि बढ़ाता गया। सम्भवत: उस वीतराग योगेश्वर श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप को इस देश ने पूरी तरह न तो समझा और न आत्मसात् किया हम तो उसके रसिया, छलिया, रणछोड़ और द्वारकाधीश आदि ऊपरी रूपों में ही आज तक रमे हैं।

श्रीकृष्ण द्वारकाधीश बनने के पश्चात् यादवगण के वाग्मी, वीर युयुत्सु और विनिगोपु सेनापतियों और सदस्यों के परस्पर मतभेद, सभा में गरमागरम बहस, वर्गों के नेताओं की छलबन्दी, ईर्ष्या और द्वेष तथा इसके परिणामस्वरूप कभी भी फैल सकने वाले आपसी कलह और फूट से

दु:खी होकर देवर्षि नारद से कहते हैं "**दास्यमैश्वर्य भावेन ज्ञातीनां वै करोश्यहम्**" मैं तो राजा के रूप में कार्य करते हुए स्वजनों की दासता ही कर रहा हूँ। मुनि नारद ने उन्हें गणराज्य के राजा के रूप में मधुर और स्नेहभरी वाणी से सभी को निरस्त्र कर देने और राष्ट्र की एकता को हर कीमत पर बनाये रखकर पुरुष का उत्तरदायित्त्व निभाने की प्रेरणा दी। इस प्रकार के आख्यानों, उपाख्यानों, संवादों और वर्णनों में सुरक्षित तत्त्वचिन्तन भारतीय समाज, संस्कृति, राष्ट्र और विश्व में एकता का सृजन करने वाली संजीवनी है।

कई भारतशास्त्री विद्वान्, कवि, लेखक और विचारक उदीयमान राष्ट्र भारत में श्रीकृष्ण के जीवन, गुण, कर्म और उपदेशों की इस वैज्ञानिक युग में कितनी प्रासंगिकता और उपादेयता है—इस विषय पर विचार करते हैं। इस विषय में यहाँ यह माननीय है कि श्रीमद्भगवतगीता का अध्ययन करने वाले सभी विद्वान यह मानते हैं कि गीता के उपदेशों में अभिव्यक्त जीवन-दर्शन और तत्त्वचिन्तन को किसी एक सम्प्रदाय, पन्थ, रिलीजन, पूजा-पद्धति या वर्ग विशेष की परिधियों में नहीं बाँधा जा सकता यह तो सम्पूर्ण भारतवर्ष की जातीय धर्म-पुस्तक है। हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला यह ग्रन्थ तो सार्वभौम धर्म का सूत्रग्रन्थ बनने के भी योग्य है। पाश्चात्य मनीषी बट्रेण्ड रसेल, एच.सी.वेल्स तथा एफ.टी. ब्रुक्स तथा भारतीय सन्त और विद्वान महर्षि अरविन्द, लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गाँधी आदि ने श्रीकृष्ण की गीता में निहित उपदेशों को न केवल भारत की एकता के लिये, अपितु इसके सार्वभौम सिद्धान्तों को सम्पूर्ण जगत के उज्ज्वल भविष्य और विश्व-एकता एवं विश्व-शान्ति के लिये उपादेय तथा प्रेरणादायक स्वीकार किया है। प्रभुपाद भक्तिवेदान्त के कृष्णचेतना आन्दोलन की पश्चिम जगत में बढ़ती हुई लोकप्रियता और सफलता उक्त तथ्य को प्रमाणित करती है। यह जगद्गुरुत्व ही भारत भावपुरुष श्रीकृष्ण की पतितपावनी महत्ता का स्थायी रूप है। ●●

कृष्ण–काली तत्त्व निरूपण

❀ डॉ० प्रेमलता पालीवाल

''यः कृष्ण सैव काली'' उक्ति के अनुसार कृष्ण–काली तत्त्व वैचारिक परम्पराओं का दिग्दर्शन कराता है। यह भारतीय दर्शन के. सारभूत तत्त्व की ही क्रीड़ा है। कृष्ण–काली उद्‌भाव को हृदयंगम करने के लिये हमें काली का खड्‌ग और कृष्ण की मुरली सुननी पड़ेगी।

कृष्ण का स्वरूप अप्रतिम सौन्दर्य से युक्त है। वे मुरलीधर, मोरपंखी, नील जलदवर्ण वैष्णवों के प्राणधन, जीवन सर्वस्व हैं–

श्रुति कहती है**''यो वै भूमा तत् सुखम् नाल्पे सुखमस्ति''**–जो भूमा है, वही सुखनिधान है, अल्प में सुख नहीं–अतः 'भूमा' शब्द श्रीकृष्ण के सर्वाङ्‌गीण स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है जो अपनी महिमा से महिमान्वित होकर सभी रूपों में है। ये समस्त सचराचर स्वरूप में आद्या शक्ति रूप में विराजमान है। शक्तिमान के स्वरूप का कोई अर्थ नहीं है–यह शक्ति ही काली है जो शक्तिमान के रूप में कृष्ण बनकर हमारा आकर्षण करती है–काली ही कृष्ण हैं और कृष्ण ही काली हैं।

आइये, पहले श्रीकृष्ण के स्वरूप पर विचार करें–श्रीकृष्ण भगवान ही श्रीमद्‌भागवत के प्रतिपाद्य विषय हैं; जिनके पुण्यश्लोक गान ने समस्त पुराणों को पुनीत कर त्रिलोकी में भारतीय पुराणों की महिमा स्थापित की है–इनके स्वरूप का गुणगान इस श्लोक के द्वारा किया गया है।

वंशीविभूषितकरानवनीरदाभात्,
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखारविन्दनेत्रात् ।
कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने।।

जिनकी वंशीमयी मुखाकृति मन को हर लेती है, जो पीताम्बरधारी हैं, द्विभुज हैं, वनमालाधारी हैं।

ऐसे परमात्मा श्रीकृष्ण गोपियों के उपास्य हैं जिनके लिये यह सम्पूर्ण प्रपंच कृष्णमय हैं, उनकी पुतलियाँ श्याममय हो गई हैं—

जित देखूँ तित श्याममयी है
श्याम कुंज वन जमुना श्यामा
श्याम गगनघन घटा छई है।
सब रंगन में श्याम भरौ है
लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरी या लोगन की ही
श्याम पुतरिया बदल गई है।

अब तंत्र शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में हम कृष्ण तत्त्व को देखें जिसके अनुसार कृष्ण ही काली हैं और काली ही कृष्ण हैं—इस कृष्ण काली उपासना को हृदयंगम करने के लिये काली तन्त्र के अन्तर्गत काली रहस्य को जानना अभीष्ट है। काली की स्तुति करते हुये—

शवारूढ़ां महाभीमां घोरस्यं हसन्मुखीं।
चतुर्भुजा चंडमुंड वरा भयंकरा शिवाम्।।
नरमुंडां धरांदेवी लललिलंहं दिगम्बराम्।
एवं संचिन्तयेत् काली श्मशानालयवासिनीम्।।

काली का अर्थ–कलमति इति–या जो निरन्तर गीतमान हों। मार्कण्डेय पुराण के सप्तशती खण्ड में वर्णित अम्बिका के ललाट से उत्पन्न पौराणिक काली इन आद्याशक्ति से भिन्न हैं—वे दुर्गा की त्रिभूतियों में से एक हैं।

तन्त्र शास्त्र में वर्णित आद्याशक्ति के 10 रूप हैं—

कालिका च महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा।।
बगला सिद्ध विद्या च मातंगी कमलालिका।
एता दश महाविद्या सर्वतंत्रेषु गोपिता:।।

इसमें काली प्रधान हैं—इनके भी 8 भेद हैं— 1. चिन्तामणि काली, 2. स्पर्शमणि काली, 3. सन्ततिप्रदा काली, 4. सिद्धि काली, 5. दक्षिणा काली, 6. मातृकला काली, 7. हंसकाली, 8. गुह्य काली।

दक्षिणा काली का विशेष महत्त्व है। शास्त्रों में कहा है कि पुरुष कृष्ण है और शक्ति वामा है—वही वामा दक्षिण पर विजय प्राप्त कर महामोक्ष प्रदायिनी बनी—इसीलिये इन्हें दक्षिण काली कहा गया है। वरदान देने में इसी दक्षिणाकाली के विषय में शास्त्र कहता है—

जो अपने ही सुख में आसीन और अनन्त हैं, चराचर जगत् के बीजरूप हैं, शुद्ध आदर्श हैं जिसमें शिव (अहंकार) अपना स्वरूप देखते हैं, उनकी सदा जय हो, वे परब्रह्म हैं, सत् हैं। श्रुति कहती है—

सदैव सोम्येतदमग्र आसीत् एकमेवा द्वितीयम्।

तदैक्षत बहुस्यां प्रजापै:—इत्यादि संकल्प उस परात्पर शक्ति का है जो कृष्ण भी हैं और काली भी या इस प्रकार कहें—कृष्ण ही काली हैं।

यह प्रकाशमयी शक्ति बीज और अंकुर दोनों ही हैं। अनुभव अथवा विमर्श "I am all" परिपूर्णोऽहम् ब्रह्म ही है—तब विमर्शक Experiences कैसे ब्रह्म हो सकता है? उत्तर है—पराशक्ति महाकाली अथवा त्रिपुरसुन्दरी अव्यक्त प्रकृति है—उन्हीं को श्रुति चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया (चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियारूपा) कहती है—वे व्यक्त होकर बीज भी हैं; अंकुर भी—सभी तत्त्वों में शिव तत्त्व तक उन्हीं का प्रसार है। शिव अर्थात् ज्ञान शक्ति अर्थात् शक्ति-क्रिया, शक्ति-चिदानन्द अर्थात् इच्छा शक्ति ज्ञान व क्रिया रूप से प्रकट है।

नियम उस तत्त्व को अणु और महान् से महान् कहते हैं—

अणोः अणीयान् महतो महीयान-भगवती का स्वरूप बताया है।

शास्त्रानुसार, पंचशून्ये स्थिता तारा सर्वान्ते कालिपां स्थिता—ये भगवती महाकाली जब महाप्रलय में आकाश का भी लय हो जाता है तब चित् शक्ति के रूप में विद्यमान रहती हैं। अस्तु, यह नित्य है, अनादि व अनन्त हैं—वह अजन्मा व निराकार भी है और साकार भी—वेद में भद्रकाली के रूप में स्तुति की गई है—

भगवती का यथार्थ रूप—उनका वर्ण काला है। महानिर्वाण तन्त्र में लिखा है—"**श्वेतपीतादिक वर्णाः यथा कृष्णे विलीयन्ते। प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलत्रे। अतस्तस्याः कालशक्ते निर्गुणायाः निराकृते। हितायाः प्राप्तयोगानां वर्णः कृष्णे निरूपितः।**"

जैसे श्वेत पीत आदि रंग काले वर्ण में समा जाते हैं, उसी प्रकार सब रंगों का लय काली में होता है। कहीं-कहीं काली को रक्तवर्णा भी कहा गया है—

कालिका द्विविधा प्रोक्ता कृष्णरक्त प्रमेदतः—

श्मशान वासिनी—श्मशान का चिता वाला लौकिक अर्थ नहीं-पंचभूत चिद् ब्रह्म लय होते हैं—आद्या काली चिद्स्वरूपा है, लय होने के स्थान को श्मशान कहते हैं- पंचमहाभूत लय हों, वह श्मशान काली है—भगवती का वास है।

दूसरा अर्थ है—भगवती का वास हृदय में है—जिस हृदय में काम-क्रोध भी भस्म होते हैं, उसी श्मशानवत् हृदय में भगवती वास करती हैं।

आसन—जिस समय उपासक अपनी प्राणशक्ति को चित् शक्ति में समाहित कर लेता है तब उसका पाँच भौतिक शरीर शव जैसा निर्जीव रह जाता है—वही आसन है—यही भगवती की कृपा का रहस्य है। —श्वासन है।

शशि शेखरा—ललाट पर चन्द्रमा के अस्तित्व का तात्पर्य है—भगवती परमानन्दरूपिणी है, चिदानन्दमयी है।

मुक्तकेशी—बाल बिखरा स्वरूप बताता है कि भगवती केशादि विलास

के विकार से रहित है।

त्रिनेत्रा—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि रूप नेत्रों से भूत, भविष्य, वर्तमान को देखती हैं।

महाघोर बालावतंसा—क़ानों में बालक का शव है—अर्थात् वे बाल स्वरूप निर्विकार साधक को अपने पास रखती हैं, कृपा बरसाती हैं—उस पर अपने कान लगाए रखती हैं—आलंकारिक भाषा में—स्मित मुखी आनन्दमयी हैं।

पीनोन्नतपयोधरा—तीनों लोकों का पालन करती हैं।

मुंडमाला—50 मुंड, वर्णमाला के पचास अक्षर हैं। भगवती के ये वर्ण ब्रह्म होने का द्योतक हैं—उस शब्द गुण से जो रजोगुण टपक रहा है अर्थात् सृष्टि का आरम्भ हो रहा है।

'कामधेनु' तन्त्र में भगवती कालिका के मुख से यही बात कही गई है—

मम कंठे स्थितं बीजं पंचाशद्वर्णाभद्भुतम्।

दिगम्बरा का अर्थ है कि वे मायारूपी आवरण से आच्छादित नहीं हैं।

निष्कर्ष—कालिका भगवती का वर्ण श्याम है। जिसमें सभी रंग सन्निहित हैं। भक्तों के विकारशून्य हृदयरूपी श्मशान अथवा पंचमहाभूतों से रहित चित् शक्ति के रूप में उनकी अवस्थिति है—उस श्मशान में ज्ञानरूपी चिता नित्य प्रज्वलित रहती है—

अपंचीकृत महाभूत रूपी शिवा, शवमुंड एवं तत्त्व गुण बोधक अस्थिकंकाल विद्यमान है।

भगवती चित् शक्ति में समाहित प्राणशक्ति रूपी शवासन पर स्थित है—उनके ललाट पर अमृत्वबोधक चन्द्रमा है और वे त्रिगुणातीत निर्विकार आयुक्त कोशिनी है—सूर्य, चन्द्र व अग्निरूपी नेत्रों से वे त्रिकाल देखती हैं—वे बालस्वरूप रूपी साधकों की ओर कान रखती हैं—शुद्ध सत्त्वात्मिक होने के कारण रजोगुण निःसृत करती है—वे सतोगुणरूपी

उज्ज्वल दाँतों से रजोगुण व तमोगुण रूपी जीभ दबाए है—वे नित्यानन्द रूपिणी मुस्कान भरती हैं और पीनोन्नत पयोधरा हुई विश्व भरण-पोषण करती हैं—वे 50 मातृका अक्षरों वाली मुण्ड माला पहिने हैं व मायारूपी आवरण से मुक्त हैं—वे भक्तों के मायारूपी पाश को ज्ञानरूपी असि (तलवार) से काटती तथा रजोगुण रहित तत्त्व के आधाररूपी मस्तक को ग्रहण किए हैं।

आइये! भगवती काली के इन रहस्यपूर्ण प्रतीकों को हम कृष्ण के प्रति समर्पित करें। काली कृष्ण तत्त्व को समझें—

बंगला भाषा में देवी भागवत् के अनुसार सेई काली सेई कृष्ण अति जन-मन को प्रभावित कर चुकी है—ब्रजमण्डल में भी कृष्ण काली एकता का अनुभव अनेक भक्तों को हुआ जिसके आधार पर राधाकृष्ण शास्त्री ने "श्री कंकाली अथवा कृष्ण-काली स्तोत्रम्" की रचना की। पहला श्लोक श्रीराधा की भाँति श्रीकृष्ण चरणारविन्द में प्रीतियुक्ता श्रीकाली का स्तवन है—

निःशेषदुःखार्णवपारनौका दूरीकृता नैक जनाधि नौका।
श्रीमद् मुकुन्दस्य पादाब्ज सक्ता भव्याय भूयाय ममकृष्ण काली।।

ये काली राधा की शक्ति हैं और राधा कृष्ण ब्रज में एक प्राण दो शरीर माने गये हैं। अतः जो कृष्ण हैं वही काली हैं, जो काली हैं वही कृष्ण हैं जैसा कि कहा है—

शंखाब्ज चक्रासिगदात्रिशूलान्
सेविभूती मझवरप्रदा च।
राधापराअराधित शक्तिक्ता
भव्याय भूयाम मम कृष्णकाली।।

एक स्थान पर कहा है—

वृन्दावने धाम्नि पुरा कदाचित्
राधा पर प्रीति विवर्धनाय

कृष्णास्य रूपेण कृतेन नित्यं
भव्याय भूयाय मम कृष्णकाली।

किसी समय श्रीराधा को प्रसन्न करने के लिये वृन्दावन में भगवान कृष्ण ने कृष्ण काली का रूप धारण किया, वही शक्ति मेरा कल्याण करे।

इस सम्बन्ध में कथा है—श्रीकृष्ण श्रीराधा से एकान्त में मिलते हैं—बात फैलती है—जटिला कुटिला ननद व सास को तो पता लगता ही है—राधा के पति अथवा गोप को भी ज्ञात होता है कि वे दोनों अयन से कहती हैं कि राधा के पास कोई गोप बाल वंशीविभूषितकर पीताम्बरी शोभा में आता है, राधा उसी का पूजन करती है।

अयन इसको प्रमाणित करने के लिये जब जाता है तो राधा घबरा कर पुकार उठती हैं—

आस्ते च अयन वंशीवदन विपत्ते जाये, हे जीवन!
तुम्हाये भजे-

आर्तनाद सुनकर बस चमत्कार हो जाता है। अनुभव कहता है—

बंसी होइलो असि, बनमाल होइलो मुंडमाला
द्विभुज होइलो चतुर्भुज, द्विनेत्र होइलो त्रिनेत्र
कृष्ण ओइनेर भय होइलेन काली
सेई माँ कृष्ण काली।

इस तथ्य का प्रमाण है केशीघाट पर स्थित विशाल 5 फीट लम्बा कृष्ण काली विग्रह जो जटिला व कुटिला के साथ विराजमान है। जिनका मुखारविन्द और चरण श्रीकृष्ण जैसे हैं—लीलाङ्गी जिह्वा है—कृष्ण काली में परिणत हो गये तो द्विभुज चार में बदल गई। वंशी ही तलवार बन गई—वनमाला रुंडमाला में बदल गई। यह वैष्णवी उपासना है जो गुरु परम्परा से प्राप्त है।

यहाँ इन प्रतीकों की तुलना करें तो प्रभाव एक-सा ही है—तभी तो कृष्ण काली उपासना में तादात्म्य है—उसकी तद्रूपता अत्यन्त

प्रभावकारी है—हृदयहारी है—आइये देखें—

कृष्ण और काली का वर्ण श्यामल है जिनका बीज मंत्र ''क्लीं'' या ''क्रीं'' है। अर्थात् दोनों ही आदि विद्या के देवता हैं—विश्वसार तन्त्र के अनुसार दक्षिणा कालिका अथवा महाकाली के मंत्र हैं जिन्हें महाकाल ने स्वयं उद्घोषित किया है—

क्रीं क्रीं क्रीं स्वाहा

क्रीं क्रीं क्रीं फट् स्वाहा

श्रीकृष्ण का बीजमंत्र है—

क्लीं क्लीं क्लीं स्वाहा

काली की असि ही कृष्ण की मुरली है या यूँ कहें कि कृष्ण की मुरली ही काली की असि है—असि या कृपाण दुष्टात्माओं का हनन करती है—बंसी का भी यही जादू है कि वह भी हनन करती है, घायल करती है पर कैसे ? संगीत जादू से कामादि विकारों का हनन कर जीवात्मा को श्रीकृष्ण परमात्मा की ओर आकृष्ट करती हैं—गोपियाँ कृष्ण प्रेम की कामाग्नि में जल रही हैं—''**शरदोत्फल्ल मल्लिकां वीक्ष्य रेतुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रिता**'' योगमाया ही काली है, विन्ध्याचल-पटरानी है, इन्हीं की शरण में अशरण-शरण श्रीकृष्ण रास की स्थापना करते हैं—वही है शक्ति व शक्तिमान का रहस्य—''स एकाकी न रमते—कृष्ण कभी काली को अलग से बुलाते हैं, कभी राधा रूप में उनके चरण पलोटते हैं तो कभी आवश्यकतावश स्वयं काली के रूप में समाहित हो काली ही बन जाते हैं—कामबीज इनका शाश्वत मन्त्र है—इनकी धुरी है-कुंजों की क्रीड़ा करती हुई श्यामल कृष्ण हमारी आपकी रक्षा करें।

आभासिनी या किलकाम बीजे
क्रीडापरा कौतुककेलिकुंजे
मंजु द्विरेफायित कुंतलालि
भव्याम भूवाय मम कृष्णकाली।

कृष्ण की वनमाला मुंडमाला बन जाती है—वनमाला का प्रभाव है—विग्रह की गरिमा बढ़ाना अथवा विग्रह को आकर्षण प्रदान करना। वन-माला व मुंडमाला अपने-अपने स्वरूपानुसार अपना कार्य करती हैं—

वृन्दावने या वनपुष्पमाला
स्थाने विकासीकृतमुंडमाला।
दोभिश्चर्चतुर्भिः परिदृश्यमाना
भव्याय भूयाय मम कृष्णकाली।।

कृष्णकाली उपासना के अनन्य सेवक और उपासक हैं। वे अप्रतिम चित्रकार हैं जिन्होंने अपनी अनुभवमयी व भावमयी भूमिका से एक ऐसे विशिष्ट चित्र की रचना की जो विश्व सौन्दर्य का सारभूत तत्त्व है, वह है कालीकृष्ण का अद्‌भुत चित्र जिसमें एक ही स्वरूप में काली की लोलित जिह्वा व कृष्ण की आकर्षक मुस्कान एक साथ सन्निहित की है—उसी में एक अंग में महाकाली की असि नरमुंड व दूसरे अंग में बंसी का सान्निध्य है—उपासकों के रूप में भगवती काली की ओर रामकृष्ण परमहंस और कृष्ण की ओर महाप्रभु चैतन्यदेव विराजमान हैं—

इस प्रकार उस परब्रह्म के प्रति मैं प्राणरूपेण प्रणत हूँ जो कृष्ण काली रूप में विराजमान होकर भक्तों और आराधकों को सदैव अभयवर प्रदान करते हैं।

●●

महामानव के परिप्रेक्ष्य में महाभारत के श्रीकृष्ण

❀ श्री वृन्दावन बिहारी

परात्पर प्रभु जगद्गुरु श्रीकृष्ण ने अपने अवतार के हेतु रूप में कहा है–''धर्मसंस्थापनार्थाय''। धर्म यद्यपि व्यापक एवं सार्वभौम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है–(जो अंग्रेजी का religion नहीं है) तथापि धर्म अपने सर्वार्थ में मानव में निहित है। शेष धर्म मानव धर्म के ही परिपोषक हैं। इस मानव धर्म की स्थापना के लिए ही भगवान मानव समाज में आकर मानव रूप धारण करते हैं। वस्तुत: मानव का स्वरूप उनका अपना ही स्वरूप है "In His image created He him" ऐसा बाइबिल में भी कहा गया है। अत: उन्हें इस कर्म क्षेत्र में उत्पन्न मानव से प्रगाढ़ प्रेम है। धर्म की सूक्ष्म रूप से रक्षा या उसके आधार की रक्षा करने के प्रयोजनानुसार मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंहादि अनेक रूप धारण किये किन्तु उन्हें आत्मसंतोष न हुआ अत: मानव का रूप धारण किया। विकासवाद की इस अवधारणा को महर्षि अरविन्द ने स्वीकार किया है। कृष्ण से पूर्व अवतारों में वे ऋषि-महर्षि, कुमार अथवा राजाधिराजकुमार के रूप में आते रहे पर उन्हें फिर भी पूर्ण संतोष न हुआ; क्योंकि वह इस मानव समाज में पूर्ण रूप से हिल-मिल जाना चाहते थे, समाज की सेवा करना चाहते थे, अपने जीवन को उसके लिए खपा देना चाहते थे। अत: उनने एक ऐसे समाज में आकर जन्म लिया, जहाँ वे भगवानत्व के अथवा राजाधिराजत्व की विशिष्टता का बोझ लिए जन-साधारण से अलग-थलग ही न रह जायँ। अत: वे गोप-गोपियों, ग्वाल-बालों गायों के बीच गोपाल बनकर आये, गोष्ठ में, गोकुल में, ब्रज में, वृन्दावन में। इस प्रकार वे आये भारतीय भाव रूप बनकर, संस्कृति स्वरूप बनकर जनगणमन अनुरूप बनकर, दीनों के शिशिर की धूप बनकर; यहाँ आकर

उन्हें आत्मसंतोष हुआ। मानव समाज के बीच आकर समाज के बीच हिल-मिलकर उसकी सेवा कर उन्हें अपनी पूर्णता का अनुभव हुआ। ऋषि-महर्षियों ने, पुराणकारों ने, तत्त्वज्ञों ने भी उन्हें परिपूर्ण परमेश्वर कहा और अन्य अवतारों को अंश, अंशांश और कलावतार माना।

एतेचांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयं॥

—भागवत 1/3/28

परिपूर्णतमः साक्षात श्रीकृष्णो भगवान हरिः॥

—गर्गसंहिता

सर्व अवतारी कृष्ण स्वयं भगवान।

—चैतन्य चरितामृत आदि लीला

इससे यह स्पष्ट होता है कि परात्पर प्रभु को पूर्णता, महामानवता में ही मिली, जहाँ लौकिकता पारलौकिकता से भी ऊपर उठ जाती है। यद्यपि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम भी पूर्ण पुरुषोत्तम ही थे किन्तु राजाधिराज होने के कारण वे महर्षियों के साध्य, भक्तों के आराध्य और राजाओं के श्लाघ्य बनकर ही रह गये। वस्तुतः मर्यादा नाम ही सीमा का है और मर्यादा पुरुषोत्तम मर्यादा को भला कैसे लाँघ सकते थे। इसलिए यदि कोई असीम, अनादि, अनन्त परब्रह्म की परिसीमा देखने का इच्छुक है तो उसे महर्षि अरविन्द के द्वारा बताये सार्वभौम असीम बुद्धि का प्रयोग करते हुए महामानव श्रीकृष्ण के चरित्र का अध्ययन करना चाहिये। ससीम बुद्धि से उसे समझना अति कठिन है; कदाचित् असम्भव।

उस महामानव ने ब्रज वृन्दावन को अपने कर्मानुष्ठान का प्रारम्भिक केन्द्र बनाया। अतः उसके क्रीड़ा-कला-संगीतयुक्त समाज की महान सेवाओं के कारण ब्रजक्षेत्र भारतीय संस्कृति का केन्द्र बन गया। ये ब्रज, वृन्दावन, गाय, गोप, गोपी, ग्वाल उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं।

गोप गावो गोपिकाश्च सदा वृन्दावनं मम॥ पद्मपुराण 82/75

वृन्दावनं परित्यज्य नैव गच्छाम्यहं क्वचित्॥ पद्मपुराण 82/78

वे कहते हैं, मैं वृन्दावन छोड़कर कभी नहीं जाता।

गोकुल में नामकरण करते समय गर्ग मुनि ने श्रीकृष्ण की कल्याणकारी सेवाओं का संकेत किया था—

एष द्वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमंजस्तरिष्यथ॥

भागवत 10/8/16

यह तुम लोगों का परम कल्याण करेगा। गोप, गायों को आनन्दित करेगा, इसकी सहायता से तुम लोग बड़ी-बड़ी विपत्तियों से सुगमता से पार हो जाओगे।

श्रीकृष्ण विशेषकर वृन्दावन को अपनी क्रीड़ामय सेवा का केन्द्र बनाना चाहते थे। इससे पूर्व अर्थात् वृन्दावन आगमन से पूर्व जो पूतनावध, सकटभंजन, तृणावर्त उद्धार, यमलार्जुन उद्धार आदि बाल-सुलभ लीलाएँ थीं, ये यद्यपि गोप, गोकुल रक्षा हेतु ही थीं पर श्रीकृष्ण की मनमोहनी माधुर्यमयी माया से मोहित सीधे-सादे नन्दादि ब्रजवासी यही समझते कि भगवान नारायण ने उनके बालक की रक्षा की। अतः सभी ने वृन्दावन जाने की ठानी। अनेक दृष्टि से कृष्ण का वृन्दावन निर्वास-अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महान सन्त दार्शनिक महर्षि अरविन्द ने विश्व की चार महान घटनाओं में से दो को श्रीकृष्ण से सम्बद्ध बताया है। उनमें से एक है श्रीकृष्ण का वृन्दावन निर्वास और दूसरा कुरुक्षेत्र का कृष्णार्जुन संवाद, ये दोनों घटनाएँ महामानव श्रीकृष्ण की महानतम सेवाओं के उत्कृष्टतम उदाहरण हैं। वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना पुलिन को देखकर राम कृष्ण के हृदय में प्रेम की तरंगें हिलोरे लेने लगीं। यहाँ आकर श्रीकृष्ण ने विधिवत् अपने कार्यकलाप को प्रारम्भ किया। गा ' भारत का सांस्कृतिक पशु है, अतः गोचारण के रूप में भारतीय संस्कृति का पोषण करने लगे। श्रीकृष्ण ने वृन्दावन में जो प्रथम महती सेवा का कार्य किया वह था यमुना को कालिय के प्रदूषण से मुक्त करना।

---

1. वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीति राममाधव योनृप॥ —भागवत 10/11/36

चतुर लोग 'एक पन्थ दो काज' करते हैं पर चतुरशिरोमणि श्रीकृष्ण तो एक पन्थ बहुकाज करते हैं; उनने काली का दमन करने के लिए, उसे गरुण के भय से मुक्त करने के लिए, बाल क्रीड़ा करने के लिए, (अग्रे क्रीड़ार्थमन्विच्छन्–श्रीवल्लभाचार्य) ब्रज का महान तीर्थोद्धार करने के लिए (ब्रजस्य महातीर्थोद्धारणादिना– श्री जीवगोस्वामी) सख्य भाव का आदर्श स्थापित करने के लिए, आगे आने वाले महारास में होने वाले लास्य ताण्डव नृत्य का विकट अभ्यास करने के लिए, वीभत्स जैसे रस में शृंगार की उत्पत्ति दिखाने के लिए, परन्तु मूल में तो था यमुना का प्रदूषण दूर करना– भागवत कथावाचक श्री शुकदेव जी ने स्पष्ट कहा है–

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः।
तस्याविशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत्॥

भागवत 10/16/1

अर्थात् यमुना का जल कालिय के विष से प्रदूषित होता देखकर जल को विशुद्ध करने की इच्छा से सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण ने उस सर्प को वहाँ से निकाल दिया। आज सरकार और जनता जिस प्रदूषण की समस्या को दूर करने के लिए बड़ी-बड़ी योजना बना रही है, उसे श्रीकृष्ण ने लीला के व्याज से सहज ही दूर कर दिया। आज जनता के प्रदर्शन और शासन के परियोजना प्रवर्तन से कुछ नहीं हो पा रहा।

भगवान श्रीकृष्ण अपने स्वजनों, गोपों, ग्वालों और गायों की रक्षा सदा ही किया करते थे। जैसे अघासुर और दावानल से रक्षा की परन्तु ये तो उस विभु के लिए अति साधारण प्रसंग है। अतः हमारा दृष्टिकोण उनके उन अलौकिक कर्मों की ओर नहीं जो नर वपु धरकर उनने भगवान की तरह किये बल्कि उन कर्मों की ओर है, जो भगवान होते हुए भी उसने मानव की तरह किये; क्योंकि वह ही हमारे लिए श्लाघ्य हैं, वे ही अनुकरणीय हैं। मानव धर्म की रक्षा करते हुए समाज की सेवा करने की यह कलात्मक शैली ही भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व है।

वे वैचारिक धरातल पर पूर्ण रूप से क्रान्तिकारी थे। इन्द्र यज्ञ भंग कर उनने वैदिक रूढ़ियों का मूलोच्छेदन किया तथा विराट के पूजा की स्थापना की। गायों का वर्धन गोवर्धन से होता है। अत: गोवर्धन की पूजा करवाई और इन्द्र के कुपित होने पर गोवर्धन धारण कर उनकी रक्षा भी की। पर उसे भगवानत्व तनिक भी अपेक्षित नहीं है। विष्णु पुराण में वर्णन है कि गोवर्धन धारण जैसे अलौकिक पराक्रम को देखकर ब्रजवासी कहने लगे—"हे कृष्ण! कहाँ आपकी यह बाल्यावस्था, कहाँ यह बल पराक्रम और कहाँ हम जैसे निम्न पुरुषों में ज़न्म लेना, ये बातें हमें बड़ी शंका में डाल देती हैं कि आप देवता हो, दानव हो, यक्ष हो या गंधर्व हो, क्या हो... ? पर हमारे तो आप बन्धु ही हो अत: आपको नमस्कार है।" सातवर्षीय बालकृष्ण ने देखा कि भोले-भाले ये ब्रजवासी मेरे ऐश्वर्य भाव से अभिभूत हो गये हैं, जो कि भगवान श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे क्योंकि उन्हें तो मानवता ही प्रिय थीं अत: कुछ मौन रखकर विचार करते हुए बोले—"अगर तुम्हें बुरा नहीं लगता और अच्छा लगता है....तो बस यों ही समझो कि मैं तो आपके बान्धव रूप में ही उत्पन्न हुआ हूँ। न मैं देव हूँ, न गंधर्व हूँ, न यक्ष हूँ और न दानव हूँ मैं तो आपका बांधव ही हूँ। इस विषय में कुछ अन्यथा विचार की क्या आवश्यकता ? **तदात्मबन्धु सदृशो बुद्धिर्वः क्रियतांमयि! नाहं देवो न गंधर्वो न यक्षो न च दानवः। अहं वो बान्धवो जातो नैव चिंत्यापिवोन्यथा।** विष्णु पुराण 5/13/11/12

इसी प्रकार श्रीकृष्ण की समस्त लीलाएँ मानव समाज की भावना का साकार रूप थीं। महारास की रसमय लीला श्रीकृष्ण की संस्कृति-सेवा है। रहसिरससारसिक्त लीला के व्याज से श्रीकृष्ण ने यह दर्शाया कि एकमात्र निश्छल निष्काम प्रेम ही परिपूर्ण परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। भारतीय भाव के भव्य रूप श्रीकृष्ण; भारतीय संस्कृति के सरस शाश्वत स्वरूप श्रीकृष्ण की यह दिव्य लीला सदा से साहित्य, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला का स्रोत रही है। कृष्ण की सेवा भावना उसके श्रीमुखसे और भी अधिक स्पष्ट होती है, जबकि महारास के द्वारा

ब्रजगोपियों को प्रेम रसार्णव में निमग्न करने वाले, इस वृन्दावन धाम को विशेष रूप से संस्कृति से संलग्न करने वाले कृष्ण ने महारास के अन्त में कहा ''मैं देवताओं के जीवन को पाकर अनन्तकाल तक भी तुम्हारे प्रेम, त्याग और सेवा का बदला नहीं चुका सकता, मैं जन्म-जन्म के लिए तुम्हारा ऋणी हूँ।''

नपारयेऽहं निरवद्य संयुजां
स्वसाधुकृत्यं विवुधायुषापिवः। भागवत 10/32/22

यह कृष्ण की मानवता ही है; भगवान किसी का ऋणी नहीं होता।

ब्रजलीला के पश्चात् वह एक महानतर सेवा-कार्य में जुट गये। पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सेवा के साथ नैतिक, राजनैतिक और संवैधानिक सेवा में त्याग, तितिक्षा, निरपेक्षता एवं सार्वभौम सेवा-भावना उनके इस महान मानवीय योजना में सर्वत्र सर्वदा विद्यमान रही। सर्वप्रथम कंसोद्धार कर उनके पिता उग्रसेन को यदुवंशियों का राजा बना दिया और कहा—''महाराज हम आपकी प्रजा हैं हम पर शासन कीजिए।'' यद्यपि वह स्वयं सर्वथायोग्य थे पर ययाति के शाप का बहाना बनाकर उसका त्याग कर दिया। कहा हम तो अनाभिषिक्त क्षत्री हैं। उन्हें तो अपेक्षित था एक ऐसे राजतन्त्र की स्थापना जिसका प्राण प्रजातन्त्र हो। इस हेतु उनने महाभारत की अवधारणा कर उसे साकार रूप दे दिया। महाभारत की राजतन्त्र व्यवस्था में प्रभुसत्ता न तो राजा में निहित है और न विशेष वर्ग में बल्कि वह मानव धर्म में निहित है। राजा वही हो सकता है जिसका प्रजा वरण करे, जो समाज की धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक नेतृत्त्व शक्ति से समन्वित हो तथा राज्य के धार्मिक ब्राह्मणों द्वारा अभिषिक्त हो, वह जनता की व्यक्तिगत सुरक्षा, स्वतन्त्रता की रक्षा करने में समर्थ हो तथा आत्मविजयी एवं संयमी हो। ऐसे आदर्श प्रजातन्त्रात्मक राजतन्त्र की स्थापना के हेतु ही श्रीकृष्ण ने महाभारत का नेतृत्व किया।

आज हम देखते हैं कि सफल लोकतन्त्र की स्थापना के लिए

जिन मूलाधारों की आवश्यकता है वे सभी महामानव श्रीकृष्ण की समग्र नीति में विद्यमान थे। उनको समसामयिक परिवेश में समझने और व्यवस्थित करने की आवश्यकता है। क्या महाभारत जैसे युद्ध में शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा पूर्णरूप से निरपेक्षता का द्योतक नहीं है, उनने स्वयं कहा—**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोस्ति न प्रियः।**

उस महामानव ने समता भाव को मानव तक ही सीमित न रखा बल्कि यह बताया कि बुद्धिमान मनुष्य वह है जो जीव मात्र में समदर्शी हो-यथा—

विद्या-विनयसंपन्ने ब्राह्मणे गविहस्तिनि।
शुनिचैवश्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥

यहाँ समता का तात्पर्य है कि उस सार्वभौम एक ही सत्ता में समानता से व्यापक समावेश। इतना ही नहीं उनका यह शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा निशस्त्रीकरण को ही इंगित करता है। जिसके पास शस्त्र हो ही नहीं वह निशस्त्रीकरण क्या करेगा। वस्तु का स्वामी हो तो वस्तु का त्याग कर सकता है।

इसी प्रकार न्याय और सत्य का मार्ग अनुसरण करते हुए पाण्डवों की पाँच की संख्या का कौरवों की 100 संख्या के विरुद्ध समर्थन करना और पक्षधर होना अल्पसंख्यकों का संरक्षण नहीं तो और क्या है? इसी प्रकार जरासंध के कारागार से 20 हजार राजाओं को मुक्त कराकर उनके राज्य की वापिसी एक तन्त्र शक्ति का विकेन्द्रीकरण ही तो है। इससे भी अधिक तात्कालिक धर्म प्रजातन्त्रात्मक कार्य है, उसी जरासंध के पुत्र सहदेव को ही राज्याभिषिक्त करना। अछूतोद्धार के जिस आदर्श को श्रीकृष्ण ने उपस्थित किया उस तक पहुँचना हमारे समाज को अभीष्ट है। शायद हम पहुँच भी न पायें। राजसूय यज्ञ की पूर्ति का सूचक स्वयं बजने वाला शंख तभी बजा जब श्वपच वाल्मीकि को सादर भोजन करवाया गया। ये ही वाल्मीकि हरिजनों के महान् पूर्वज हैं, जबकि हरिजन नेताओं ने रामायणकार वाल्मीकि को अपना पूर्वज मान रखा है

जो कि सत्य तथ्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु जनता और सरकार को क्या मतलब इससे। वे तो इस विषम ज्ञान की आग में अपनी रोटी सेक रहे हैं। इसी प्रकार दूत बनकर हस्तिनापुर जाकर दुर्योधन के आतिथ्य को अस्वीकार कर शूद्रोत्पन्न विदुर का आतिथ्य स्वीकार कर उनने यह सिद्ध कर दिया कि मानव की श्रेष्ठता जाति में नहीं वरण गुणवत्ता में है।

कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता के द्वारा श्रीकृष्ण ने मानव जीवन के समग्र दर्शन को प्रस्तुत किया। वह भगवद्गीता जो महर्षि अरविन्द की दृष्टि में कृष्णार्जुन सम्वाद के रूप में विश्व की चार महान् घटनाओं में से एक है; वस्तुतः मानव के नैतिक जीवन यापन का आधार है, जीवन का संवाद है, जग-जीवन के मार्ग का प्रकाश स्तम्भ है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग सफल जीवन की तीन पद्धतियाँ हैं। किन्तु इन सबमें निहित जो एक विलक्षण संदेश उभरकर आया है वह इन सबसे निराला है। सभी जानते हैं कि आपस में लड़ना बुरी बात है, युद्ध की विभीषिका से सभी घबड़ाते हैं, किन्तु गीता के द्वारा कृष्ण ने यह बतलाया कि कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ हैं, जिनमें युद्ध करना भी आवश्यक है, यही है मानव धर्म की रक्षा। इसीलिए उस महामानव ने अपने गीतोपदेश में एक ध्रुवपद की तरह बार-बार दोहराया—

तस्माद्युध्यस्व भारत। (2/18)

× × × × ×

''धर्माद्धि युद्धाच्छेयो'' (2/31)

× × ×

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः (3/37)

× × × × ×

ततोयुद्धाय युज्यस्व (मुध्यस्वविगतज्वरः 2/30)

× × ×

तस्मात्सर्वेषुकालेषु मामनुस्मरयुध्यच (8/7)

× × ×

जित्वारिपून भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धं (11/33)

× × × × ×

युध्वस्व जेतोसि रणे सपत्नान्॥ (11/34)

वस्तुतः युद्धादेश मानव धर्म के आदेशों के विरुद्ध खड़े होने वाली हिंसात्मक 'शक्तियों' के प्रतिरोध में संघर्ष का आह्वान है। निर्दोष पवित्र-चरित्र मुक्त नारी, जो सृष्टि, पोषण, संहार की संयुक्त शक्ति है, का अपमान, तिरस्कार, बलात्कार मानवता के प्रति घोर अपराध है। अतः उसका विरोध करना, उसे रोकना, उसके लिये बलिदान तक देना मानव धर्म है। यही भगवद्गीता का संदेश है। श्रीकृष्ण ने न केवल उपदेशात्मक वरन् व्यावहारिक रूप से यह स्थापित किया कि परब्रह्म की पूर्णता मानवता में ही निहित है। श्रीकृष्ण की प्रगतिशील प्रभावशाली कार्य-शैली; श्रीकृष्ण का प्रबल, प्रगल्भ प्रशस्त उद्बोधन, श्रीकृष्ण का पुनीत प्रणम्य, प्रेरणादायी चरित्र के आयामों ने भारतीय इतिहास, समाज, धर्म और संस्कृति को न केवल एक व्यापक वैश्व रूप दिया वरन् उनका एक मानदण्ड भी स्थापित किया।

जय हो सर्वलोक नायक की! जय हो संस्कृति उन्नायक की! जय हो जन गण मन मुददायक की! जय हो दीननजन सहायक की! जय हो दुष्ट-दलन-सायक की और जय हो परम रसाधिष्ठात्री राधा के पायक की!

●●



खण्ड – 2

विविध सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण

चैतन्य–सम्प्रदाय के आलोक में श्रीकृष्ण

❀ डॉ० नरेश चन्द्र बंसल

श्रीकृष्ण भारत भाव-रूप भा-रत पुरुष हैं। भारतीय भाव की वे सान्द्रतम चरम स्थिति परमावधि हैं। वे रसारोहित भावानुभूति के आलम्बन हैं। वे ललित-ललाम हैं। वे मानव की लालित्य संचेतना के पुंजीभूत समुज्ज्वल आधार हैं। वे वैदिक मनीषा की आर्ष शब्दावली के उत्कर्ष हैं—भा-रत हैं। भारत को श्रीकृष्ण-संस्कृति से भास्वरता मिली है। वे भारत भाव-रूप ही नहीं विश्वरूप हैं—वे सभीष्ट के भाव-पुरुष हैं। वे विष्णु-महाविष्णु-नारायण-वासुदेव हैं। वे भावों के भाव महाभाव हैं। मानव को उसके मन:क्षितिजों को, मनोभूमि को प्राञ्जलीकृत करने में जितने कारण हैं—जितने आकर्षण हैं वे भावपुरुष कृष्ण में हैं इसीलिए वे श्रीकृष्ण हैं। वे रस की राशि हैं अत: रासरसेश्वर हैं। उनकी भाव-पुरुषता निर्ग्रन्थ अनुराग को परमानुराग में आरोहित करती है। वे परानुरक्ति और परम प्रेम के चित्ताकर्षी स्वरूप हैं। वे हृदय-हृदय के श्यामसुन्दर हैं। वे अतिमोहन मदनमोहन हैं। वे गोविन्द गोपीनाथ, राधा दामोदर, राधारमण हैं। वे राधामाधव गोकुलानंद युगल किशोर हैं।

कृष्ण के ऐसे-ऐसे रूपों की भावना से अवदात्त आचरण विस्फूर्णित होता है। भारतीय भावोत्कर्ष भागवती संचेतना के आध्यात्मिक आकाश की श्यामता से परिचय कराता है। श्रीकृष्ण उज्ज्वल नीलमणि रसामृतसिन्धु बन जाते हैं। ललित माधव विदग्धमाधव बन जाते हैं। चेतना के विविध स्तरों पर उनका विविध प्रकार से स्फुरण होता है। अणुचेतन विभुचेतन की सन्निधि में लीलाशील ही रहता है। उनके मनोगत होने पर सुख-शान्ति और आनन्द की उत्क्रान्ति होने लगती है। वे वैष्णव चित्त के

चित्ताकर्षी रसपुरुष रसब्रह्म श्रीकृष्ण बन जाते हैं। भारत भाव-रूप श्रीकृष्ण की अनुभूति से आक्रान्त अविभक्त भक्त-तृप्तोभवति! आत्मारामो भवति!! आनन्दात्मक श्रीकृष्ण में तन्मय होने वाली चित्तवृत्तियाँ निजानंद को उच्छलित करने लगती हैं। वे गीत-प्रगीत, संगीत के आलम्बन बन आते हैं। वे चित्र, नृत्य, शिल्प की आकृति बन जाते हैं। वास्तु की वास्तविकता श्रीकृष्ण की भावरूपता से निष्पन्न होती है। साहित्य की सर्वोत्तम रसस्थिति श्रीकृष्ण समाराधन में व्यक्त होती है। ललित-कलाओं में श्रीकृष्ण को अवतरित कर भारतीय-संस्कृति का अक्षुण्ण स्वरूप एकीकृत स्थिर हुआ है। विकृत और विषण्ण मनों को संस्कृति का अक्षय वृन्दावन मिल गया है। सुमन दिव्य गन्ध से आप्लावित हो गये हैं। उनकी अनुरक्ति में रति को उत्कृष्ट अवस्था मिल जाती है। रति चिर प्रकाम प्रेम में रूपान्तरित हो जाती है।

श्रीकृष्ण का भाव-विषय ही प्रेम है। श्रीकृष्ण विषयक नित्य द्रवात्मिका अन्त:करण की वृत्ति ही प्रेम है। उत्तम वृत्ति के उद्‌बुद्ध होते ही श्रीकृष्णरूप-गुणानुशीलन प्रारम्भ हो जाता है। भक्त के अन्त:करण में भक्ति का रसामृतसिन्धु हिल्लोसित होने लगता है। उसकी इन्द्रियाँ तक निमज्जनोपरान्त चिन्मय हो रहती हैं। कृष्ण रूप के मन में होते ही पुरुषार्थ चतुष्ट्य स्खलित हो जाते हैं। 'नारद पंचरात्र' में कहा गया है कि सब प्रकार की उपाधियों से विनिर्मुक्त विशुद्ध और तन्यमता से समस्त इन्द्रियवर्ग के द्वारा कृष्ण का सेवन भक्ति कहलाती है। (सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्। हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्ति रुच्यते।।) कृष्ण रूप में ही रसस्थिति है। रूप गोस्वामीपाद ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कृष्ण-प्रेमी की भावविह्वल दशा का संकेत किया है—

दृगम्भोभिर्धौतः पुलक पटलीमण्डित तनुः
सबलन्नन्तः फुल्लो दधदतिपृथुं वेणशुमणि।
दृशोः कक्षां यावन्मम स पुरुषः कोऽप्युपययौ
न जाने किं तावन्मतिरिहि गृहे नाभिरमते।।

—पूर्व विभाग, द्वितीय साधन भक्ति लहरी, श्लोक 188

चैतन्य-सम्प्रदाय की दार्शनिक विचारधारा का निदर्शन करते समय परम दैवत, अवतारी, सच्चिदानंद विग्रह, अद्वय ज्ञान-तत्त्व कृष्ण की सर्वत्र चर्चा की जाती है। चैतन्य-दृष्टि में कृष्ण परमाकर्षक परमानंद स्वरूप परब्रह्म हैं—

ॐ योऽसौ परंब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रह।

—गोपालतापनी

वे ही परम ईश्वर तथा भगवान् हैं। वे सब अवतारों के अवतारी, अंशी तथा समस्त कारणों के आशय हैं।[1] वे सच्चिदानन्दमय विग्रह हैं। वे सर्वैश्वर्य, सर्वशक्ति और सर्व रसरूप हैं। श्रीकृष्ण वृन्दावन में दिव्य नित्य नवीन मदन स्वरूप हैं। कामगायत्री तथा कामबीज में उनकी उपासना होती है। पुरुष योषिता, स्थावर-जंगम कोई क्यों न हो वे सबके चित्त आकृष्ट कर लेने वाले साक्षात् मन्मथ हैं।[2] श्रीमद्भागवत में भी उन्हें साक्षात्मन्मधमन्मथ बताया गया है।[3] कृष्ण में ही आस्वादत्व एवं रसिकत्व का पूर्णतम विकास है। ईश्वरत्व एवं भगवत्ता का उनमें ही पूर्णतम प्रकर्ष है। वे परम ईश्वर, स्वयं भगवान हैं—"कृष्णास्तु भगवान स्वयं। (वही, 1/3/28) चैतन्य चरितामृत में कहा है—

स्वयं भगवान कृष्ण कृष्ण परंतत्व।
पूर्णज्ञान पूर्णानन्द परम महत्व।।

—आदिलीला, 2/5

श्रीकृष्ण विग्रह के बाह्य कुछ नहीं है। साधनभेद से उनकी

---

1. ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
   अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारण-कारणम्।। —ब्रह्मसंहिता
2. वृन्दावन के नवमदन अप्राकृत जो भाति।
   स्मरण गायत्री बीज तिति है जु उपासना ताति।।
   पुरुष और युवती तथा स्थावर जंगम जोइ।
   सर्व चित्ताकर्षक प्रगट मन्मधमन्मथ सोह।।
   —सुबलश्याम कृत चैतन्यचरितामृत (अनुवाद); पृ० 64

वैचित्र्यी की अनुभूति में भेद अवश्य है किन्तु भगवत्स्वरूपों में स्वरूपतः भेदभावना मानना तत्त्व का अपलाप माना जाता है। उनमें देह-देही का भेद नहीं है। उनके विग्रह का प्रत्येक अंग प्रत्येक इन्द्रिय को धारण कर सकता है। समस्त विग्रह आनन्द का चरम रूप है। वे नराकृति हैं। वे लीलामय हैं। आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण आनन्द की प्रेरणा से आनन्दास्वादन के लिये ही लीलारम हैं। रसिकशेखर कृष्ण को रसास्वाद स्पृहा ही लीला की प्रवर्तक है।[1] वे लीला पुरुषोत्तम हैं। उनकी लीला असमोई माधुर्य पूर्ण है। उनका ऐश्वर्य भी माधुर्य-मण्डित है। समस्त रसों के विषय हैं श्रीकृष्ण एवं आश्रय भी वे ही हैं।[2] वे अखिल रसामृतमूर्ति हैं। समस्त रसों के अधीश्वर उज्ज्वल शृंगार की भी मूर्ति वे ही हैं। इसीलिए विविध रसों के भक्तों की तो क्या बात वे अपने चित्र को भी हरण करने वाले हैं।[3] उनके रूप गुणादि का माधुर्य इतना है कि त्रिभुवन ही नहीं उनका अपना मन भी विमोहित हो जाता है और वे स्वयं को आलिंगित करना चाहते हैं। यही उनका आनन्द चांचल्य है—

कृष्ण माधुर्येर एक स्वाभाविक नल।
कृष्ण आदि नरनारी करये चंचल।।

—चैतन्य चरितामृत 1/4/128

हरे जु निज माधुर्य करि अपनो ही मन जोय।
आलिंगन चाहे कियौ अपनौ आपुहि सोय।।

—चैतन्य चरितामृत (अनु०) पृ० 65

---

1. विस्तार के लिये द्रष्टव्य ''वृहद्भागवतामृतम्''
2. नाना भक्तनि रस अमृत नाना विधि है जोय।
   तिन सबही रस अकृत के विषय आश्रय सोय।।
   —सुबलश्याम कृत-चैतन्य चरितामृत (अनुवाद) पृ० 6
3. स्वच्छन्द व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यंगमालिङ्गितः।
   शृङ्गार सखि मूर्त्तिमानिव मधौ मुग्धौ हरिः क्रीड़ति।।
   —गीतगोविन्द 1/11

रूप गोस्वामी कहते हैं कि कृष्ण का श्रेष्ठ माधुर्य-सौन्दर्य ऐसा चमत्कार जनक एवं अनिर्वचनीय है कि जिसे देखकर उनका चित्त लुब्ध हो गया है एवं श्रीराधिका की भाँति उत्कण्ठापूर्वक उसका उपयोग करने की उन्हें लालसा होती है। (ललित माधव 8/32)। उनका माधुर्य इतना सर्वातिशायी है कि वह केवल अनुभववेद्य हैं। जिन्होंने उनके इस रूप का परिचय दिया वे उन्हें बस मधुर-मधुर कहकर रह गये। बिल्वमंगल तथा आचार्य वल्लभ ने एक जैसी अनुभूति में उन्हें सर्वातिशय सर्वांग मधुर ही कहा है।[1] वे माधुर्य वारिधि हैं, उनमें मद की जलराशि है, शृंगार की तरंगें उसमें हिल्लोलित होती हैं। वे नयन तापहारी स्निग्ध कैशोरभूति हैं, मृदु हास्ययुक्त मनोहर उनका मुख कमल है तथा आनन्द का संप्लव है-सर्वात्पावक उच्छलित आनन्द का प्रवाह है।[2] कृष्ण माधुर्य-भाव से भी मधुर हैं। मन्मव्य के वे तात हैं और उनका निर्वचनीय कैशोर है। वे चपलभाव से भी चपल हैं।[3] वे कामावतारांकुर[4], शृंगाररस सर्वस्व हैं।[5] माधुर्य को भगवत्ता का सार कहा गया है-

माधुयेई भगवत्तार सार।

—कृष्णदास कविराज कृत चैतन्यचरितामृत

कृष्ण अपनी निज अन्तरंग स्वरूप शक्ति महाभाव स्वल्पा राधा के साथ वृन्दारण्य की निकुंजों में अठारह विलासशील रहते हैं। उनके प्रेम

---

1. (क) मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धि मृदुत्सतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्।।
—कृष्णकर्णामृत 92, पृ० 263

(ख) अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।

2. कृष्णांकर्णामृत 14, पृ० 67।
3. वही 65 पृ० 196।
4. वही 3 पृ० 18 (ग)।
5. वही 93 पृ० 265।

का सर्वाधिक प्रकाश वृन्दावनधाम में ही है। दास्य-सख्य-वात्सल्यादि लीलाओं में कृष्णरति का सर्वाधिक रसनिर्यात वृन्दावन में ही है। निभृत निकुंज विहारी कृष्ण वृन्दावन छोड़कर कहीं नहीं जाते–"वृन्दावनं परित्यज्य सक्वचिन्नैव गच्छति।" वस्तुत: जो सर्वव्यापी तत्त्व है वह कभी कोई स्थान छोड़कर नहीं जाता, इस दृष्टि से उक्त कथन भी चैतन्य-सम्प्रदाय में मान्य है। त्रिगुणातीत वृन्दारण्य में वे नित्यलीला विहार करते हैं। प्रकृति के विषय उल्लंघन करने से वह लीलापुरुष हैं। वह एक से दो और दो से सहसधा हो सकता है। मनीषी रसिक ही उनकी इस दिव्य लीला का कथन कर सकते हैं। (यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिण):- महाभारत आदिपर्व।

श्रीकृष्ण उपास्य और राधा उपास्या है। कृष्णाराधिका राधिका भी कृष्ण ही हैं और राधिका आराधक कृष्ण भी राधिका हैं। वे दोनों ही विषयालम्बन और आश्रयालम्बन हैं किन्तु राधिका भोग्य होने के कारण श्रेष्ठ हैं। कृष्ण भोक्ता हैं तथापि भोक्ता-भोग्य में तत्त्वत: अन्तर नहीं है। श्रीकृष्ण को परमसुख देना ही राधा का आराधन है। उन्हें स्वमुख का कथमपि बोध नहीं उनकी समता सहचरी गण-गोपीगण भी उनकी भाव सन्मूर्तियाँ हैं। काव्यूहा हैं।

यद्यपि अन्तरंग आह्लादिनी शक्ति के कारण अनादिकाल से उनका राधादि से नित्य सम्बन्ध है और उनमें उपपत्ति भाव का अवकाश नहीं है तथापि रसास्वादन रसनिर्वाण हेतु ही शृंगाररसराज कृष्ण में औपपत्य है। प्रकटलीला में ही इनका औपपत्य है। प्रियाचिन्तन, उत्कट उत्कंठा, प्रिय में अदोष-दर्शन और निष्कामता का चरम विकास कृष्ण के 'जारत्व' में है। ब्रज के अन्यत्र इसका वास नहीं है और रस का उल्लास इसी भाव में है। 'भागवत' में उन्हें-'जारबुद्धदापि संगता' कहा गया है। 'गोपाल-सहस्त्रनाम' में उनके लिए 'चोर जार शिखामणि' कहा गया है। तत्त्वत: राधाकृष्ण मिथुन युगलब्रह्म हैं। प्रत्येक ब्रजस्थ वैष्णव सम्प्रदाय उसी युगल की उपासना में प्रवृत्त है। परम उपासक नित्यधाम दाता हनुमान

प्रसाद पोद्दार महाभाग ने अपने प्रख्यात 'राधामाधव चिन्तन' नामक सद्ग्रन्थ में एक स्थान पर इस युगलतत्त्व का निरूपण करते हुए निर्देश किया है—''ब्रह्म और उनकी शक्ति नित्य दो होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं, वे एक में ही सदा दो हैं और दो में ही सदा एक हैं तथा स्वरूपत: एक होकर भी द्वैधभाव के पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा ही अपना परिचय देते और अपने को प्रकट करते हैं। यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुत सिद्ध रूपों में ही उसके स्वरूप का प्रकाश होता है, उसका परिचय प्राप्त होता है और उसकी उपलब्धि होती है।''[1]

महाप्रभु चैतन्य के कृपापात्र प्रबोधानन्द सरस्वती कहते हैं कि श्रीकृष्ण राधामुख कमल के दिव्य मधुकर हैं। वे श्रीराधा के नेत्रों के अंजन और राधावक्ष के दिव्य नीत वसन हैं। वे राधा के मन के शृंखल और उनकी नाभि रूप अमृत सरोवर के नीलपद्म हैं। यही नहीं, श्रीराधा-चरणों के सुन्दर नखचन्द्रों के श्यामता रूप तांछन है और तो और उनके क्रीड़ामृग हैं। (वृन्दावन महिमामृतम् 16/1)। राधाकृष्ण परस्पर रसोल्लसित एवं पुलकांचित गौरनीलाकृति धारण कर लेते हैं एवं परस्पर स्वभाव को धारण कर लेते हैं (वही, 16/4)। उनके अनुसार श्रीकृष्ण राधा के प्रेमपाश में आबद्ध एवं एकमात्र श्रीवृन्दावन में ही दृष्टिगोचर होने वाले एकमात्र सार वस्तु हैं। (वही 12/31)। श्रीराधा की स्वर्णवत् चारु कांति से वे रामाच्छादित रहते हैं (वही 14/103)। वे सजल नील जलद कांतियुक्त हैं, विद्युतवर्ण प्रेयसी राधा को रुचिप्रद एवं क्षण-क्षण विविध सुख सम्भोग अभिलाषकारी हैं। प्रेम की महामदिरा में अतिविकल होकर मन्द-मन्द भाषण करते हैं और वृषभानुनन्दिनी से अनुरक्त हैं। (वही 15/66)। गदाधर भट्ट के वंशधर वल्लभरसिक कहते हैं—

यद्यपि दोउन की लगन सब मिलि कहैं समान।
पै प्यारी महबूब है आशिक प्यारो जान।।

—पाण्डुलिपि से (निजसंग्रह)

---

1. श्रीराधामाधव चिन्तन, द्वितीय संस्करण, पृ० 406।

कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के ब्रजभाषा के चैतन्य वाङ्मय से कुछ चित्र देखिये—

लाल तोहि देखत नैन सिरात।
छैल छबीले हो, रसिक रसीले हो, रूप गहगहे हो, प्रेम बहबहे हो...
प्रीति झकझोले हो, महामिठबोले हो।
मदनमोहन सुख सदन सुवन तन ये निरखत छिन न अघात।।[1]

सनातनगोस्वामी के शिष्य अकबरी दरबारी के कवि सूरदास मदनमोहन एक पद में राधाकृष्ण की झाँकी देते हैं—

माई री राधावल्लभ वल्लभराधा, वे इनमें, उनमें वे बसत।
घाम छांह इत घन दामिनी, उत कसौटी-लीक ज्यों लसत।।
दृष्टि नैन ज्यों स्वांस बैन, त्यों ऐ-मैन ज्यों गरुत।
'सूरदास मदनमोहन' पिय प्यारी में देखे सन्मुख हसत।।[2]

गदाधर भट्ट वरनागरवर सुन्दर श्रीगोपाल के अप्रतिम रूप का ध्यान करते हैं—

सुमिरहु वरनागरवर सुन्दर श्री गोपाललाल।
सब दुख मिटि जैहै वे चिंतत लोचन विशाल।।धृ०।।

वृन्दावन में ललित निकुंज मन्दिर के निर्माता सर्वस्वत्यागी शाहकुंदनलाल 'ललित किशोरी' मोहन नेत्रों के प्रभाव का वर्णन करते हैं—

मोहन के अतिनैन नुकीले।
निकसे जगत पर हियरा के, निरखत निपट गसीले।।

ब्रजमण्डल के माधुर्य भक्ति रसोपेत सम्प्रदायों में कृष्ण का यही रूप सामान्यत: स्वीकृत है। उनकी रूप-माधुरी, वंशी-माधुरी, रासमाधुरी और लीलामाधुरी कुलकानि छुड़ा देती है—

---

1. वल्लभरसिक की वाणी, बाबाकृष्णदास संम्पादित, पद सं० 17।
2. पाण्डुलिपि से (निज संग्रह)।

जब मोहन मुरली अधर धरी।
गृह व्यवहार धेके आरजपथ तजत न संक करी।।

—सूरदास

मोहन बेनु बजावै। इह रव नारि बुलावै।।

—हितहरिवंश प्रभु, हितचतुरासी पद सं० 63

रूपगोस्वामी ने राधा को 'प्रेष्ठवरथा' कहा है और कृष्ण को धीर-ललित नायक। रसदृष्टि से धीरललित नायक में 'गति' का भाव सर्वाधिक होता है। राधा इसीलिए मानवती है। रूप प्रेम को परमपुष्ट करने के लिये मान धारण करता है। राधा रूप है तो कृष्ण रूपरस के भोक्ता। यह सब रस निरूपण की पद्धति है। युगलतत्त्व निरवच्छिक है। ये वृन्दावन के निज प्राण हैं, वृन्दावन के स्वरूप हैं, वृन्दावन के रससार हैं। कृष्ण कामबीजात्मक हैं और राधा रतिबीजात्मक हैं और इन दोनों बीज के संकीर्तन से युगल प्रसन्न होते हैं। चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति कामानुगा अर्थात् रागानुगाभक्ति है। श्रीकृष्ण ही अप्राकृत कन्दर्पदर्प विभर्दक मदनमोहन हैं—आनन्दघन हैं। वे समस्त महानुभावों के—भागवती चेतनाओं के चित्ताकर्षक अरुमोर्द्धरूप श्यामसुन्दर, परमरसामृतमूर्ति रसराजशृंगार के श्रीविग्रह सान्द्रानन्द हैं।

गोपीभाव-सखीभाव-मंजरीभाव में आरूढ़ होने पर कृष्ण की प्रेम-प्रगाढ़ता गुह्यातिगुह्य रसात्मकता अनेक रूपों में अनन्त रूप वलयों में सुरक्षित होती है। गोष्ठ और निकुंज-कुंज में ब्रज और वृन्दावन-राधाकुंजवारी में निखिल रसामृत-सिन्धु श्रीकृष्ण का रूप ही विस्फुर्जित होता है। उनकी लीला माधुरी अहरह उच्छलित होती है। कृष्णदास ब्रह्मचारी के शिष्य व्रजाचार्य नारायण भट्ट कृत 'प्रेमांकुर नाटक' की अनुक्रमणिका से प्रमाणित है कि चैतन्य-सम्प्रदाय में वात्सल्य सख्य आदि रस लीलाएँ ही नित्य नई निकुंज लीला के समान आस्वाद्य हैं। इनका अनुभव स्रोत स्वरूप है। भेद रसपरिपाक से होता है। रस की अखण्ड स्थिति में सब एक हैं। राधाकृष्ण की समस्त लीलाएँ नित्य हैं।

सभी लीलाविहार नित्यविहार हैं। कान्ताभाव-सखीभाव-निकुंजभाव-गोष्ठभाव-ब्रजभाव-वृन्दावनभाव संयोग-वियोग-स्वकीया-परकीया सभी भागवती चेतना के रूपोल्लास हैं। इनके एकमात्र विभाग हैं— श्रीकृष्ण अर्थात् राधाकृष्ण।

जीवगत रूप को परिमित उपलब्धि से परितोष नहीं होता, अपरिमित रूपराशि भगवद्गत आनन्द के आस्वादन से ही अपरिमित तो होता है। प्राकृत में रूप-रस उसका ही छायाभाव या अनुगूँज है। अप्राकृत रूपासानुसंधान वृत्ति से ही हमारी चेतना परितुष्ट होती है। लौकिक रूप रूपाभास है अलौकिक रूप रूपोल्लास है। लौकिक रस रसाभास है अलौकिक रस रसोल्लास है। वह बिन्दु नहीं सिन्धु है। वह अणु नहीं विभु है। वह क्षुद्र नहीं महोच्छ है। वस्तुत: प्रेम प्राकृत मन की वृत्ति नहीं। वह आह्लादिनी प्रधान शुद्धसत्त्व की वृत्ति विशेष है। शुद्ध सत्त्व के तादात्म्य से प्रेमवृत्ति का प्रकाश होता है। भगवान श्रीकृष्ण के प्रति अविच्छेद स्वाभाविक अनुरक्ति परम-प्रेम और परानुरक्ति कहलाती है। रागमयी भक्ति हृदय की रसरूपता है। यों तो रस अन्यत्र भी कथित है किन्तु युक्त आकर्षण में जो सौन्दर्य-माधुर्य है वह तो उज्ज्वल शृंगार का ही परिणाम है। चैतन्य-सम्प्रदाय में रसधान ब्रह्म का-भूमा का रस निर्वास अनेक लीलाओं में प्रकाश्य माना गया है। व्रजरस का विस्तार कान्ताभाव और सखीभाव दोनों में है। अचिन्त्य भेदाभेद ही उसका चिन्तन पक्ष है। कृष्ण रस की उद्बोधिका प्रेम विधायिका रूपोद्यान प्रफुल्ल कलिका आह्लादिका शक्ति श्रीराधा हैं। उनके अनुग्रह से प्रेम का उद्गम पोषण और संवर्धन होता है। चैतन्य महाप्रभु राधाकृष्ण के किलित प्रेम-विग्रह हैं। भक्ति में ही जीव का जीवत्व भक्तत्व में रूपान्तरित हो जाता है। भक्ति में ही वह परमसुखात्मक निज-स्वरूप का अनुभव करता है। उसमें श्रीकृष्ण भगवत्ता के षड्गुण स्फुरित होने लगते हैं। उनके अस्फुरण से भक्त जीव ही रहता है। संस्कृति विकृति में बदल जाती है। भक्तिरसतरंगिणीकार नारायण भट्ट ने 'भक्तभूषण सन्दर्भ' में स्पष्ट उल्लेख किया है कि गुण, ऐश्वर्य, धर्म,

यश, श्री, वैराग्य आदि के अस्फुरण से जीव का स्खलन होता है। गुण के अस्फुरण से ही जीवन में अभिमान, दु:ख, अहाता, सांसारिकता, पाप, दुर्गमता, वैराग्यहीनता, असामर्थ्य, अशुचिता, गुणहीनता, जड़तारि उदित होते हैं। कृष्णैश्वर्य के अस्फुरण से जीव लोभी, हीन, भोगी, मुग्ध, कृपण, अदेवनिष्ठद्व चिन्ताशील होता है। धर्म के अस्फुरण से अविनय, आत्मश्लाघा, मत्सरता, हिंसा, धर्महीनता और रागादिक उत्पन्न होते हैं। श्री के अस्फुरण से पराधीनता, आलस्य, अपेक्षाकारित्व, आर्त्ति, अशान्ति, अधैर्य, सन्देह, भीतादि होते हैं। वैराग्य के अस्फुरण से जीव कामी, वंचक, इन्द्रियरमोलूय, दम्भी, अहंकारी इत्यादि होता है।

परिशुद्ध सामाजिक–समष्टिमूलक जीवन के लिये भी भक्ति-भजन अनिवार्य वस्तु है। वाङ्मय सम्पन्न कृष्ण की भावना से व्यक्ति धनात्मक बनता है। कृष्णभाव विकसित होने से जीव भा-रत होता है। वह बिखरता नहीं जुड़ता है। किन्तु यह एक साधना है। अन्त: द्रवकारी अत्यधिक ममतायुक्त निरहंकृत सान्द्रभाव को ही विद्वान् लोग प्रेम का अभिधान देते हैं।[1] इस प्रेम की निष्पत्ति प्रक्रिया में महाभागवत रूप गोस्वामी ने घोषणा की है–

आदौ श्रद्धा तत: साधु सङ्गोअथ भजन क्रिया।
ततोडानर्थ निवृत्ति: स्या[illegible]तो निष्ठा रुचिस्तत:।।

–भवि[illegible]सामृतसिन्धु चतुर्थ प्रेम लहरी

जिसमें इस प्रेम का उन्मीलन होत[illegible] है उसे विद्वान् भली प्रकार समझ नहीं सकते। अन्याभिलाष शून्यता [illegible]र स्वरसिको रागानुष्ठान निष्ठित होने पर रसिक के रूप भगवद्रूप द्वारा अनुगृह[illegible] होने पर खिल-खिल उठते हैं। मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार और सर्वेन्द्रियाँ रूपारूढ़ होकर भगवद्रूपाकारिता प्राप्त कर लेती हैं। कृष्ण भावरूप और रतरूप सौन्दर्य-

---

1. सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिश्याङ्कित:।
भाव से एव सान्द्रात्मा बुधै: प्रेमा निगद्यते।।
–भक्तिरसामृत सिन्धु पू.वि. 4।

माधुर्य की लहाछंह वर्षा करने लगता है। कृष्ण के सारे रूप ऐतिह्य से निकलकर भक्ति भाव में अन्तर्लीन हो जाते हैं और भक्त का रसिक की चिदात्मा में चिद्रूप की अनगिनती परतें खुल जाती हैं। मानसी-ध्यान में आस्था के गन्धमादन पुष्प बरसने लगते हैं। कृष्ण का देह सौष्ठव, रूप-लावण्य, क्रिया-विलास और लीला विच्छति भावुकों-महाभावुकों-भगवदीयों के मन पर प्रभंजन वेग से प्रसारित हो जाती है। कृष्ण का रूप उनके गुण और प्रेम को विमर्शित करने लगता है। उनके रूप-गुण-माधुर्य में मानवीय संचेतना की समग्र उदात्तता, शालीनता, सात्त्विकता, चारुता, तेजस्विता, कान्तिमा, रुचिरता, शुभता, अवता, वत्सलता, सख्यता, रक्षकता, विचक्षरगता, रमणीयता, विदग्धता, चतुरता, शुचिता, स्थिरता, क्षमाशीलता, सहिष्णुता, समता, गम्भीरता, सरलता, शूरता, ललितता, सुहृदता, प्रसन्नता आदि-आदि विकास पाती है। वह उनसे अविभक्त और संसिक्त हो जाता है। चैतन्य-सम्प्रदाय के व्याख्याता रूप गोस्वामी ने कृष्ण के गुण बताये हैं—

अयं नेता सुरम्यांगः सर्वसल्लक्षान्वितः।।
रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वदसां अन्वितः।
विविधाद्भुत भावावित् सत्यवाक्यः प्रियंवदः।।
वावदुकः सुपाण्डित्यो बुद्धिमान प्रतिभाऽन्वितः।
विदग्धश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढ़व्रतः।।
देशकाल सुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचिर्वशी।
स्थिरोदान्तः क्षमाशीलो गभीरो धृतिमान्समः।।
वदान्यो धार्मिकः शूरः करुणो मान्यकानकृत्।
दक्षिणो विनयी हीमान् शरणागतपालकः।।
सुखी भक्त सुहत् प्रेमवश्यः सर्वशुभंकरः।
प्रतापी कीर्तिमान् रक्लोकः साधु समाश्रयः।।
नारीगण मनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान।

वरीयानीश्वरयेति गुणास्तस्यानुकीर्तितः।।
समुद्रा इव पंचाशद् दुर्विगाही हरेरमी।
जीवेष्वेते वतन्तोअपि बिन्दुबिन्दुत या क्वचित्।।
परिपूर्णतया भान्ति सदैव तत्रैव पुरुषोत्तमे।

—भक्तिरसामृत सिन्धु, द.वि. प्रथमातिभाव लहरी, 19-27

श्रीकृष्ण में समस्त गुण आकृष्ट रहते हैं। वेदव्यासजी ने सत्य, शौच, दया, सहनशीलता, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, वैराग्य, विद्या, ज्ञान, ऐश्वर्य, शूरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, प्रगल्भता, विनय, शील, गह, ओज, गम्भीरता, स्थिरता, अस्थिरता, कीर्ति, स्वाभिमान, निरंहकारिता आदि गुणों का उल्लेख किया है।[1] कृष्ण में महादेव में पाए जाने वाले गुण भी हैं—सदास्वरूप में स्थित, सर्वज्ञ, नित्य, नूतन, सच्चित् आनन्द से परिपूर्ण स्वल्प वाले और समस्त सिद्धियों से सेवित। यही नहीं कृष्ण में विष्णु में स्थित 5 गुण और पाए जाते हैं—अविचिन्य महाशक्ति युक्त, कोटिब्रह्माण्ड शरीरभूत, अवतार परम्पराओं के बीजभूत, हतारिगतिदायक, आत्माराम-शरणाकर्षी इनके अतिरिक्त चार गुण और हैं—**"सर्वाद्भुतचमत्कारलीला-कल्वोवारिर्धिः। अतुल्यमधुरप्रेमण्डितप्रियमण्डलः। त्रिजगन्मानताकर्षी मुरलीकलकूजितैः। असमानोर्ध्वरूपश्रीर्विस्मापितचराचरः।**

कृष्ण के विविध नाम उनके विविध रूपों के विमर्श ही तो हैं। उनका रूप, परिव्याप्त है। कृष्ण के रूप-गुण की आसक्ति पैदा करती है। उनके रूपगुण में जीव की प्रवृत्ति उसे संसार से निवृत्त करती है। उसकी रूपासक्ति कथासक्ति में रूपान्तरित हो जाती है। आँखें कान बन जाती हैं। मन उत्सव, उल्लास-लास और प्रह्लाद से भर-भर जाता है। मन का ऐकान्तिक उत्सव लोकोत्सव में रूपायित होता है। रूप-रस-स्पर्श-गन्ध-गमक से चेतना प्रति पद प्रदीप्त हो जाती है। शतकोटि चन्द्रमाओं की कान्ति तथा शीतलता से उसका मन चान्द्रस हो जाता है। कृष्ण के

1. श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध द्रष्टव्य।

अभिराम हैं। उनकी अक्षय मनोहरता मोहन बन आती हैं। मादन और मोहन की श्री बिखरने लगती है। जीवात्मा उन्हें जिस देह में और जिस-जिस रूप में देखना चाहती है वे तदाकृत हो जाते हैं। गीता में स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है—

यो यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।[1]

जिनके चित्त कामगन्धशून्य हो गये हैं—जो निर्धूत दोष हो गये हैं और जिनके मायावरण विगलित हो गये हैं—जिनके अन्तश्चिन्तित वपु प्रेमायुंजन विच्छुरित हैं—जिनकी विर्दह देह में क्षण-क्षण शतसहस्र नेत्र निष्पन्न होते हैं—जिनके शरीर में क्षणानुक्षण सहस्राधिक कर्णरन्ध्र हो गये हैं अर्थात् जिनके चित्त का दर्पण सम्मार्जित हो गया है, उन्हें श्रीकृष्ण के रूप-गुण संकीर्तित होने लगते हैं।

कृष्ण के रूप-गुणानुराग से मोहन-मादन और संस्कृति के श्रीवन विस्फूर्जित होते हैं। कृष्ण का हर भावरूप परमार्थ प्रदर्शक है। वह किसी राष्ट्र का समृद्ध संस्कार है—महदाकर्षण है। आधुनिक युग में श्री भक्तिवेदान्त स्वामी ने अपने प्रेमपल्लव संकीर्तित जीवन से विश्व के शताधिक देशों में कृष्ण चेतना से जनमानस को आनन्दतरंगित और आन्दोलित किया है। कृष्ण की भाव-रूपता पुरंजन जीव को जैसे-जैसे आवृत्त होती जाती है प्रशान्ति और सरसता वैसे-वैसे उसमें स्थित होती जाती है। उनका भाव-रूप आत्म को अध्यात्म बनाता है। यह भावपुरुष उत्तरोत्तर मन:कल्प कर प्रेम-प्रणय-भाव-महाभाव के शाश्वत कल्पवृक्ष पुष्पित करता है। श्रीकृष्ण के नख-शिख में प्रेमी मन की रसयात्रा शत-शत मधुर राग-रागनियों की झंकार भर देती है। उसकी आत्मा 'गीता' और 'भागवत' से भर जाती है। चैतन्य सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण और राधा में कोई भेद नहीं है—

जगत मोहन कृष्ण तोहार मोहिनी।
अतएव समस्ते परा ठाकुरारगी।।

—चैतन्यचरितामृत 1/4/81-85

---

1. श्रीमद्भागवतगीता, अध्याय श्लो०

चैतन्य-सम्प्रदाय की उपासना में श्रीचैतन्य देव श्रीकृष्ण के अवतार हैं। उत्कृष्ट कृष्ण विरहानुभूति के कारण वे श्रीराधावतार भी हैं और उनके अन्तरंग पार्षद् महाभागवत स्वरूप दामोदर महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य को राधाकृष्ण का किलित विग्रह मानते हैं। पुरी के नदीव्ता पंडित सार्वभौम भट्टाचार्य ने उनकी वंदना में लिखा है-

वैराग्य विद्या निज भक्ति योगे, शिक्षार्थम के: पुराण:।
श्रीकृष्ण चैतन्य शरीरधारी, कृपाम्बुधिर्यस्त महं प्रपये।।

-चैतन्य शतकम्

भक्तिमती मीरा ने भी एक पद में उद्गीरित किया है-

अब तौ हरी नाम लौं लागी।
सब जग को यह माखन चोर नाम धर्‌यौ वैरागी।।

गोस्वामी सनातन पाद के शिष्य गौरशरणदास ने बड़ी लक्षक व्यंजक शैली में चैतन्य चरण का स्वरूप अंकित किया है-

प्रमपान छक छकन मत्त वपु लोक व्यक्त कोई गौर हरी।
चपला गति चंद्र से अमी झरै लावन्य छवी कोई गौर हरी।।

भक्ति वेदान्त स्वामी के गुरु भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ने लिखा है कि साधक को श्रीकृष्णोपासना का पूर्णभास हरे गौरोपासना है और सिद्ध की गौरोपासना श्रीकृष्णोपासना है।

कृष्ण रूप-गुण से ही व्यक्ति भारत हैं। भारत भारत है। कृष्ण संस्कृति के विस्तार से ही विश्वभारत हैं। कृष्ण को चाहे जिस रूप में अंगीकृत करें-चाहे उन्हें रूप-पुरुष मानें और चाहे रस-पुरुष, चाहे प्रज्ञा पुरुष मानें और चाहे योग-पुरुष, चाहे भक्तिपुरुष मानें और चाहे कला पुरुष, चाहे उन्हें कर्म-पुरुष मानें और चाहे शलाका पुरुष यह विश्व के मर्मज्ञों की ममता पर निर्भर करता है पर यह सत्य है कि श्रीकृष्ण विश्व की सार्वकालिक संस्कृति के सर्वोत्तम नायक हैं।

1. गोरांगभूषण मंजावली, भाग 2।
2. श्रीगौड़ीय, श्रीकृष्ण जयन्ती अंक, वर्ष 3, अंक 7।

निम्बार्क सम्प्रदाय के श्रीकृष्ण

❀ स्व० डॉ० प्रेमनारायण श्रीवास्तव

पूर्व परात्पर भगवान श्रीकृष्ण भावात्मक एकता के सूत्रधार हैं। उनका स्वरूप इतना व्यापक है कि केवल भारत ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व में उसका अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। यह एकमात्र श्रीकृष्ण भाव की ही विशेषता है कि सम्पूर्ण भारत एकता के सूत्र में बँधा हुआ है। भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, साहित्य कला, नाट्यकला, ललितकलाएँ एवं नाना शास्त्रीय विधि-विधान प्रभूति सशक्त माध्यमों से ही भारत-भाव पुरुष श्रीकृष्ण की झाँकी मिलती है। दूर-दराज का प्रत्येक व्यक्ति भले ही भौगोलिक एवं राजनैतिक कारणों से भिन्न हो, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वह हमारे अति करीब हैं। भारतीय दक्षिणी प्रान्त शिवोपासना बहुल होते हुए भी श्रीकृष्ण भक्ति से आज भी अनुप्राणित दिखाई देता है। प्राय: समस्त भारतीय भाषाओं में श्रीकृष्ण-भाव की भव्य झाँकी के दर्शन होते हैं। विभिन्न भगवत-सम्प्रदाय एवं लोक-साहित्य दोनों श्रीकृष्ण-भाव से ओतप्रोत हैं।

श्रीकृष्ण भावपरक विभिन्न भागवत सम्प्रदायों में 'निम्बार्क सम्प्रदाय' का अपना एक पृथक् ही महत्त्व है। इसकी महत्ता का एक मात्र आधार इसकी प्राचीनता ही है। अन्यान्य वैष्णवाचार्यों की अपेक्षा श्रीनिम्बार्क का ब्रज के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रज-मण्डल में 'ब्रज-निम्बार्कम्' की उक्ति बहुत प्रसिद्ध है। इसके दो आशय हो सकते हैं—एक तो यह कि 'ब्रज' निम्बार्काचार्य का है और वे ही इसके संरक्षक हैं। दूसरा यह कि ब्रजमण्डल में जगद्गुरु निम्बार्काचार्य परम प्रकाश स्वरूप हैं, उन्हीं की शरण ग्रहण करनी चाहिये।

उपर्युक्त 'ब्रज-निम्बार्कम्' का द्वितीय आशय ही अधिक समीचीन जँचता है। इतिहास इसका साक्षी है कि विभिन्न वैष्णवाचार्यों में निम्बार्क ही एक ऐसे आचार्य थे, जिनका आगमन ब्रज में सर्वप्रथम हुआ। आज भी ब्रजमण्डल में निम्बार्क-सम्प्रदाय के मठ-मन्दिरों एवं अनुयायियों की जितनी संख्या है उतनी अन्य किसी भी सम्प्रदाय की नहीं है। यह भी सर्वविदित है कि युगलकिशोर श्रीराधाकृष्ण की मधुर भाव भक्ति के उद्भावक निम्बार्काचार्य ही थे।

साम्प्रदायिक मान्यतानुसार निम्बार्काचार्य का आविर्भाव द्वापर और कलियुग की सन्धिबेला में हुआ था। पं० बलदेव उपाध्याय आदि विद्वान भी निम्बार्काचार्य को सभी वैष्णवाचार्यों में प्राचीन मानते हैं। श्री निम्बार्क ने सुदूर दक्षिण प्रान्त में गोदावरी तटवर्ती 'वैदूरपित्तक' नामक स्थान में एक तैलंगवंशीय ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था। ब्रज वृन्दावन के प्रति अत्यधिक श्रद्धा होने से वे दक्षिण प्रान्त से चलकर ब्रज आये और गिरि-गोवर्धन के निकट आश्रम बनाकर अपने शिष्य परिकर सहित निवास करने लगे। उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया था। वे बाल-वैरागी थे। आश्रम में ही उन्होंने सन्ध्या के समय अतिथि के रूप में पधारे किसी दण्डी संन्यासी (जो सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते थे) को अपने तपोबल से आश्रम के निम्ब वृक्ष पर अर्क (सूर्य) का दर्शन कराकर भोजन कराया था। इसी चमत्कारी घटना से आप विश्व में 'निम्बार्क' नाम से विख्यात हुए। इससे पूर्व आप नियमानन्द के नाम से जाने जाते थे। आपके पिता श्री अरुणातृ ऋषि और माता जयन्ती देवी दोनों जीवन पर्यन्त आपके ही साथ रहे। इसी आश्रम में देवर्षि नारद ने प्रकट होकर आपको श्रीगोपाल-अष्टादशाक्षर-मंत्र का उपदेश दिया था। गोवर्धन के निकट आज भी आपका यह आश्रम 'निम्बग्राम' अथवा 'निम्बार्कतीर्थ' के नाम से सुविख्यात है। हाल ही में अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य ''श्रीजी'' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य द्वारा इसका जीर्णोद्धार कराकर इसे परम दर्शनीय बना दिया है।

श्रीनिम्बार्काचार्य ब्रज और ब्रजेश के रस-रहस्य के उद्भावक तथा पोषक आचार्य माने जाते हैं। व्रजवास के समय उन्होंने वैष्णव धर्म की स्थापना और रक्षा की। इससे पूर्व लोग वैष्णव धर्म से भलीभाँति परिचित नहीं थे। दीर्घकाल पर्यन्त ब्रज में निवास कर अपने नानाविध लोकहितकारी (चमत्कारी) कार्यों से सम्पूर्ण लोक को चमत्कृत करते हुए भक्ति, धर्म एवं दर्शन का मार्ग प्रशस्त किया। अपने भक्ति सिद्धान्त में उन्होंने पाँच वस्तुएँ ज्ञेय बतलाई हैं। इन पाँचों वस्तुओं का प्रत्येक प्राणी को जानना परमावश्यक है। वे पाँच पदार्थ इस प्रकार हैं—

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च,
कृपन्यतं भक्तिरसस्ततः परम।।
विरोधितो रूपकजैतदाप्ते
र्शेयइमे अथा अपि पंचसाधुभिः।।

(वेदान्तकामधेनु)

"अर्थात् उपास्य का स्वरूप, उपासक का रूप, उपासना प्रणाली, उपासना का पल और उक्त चारों वस्तुओं के जानने में बाधा डालने वाली वस्तु इन पाँचों वस्तुओं का ज्ञान प्रत्येक साधक को (अवश्य) होना चाहिये।"

"नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्" कहकर श्रीनिम्बार्क ने जीव की एकमात्र उक्ति श्रीकृष्णचरणारविन्दों में ही मानी है। साथ ही उनके वामाङ्ग में विराजमान, सहस्त्रों सखियों से परिसेवित अनुरूप सौरभ किशोरी श्रीराधा का स्मरण कर श्रीनिम्बार्क ने अपनी माधुरी भक्तिपूर्ण उपासना की ओर भी इंगित कर दिया है। यथा—

अंगे तु बामे वृषभानुजामुदा
विराजमानांमनुरूप सौभगाम्।
सखीसहस्त्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम् देवीं सकलेष्ट कामदाम्।।

(वेदान्तकामधेनु)

कहना न होगा कि वैष्णव धर्मोपासना में 'श्रीराधा' की यह महत्ता सर्वप्रथम निम्बार्क-सम्प्रदाय में ही स्वीकृत हुई। निम्बार्काचार्य उपासना-पद्धति में वृन्दावन वास पर विशेष बल दिया गया है। श्रीराधाकृष्ण की रसमयी मधुर उपासना का एकमात्र केन्द्र श्रीवृन्दावन धाम है, जिसके कण-कण में मूर्तिमान भक्तिरस निरन्तर छलकता रहता है। इस पावन रस-भूमि में भक्ति निरन्तर नृत्य करती रहती है। निम्बार्कीय परम्परा के आचार्य कवि श्री श्रीभट्ट जी तो वृन्दावन-वास की सीमा से बाहर 'श्रीहरि' का दर्शन ही नहीं करना चाहते—भले ही इसके बदले में उन्हें कोटि-कोटि चिन्तामणियाँ ही क्यों न मिल रही हों। वे अपने 'युगलशतक' नामक काव्य ग्रन्थ में कहते हैं—

अरे मन वृन्दाविपिन विहार।
विपिनराजि सीमा के बाहर, हरिहूँ कूँन निहार।।
जद्यपि मिलै कोटि चिन्तामणि, तदपि न हाथ पसार।
जै श्रीभट्ट धूरि धूसिततनु यह आसा उरधार।।

निम्बार्कीय भक्त की बस यही सबसे बड़ी अभिलाषा होती है कि येन-केन-प्रकारेण उसका श्रीवृन्दावन से अविरल सम्पर्क बना रहे तथा उसका शरीर ब्रजधूलि से सदैव धूसरित रहे। आज वृन्दावन में जो भाँति-भाँति के भवन बन गये हैं, उनमें वह नहीं बैठना चाहता है। वास्तव में पहले वृन्दावन का वह रूप नहीं था, जो आज दिखाई देता है। विभिन्न भवनों के संघट का नाम वृन्दावन नहीं है, प्रत्युत नाना प्रकार की लता-पत्ता कुंज एवं तरु-राजि का नाम वृन्दावन है।

आज प्राचीन वृन्दावन के वास्तविक रूप की झाँकी वृन्दावन में केवल पाँच स्थलों पर ही देखने को मिलती है। प्रथम सेवाकुंज, द्वितीय निधिवन, तृतीय किशोरवन, चतुर्थ टटिया स्थान और पंचम यह वृन्दावन शोध संस्थान, जहाँ हम सभी अपने किन्हीं अनन्त-अनन्त संचित पुण्यों के फल से एकत्र हुए हैं। इस शोध संस्थान का केवल भवन आपको आधुनिक दिखाई दे सकता है, शेष सब कुछ प्राचीन वृन्दावन की मधुर

स्मृति दिखाता है। जब भी आपको थोड़ा-सा अवसर मिले इस भवन से निकलकर उसके चारों ओर विस्तीर्ण, प्राचीन वृन्दावन के वैभव की झाँकी अवश्य करें। वैसे इस शोध संस्थान के भवन का आन्तरिक पक्ष भी आपको वृन्दावन की प्राचीनता से देदीप्यमान दृष्टिगोचर हो सकता है—कदाचित् आपकी दृष्टि इसमें संगृहीत प्राचीन हस्तलिखित दुर्लभ वाणी संग्रह की ओर चली जाय तो! वृन्दावन का तो पलभर का विश्राम भी बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। कोई ब्रजनिष्ठ कवि कहते हैं—

वृन्दावन एक पलक जु रहिये
जन्मजन्म की घोर कल्पना पल में दूर बहइये।। आदि।।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपनी छोटी ही उम्र में कई बार वृन्दावन आये थे। वृन्दावन आकर वे अपना अधिक-से-अधिक समय निधिवन व सेवाकुंज में ही व्यतीत करते थे। वृन्दावन का नगरीकरण उन्हें बहुत खटका था। वे वृन्दावन की लता-पता-कुंजों को काटकर भवन निर्माण करने के पक्ष में कभी नहीं रहे। इस वेदना को उन्होंने अपने एक पद की एक पंक्ति में व्यंजित किया। यथा—

''काहि रहे नरकु मि चलि कें नित तरु लतान के पुंज।
दर्शन कूँ बस रहि गये निधुवन सेवाकुंज।।''

निम्बार्क सम्प्रदाय की हरिदासी शाखा के विरक्त आचार्य कोटि के कवि स्वामी रसिकदेव की वृन्दावन और व्रजरज के प्रति कितनी अनन्य निष्ठा थी, उसे इसमें देखा जा सकता है—

भाग बड़ो वृन्दावन पायो।
जा रज कूँ सुरनर मुनि बांछत विधि शंकरसिर नायो।।
सो रज दई कृपा करि स्यामहिं औ निसान बजायो।..आदि

श्रीस्वामी रसिकदेव जी मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले के रहने वाले थे। ठेठ बुन्देलखण्डी थे। उन्होंने आजीवन वृन्दावनवास करते हुए सरस काव्य-रचना की थी।

श्री श्रीमद्देवाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीहरिव्यासदेव ने अपने ग्रन्थ 'महावाणी' में ध्रुव-नित्यविहार-रस संचलित उज्ज्वलरस की उपासना पद्धति तथा मधुर रस ने भी उत्कृष्ट भाव अपनी सरस प्रांजल भाषा में व्यक्त किये हैं। उन्होंने श्रीराधा का वर्णन उदात्त तत्त्व के रूप में किया है। व्याकरण आगम के अनुसार जिस शब्द ब्रह्म से सृष्टि की गणना होती है, वह श्रीराधाकिशोरी के चरण कमलों में धारण किये गये नूपुर का कलरव मात्र है। जैसे—

श्रीराधा पद कमलते, नूपुर कलरव होय।
निर्विकार व्यापक भयो, शब्द ब्रह्म कहि सोय।।

निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा को कृष्ण की परमाह्लादिनी शक्ति के रूप में माना जाता है। राधा और कृष्ण का यह पारस्परिक सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। राधा के बिना न तो कृष्ण की स्थिति है और न कृष्ण के बिना राधा की। नाम से दो होने पर वे स्वरूप से वस्तुत: एक हैं। श्रीहरिव्यास देव कहते हैं—

एक स्वरूप सदा है नाम।
आनन्द की आह्लादिनी स्याम,
आह्लादिनी के आनन्द स्याम।''.....महावाणी

निम्बार्कीय उपासना पद्धति में सखीभाव से राधाकृष्ण की अष्टयाम-सेवा पर विशेष बल दिया गया है। यह सखी-भाव युगलकिशोर श्रीश्यामाश्याम के नित्यविहार रस से सम्बद्ध माना जाता है। नित्य विहार-रस के विधायक तत्त्व चार हैं—राधा, कृष्ण, सखी व वृन्दावन। ये चारों नित्य कैशोरावस्था में विद्यमान रहते हैं। श्रीहरिव्यासदेवाचार्य के अनुसार प्रिया-प्रियतम के इस नित्य विहार रस-पान का अधिकारी वह होता है जो रसोपासना के दसों सोपानों को दृढ़तापूर्वक पान कर लेता है। ये दस सोपान इस प्रकार हैं—

पहले रसिक जनन करें सेवै, दूजी दया हिये धरि लेवैं।
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनि है, चौथी कथा अतृप्त है सुनियै।

पंचम पदपंकज अनुस्यौ, षष्ठी से अधिकता पागे।
सप्तम प्रेम हिये विरमायै, अष्टम रूप ध्यान गुन जावै।।
नवमी दृढ़ता निहचै गहिहे, दशमी रस की सरिता बहिवै।।

—महावाणी

कहना न होगा कि निम्बार्कीय उपासना में रसोपासक उक्त क्रम से साधना करता हुआ कालान्तर में अपने लीलोपयोगी रूप अर्थात् सखी भाव को प्राप्त करके ही प्रिया-प्रियतम से नित्य विहार-लीला का साक्षात्कार कर सकता है। यह सखी भाव वेशसित न होकर भाव सिद्ध ही सदैव रहता है। नित्यकिशोरी राधा की सहस्र-सहस्र सखियों में ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पक-लता, रंगदेवी, सुदेवी, तुंगविद्या तथा इन्दुलेखा इन अष्ट सखियों की प्रधानता है।

श्रीहरिव्यासदेव जी अपने समय के बड़े ही तेजपुंज एवं अनन्य रसिक सन्त थे। उन्होंने अपने तेजबल से देवी को भी वैष्णवी दीक्षा प्रदान की थी। भक्तमालकार ने लिखा है—"हरिव्यास तेज हरिभजन बल, देवी कों दीक्षा हुई।"

सिद्धान्तपक्ष—जगद्गुरु निम्बार्काचार्य ने जिस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रवर्तन किया, वह द्वैताद्वैत-सिद्धान्त के नाम से सुप्रसिद्ध है। उनका प्रत्येक उपदेश व अर्चना पद्धति वेदान्तसिद्ध है तथा वेदान्त के लक्ष्य की ओर ही उन्मुख हुई है।

दर्शनशास्त्र की दो प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं—

खण्डनात्मक और समन्वयात्मक। खण्डनात्मक प्रवृत्ति जहाँ सापेक्ष, सविकल्प और आग्रहयुक्त होती है, समन्वयात्मक की सिद्धि एवं सफलता का एकमात्र आधार यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति ही है। निम्बार्काचार्य सभी वैष्णवाचार्यों में सर्वाधिक समन्वयवादी प्रतीत होते हैं। उनके द्वारा प्रवर्तित द्वैताद्वैत सिद्धान्त उनकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष संकेत करता है।

श्रुतियाँ द्वैत और अद्वैत दोनों मतों का प्रतिपादन करती हैं। इस स्थिति में यदि केवल अद्वैतवाद का समर्थन किया जाय तो द्वैतवादिनी श्रुति स्वगति में बाधित होती है और यदि विशुद्ध भाव से केवल द्वैतवाद का प्रतिपादन किया जाय तो अद्वैतवादिनी श्रुति का निषेध होता है। वेद ब्रह्मस्वरूप होने के कारण सर्वज्ञात्मक एवं ज्ञानरूपात्मक हैं। यदि उनका तात्पर्य द्वैत और अद्वैत में से किसी एक ही वाद में होता, तो उनमें उसी एकांगीवाद का प्रतिपादन करने वाले मंत्र मिलते, किन्तु ऐसा नहीं है। गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि वेदों का तात्पर्य द्वैताद्वैत मत के प्रतिपादन में ही निष्पन्न हुआ है। इसी वास्तविक तथ्य को हृदयंगम कर निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत मत का प्रवर्तन किया।

निम्बार्काचार्य के अनुसार जीव तथा जगत् का ब्रह्म से इतना ही भेद है, जितना तरंगों का समुद्र से। जिस प्रकार तरंगें समुद्र से अभिन्न होकर भी भिन्न हैं, क्योंकि तरंगों को ही तो समुद्र नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जीव-जगत भी ब्रह्म से अभिन्न होकर भी भिन्न है। वस्तुतः ब्रह्म का चिदचित् से यही सम्बन्ध है। कार्य-कारण सम्बन्ध पर विचार करने से इस मत की पूर्ण पुष्टि हो जाती है। जिस प्रकार घट अर्थात् कार्य मिट्टी अर्थात् कारण से भिन्न भी है और अभिन्न भी। घट और मिट्टी दोनों की सामग्री एक होने से उनमें अभिन्नता है, परन्तु दोनों के नाम-रूप-आकार आदि पृथक्-पृथक् होने से उनमें भिन्नता भी है। इसी प्रकार जगत् अर्थात् कार्य अपने ब्रह्म अर्थात् कारण से भिन्न भी है और अभिन्न भी। यह सम्बन्ध स्वाभाविक है, मिटाया नहीं जा सकता। अतएव जगद्गुरु निम्बार्काचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त स्वाभाविक द्वैताद्वैत के नाम से विख्यात है। उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में इसका विस्तार से वर्णन किया है।

निम्बार्काचार्य सालोक्य, समरूप्य, सामीप्य और सम्पूज्य-मुक्ति चतुष्ट्य का अनुमोदन करते हुए सामीप्य-मुक्ति को ही प्रधानता देते हैं। उनकी दृष्टि में मधुर भक्ति से परमात्मा का जीवन्त साहचर्य प्राप्त कर

लेना ही जीव की वास्तविक मुक्ति है। उनके दार्शनिक मूलवाद का यही सार है। वस्तुत: निम्बार्क सम्प्रदाय एक आदि वैदिक सत्-सम्प्रदाय है, जिसमें अनुरंगात्मिकता वैधी भक्ति की प्रधानता है। इसमें भारतवर्ष के प्राय: सभी प्रान्तों का प्रतिनिधित्व करने वाले आचार्य एवं भक्त कवियों की एक अच्छी सूची तैयार की जा सकती है। सुप्रसिद्ध केशव कश्मीरी भट्टाचार्य कश्मीर प्रान्त के थे। परशुरामदेवाचार्य राजस्थान प्रान्त के आचार्य कोटि के कवि थे। तत्त्ववेत्ता मारवाड़ से ब्रज में आकर बसे थे। गोविन्ददेव जी का क्षेत्र राजधानी दिल्ली थी। आचार्य कोटि के कवि गोविन्दशरण देव गुजरात प्रान्त से सम्बन्धित थे। श्री स्वयंभूदेवाचार्य का जन्म पंजाब प्रान्त में हुआ था। श्रीरसरंग जी काशी के मुसलमान थे, जो वृन्दावन आकर ललितमोहिनी देव के शिष्य हो गए थे। इन्होंने बड़ी सुन्दर कविता की है। एक छन्द प्रस्तुत है-

तेरे महबूब बाँके ने चरन की चोट मारी है,
खड़ा है सामने ही में जरा नहिं पलक टारी है।
जिलाया उसी ने सबको जिनो यह उमर भारी है,
तड़पता कदी न जीता, बिछोहा दर्द भारी है।।

इस प्रकार पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण एवं मध्य भारत के इन पाँचों भागों में निम्बार्क सम्प्रदाय विस्तीर्ण है, शायद ही कोई प्रान्त हो जिसमें निम्बार्कीय-कृष्ण भक्तिधारा प्रवाहित न हुई हो। भारतेतर देशों में भी इस धारा का प्रवाह वर्तमान में दृष्टिगोचर हो रहा है। नेपाल देश में इसके हजारों अनुयायी देखने को मिल जाते हैं। ब्रज वृन्दावन तो निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र है। वर्तमान जगद्गुरु निम्बार्काचार्य 'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य का सम्पूर्ण भारतवर्ष में बहुत अच्छा प्रभाव दिखाई देता है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय के संदर्भ में भारत भाव पुरुष श्रीकृष्ण की झाँकी अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

●●

राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण

❀ डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण ही रसिक किशोर रूप में एकमात्र नित्य विहारी पुरुष हैं। उनकी परा प्रकृति श्री राधा हैं जो चित्-अचित् विशिष्ट आह्लादिनी निज शक्ति रूपा हैं। सारा चराचर जगत् इन्हीं रसिक युगल किशोर का प्रतिबिम्ब है। श्री राधा प्रकृति रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। जीवरूपा सखियाँ ही उनकी सहचरियाँ हैं। भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम, परात्पर ब्रह्म के भी आदि कारण और ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। भागवत पुराण में इसीलिये कहा है—**'एतेचांश कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'** पद्मपुराण में भी यही भाव दूसरे शब्दों में व्यक्त हुआ है— **'विष्णुर्महान् यस्य कला विशेषो गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।'** श्रीकृष्ण को यहाँ मूर्तिमान शृंगार मानकर उनकी उपासना के भावों में से मधुर और शृंगार को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। श्रीकृष्ण के वर्णन के लिये उनके तीन रूपों का वर्णन प्रायः सभी वैष्णव सम्प्रदायों में मिलता है— श्री वृन्दावनविहारी कृष्ण, मथुरावासी कृष्ण और द्वारकावासी कृष्ण। मथुरा और द्वारका में श्रीकृष्ण का स्वरूप ऐश्वर्य, श्री, ज्ञान, वैराग्य, शक्ति आदि भावों से परिपूर्ण है। वे ब्रह्मनिष्ठ योगी और कर्त्तव्यनिष्ठ क्षत्रिय के रूप में रहते हैं किन्तु वृन्दावन में उनका रूप सर्वथा नूतन माना जाता है। ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्ति, पराक्रम को अन्तर्लीन कर प्रेम और माधुर्य की साक्षात् मूर्ति बन वे गोप-गोपियों के साथ लीलारत रहते हैं। वे राधापति होकर रसराज शृंगार के सौन्दर्य-मण्डित रूप का विस्तार करते हैं। ब्रजमण्डल के माधुर्य भक्ति-परक सम्प्रदायों में यही रूप गृहीत हुआ है। यहाँ नित्य किशोर कृष्ण को ललित केलि लीलाओं का विधायक

मानकर उनको कान्ता भाव का स्रष्टा कहा गया है। ब्रजरस और ब्रज विहार में जिस श्रीकृष्ण का वर्णन गौड़ीय आदि सम्प्रदायों में किया गया है वे गोपियों के पति न होकर उपपति हैं। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को उपपति रूप में स्वीकार नहीं किया गया। श्रीकृष्ण जिस परिवेश और जिन परिकरों में रहते हैं वे भी स्व और पर के भेद से रहित हैं, वे सदा एकरस होकर नित्य विहार की लीला में लीन रहते हैं। 'राधा-सुधानिधि' में इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन मिलता है—

यद्वृन्दावन-मात्र गोचरमहो यन्नश्रुतीकं शिरो—
प्यारोढुं क्षमते न यच्छिव शुकादीनां तु यद्ध्यानगम्।
यत्प्रेमामृतमाधुरी रसमयं यन्नित्य कैशोरकं
तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लीलायमानं मम।।

—'राधासुधानिधि', श्लोक सं० ७६

अर्थात् जो केवल वृन्दावन में ही दृष्टिगोचर होता है, अन्यत्र नहीं; जिसका वर्णन करने में श्रुति शिरोभाग (उपनिषद्) भी समर्थ नहीं; जो शिव, शुक्र आदि के ध्यान में भी नहीं आता; जो प्रेमामृत-माधुरी से परिपूर्ण और नित्यकिशोर है; उस कृष्ण के रूप को देखने के लिए मेरे नेत्र चंचल हो रहे हैं।

अर्चावतार के रूप में श्रीकृष्ण को नित्यविहारी राधावल्लभ-रूप में यहाँ ग्रहण किया जाता है। राधावल्लभ साम्प्रदायिक नाम है जिसमें राधा के वल्लभ प्रिय (कृष्ण) की उपासना का निर्देश इस बात का संकेत करता है कि इस सम्प्रदाय में उस कृष्ण की उपासना है जो राधा की स्वयं आराधना करता है। सेवक जी ने अपने एक पद में कहा है—

राधावल्लभ भजत भजि भली भली सब होइ।
त्रिविध ताप नासहिं सकल सब सुख सम्पति होइ।।
सब सुख सम्पति होइ, होइ हरिवंश चरण रति।
होइ विषय विषनाश, होइ वृन्दावन सब गति।।

होइ सुदृढ़ सत्संग होइ रस रीति अगाधा।
होइ सुजस जग प्रकट होइ पद प्रीति सुराधा।।

—'सेवक वाणी', दसवाँ प्रकरण, पद संख्या ६

'हित चौरासी' में श्रीकृष्ण के रूप का राधा से पृथक् स्वतन्त्र वर्णन नहीं के बराबर है। यों तो प्रत्येक पद में राधा-माधव की केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन है किन्तु कृष्ण का विशिष्ट स्वरूपाख्यान हित महाप्रभु ने नहीं किया। हाँ, पद संख्या ६३ में 'मोहन मदन त्रिभंगी, मोहन मुनि मन रंगी' कहकर विस्तार से कृष्ण की रूप, छवि, शक्ति-सौन्दर्य, शील का चित्र अंकित किया है जिसका भाव इस प्रकार है :

"मोहन (कृष्ण) मदन (कामदेव) का भी सम्मोहन करने वाले ललित त्रिभंगी हैं। वे मुनियों को भी आनन्दित करने वाले हैं। मुनिमन-मोहन गोपाल गुणों में गम्भीर और परम आनन्द की मूर्ति हैं। उनके माथे पर मुकुट, कानों में मणिमय कुंडल और वक्षस्थल पर सुन्दर वनमाला शोभित है। वे मोहन मनमोहक वंशी बजा रहे हैं और वंशीरव से ब्रज-वनिताओं को बुला रहे हैं। ब्रज वनिताएँ कृष्ण के पास सब बंधु-बांधवों को त्यागकर आयीं और उन्होंने काम-ताप का नाश किया। तदुपरान्त कृष्ण ने ब्रज वनिताओं के साथ कदम्ब वृक्ष के नीचे रास रचना की। इस रास के दृश्य ने सबको आकृष्ट कर लिया। पशु-पक्षी, लता-गुल्म, गिरि-निर्झर सभी मुग्ध होकर इस लीला को देखने लगे। श्रीकृष्ण का यह रूप सबको मनोमुग्धकारी प्रतीत हुआ।" आदि

प्रेम-सर्वस्व तथा प्रेम करने के उचित अधिकारी एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं और कोई प्रेम का रहस्य न तो जानता है और न प्रेम करने का योग्य अधिकारी है; ध्रुवदास जी कहते हैं :—

एकै प्रेमी एक रस, श्री राधावल्लभ आहि।
भूलि कहै जौ और ठां झूठौ जानौं ताहि।।

संक्षेप में इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व नहीं दिया गया वरन् प्रेम का आधार मानकर उनका वह रूप वर्णित किया

गया है जो राधा के कृपाकटाक्ष की आकांक्षा रखकर नित्य विहार में लीन रहता है। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण को इस सम्प्रदाय में उपास्यदेव तो माना गया है किन्तु राधा के अनुषंग से ही उसकी उपासना है। प्रधान पद राधा का है। इसी कारण राधावल्लभ रूप में तो स्वतन्त्र कृष्ण का कोई अस्तित्व नहीं माना गया। नित्यविहार की स्थिति में प्रियतम के रूप में कृष्ण का स्थान है। अत: हमने सांकेतिक रूप से यह परिचय लिखा है।

(साभार-राधावल्लभ सम्प्रदाय; सिद्धान्त और साहित्य)

●●

वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन–संगीत में श्रीकृष्ण भावनामृत

❀ श्री प्रपन्नाचार्य

श्रीमद्भागत की प्रेम–पयस्विनी, गीत–गोविन्द की कोमलकान्त सरस्वती तथा विद्यापति सरस पदावली और मीरा की संगीत मंदाकिनी के प्रसवित होने के समय से लेकर आजतक न जाने कितने कवियों ने गोविन्द गुण–गान किया, न जाने कितने प्रेमी सन्तों ने और संगीतज्ञों ने श्याम मूर्ति को नयनों में धारण किया पर उन वल्लभ सम्प्रदाय के अष्ट सखाओं के स्वरों की कुछ बात ही निराली थी, जिनके हृदय से वह श्याम मूर्ति क्षण भर भी इधर–उधर नहीं गयी—

चलत चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदे ते वह स्याम मूरति, छिन न इत उत जात।।

इन अष्ट सखाओं में भक्ति की पुण्य भूमि पर संगीत की दिव्य साधना की—इस प्रकार उन्होंने अपना अस्तित्व ही हरि गुण गान में लीन का दिया था। सोई रसना जो, हरि गुण गावे, के विदूवासी इन दिव्य कवियों और संगीतज्ञों के लिये सौ बातन की एकै बात 'यही थी कि इन्होंने अपने पदों द्वारा हरि हीर हीर हरि सुमिरन करौ' के आधार पर सगुण लीला के पदों का गायन किया और इस कायमय संगीत को हरि चरणारविन्द में अर्पित कर शस्त्रीय संगीत को दिव्य रूप प्रदान किया।

ये सभी भक्त कवि कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास (श्री आचार्य वल्लभ के शिष्य) गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास, नंददास (श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य कवि होने के साथ–साथ कीर्तनकार भी थे। उन्होंने संगीत को भक्ति के आध्यात्मिक लोक में प्रवेश कराया। कवियों ने कीर्तन के अन्तर्गत भगवान के गुण, लीला तथा

नाम का कथन अनियमित स्वरों में नहीं किया, वरन् उन्होंने उसको शास्त्रीय संगीत का रूप दिया। संगीत का प्रभाव जीव मात्र पर समान रूप से पड़ता है। मनुष्य ही नहीं पशुओं को भी यह अत्यन्त प्रभावित कर देता है। मन की चंचल वृत्तियाँ संगीत रस में मग्न होकर केवल श्रवणेन्द्रिय शक्ति में ही केन्द्रीभूत हो जाया करती हैं। मन एकदम अन्य विषयों से हटकर एक विचित्र आह्लादिनी स्थिति में तल्लीन हो जाता है। इसी कारण कीर्तन के रूप में इस मधुर कला को मन का निरोध करने के लिये साधन के रूप में अपनाया। इसी क्रम में 12वीं शताब्दी से चली आती हुई, संस्कृत कवि जयदेव के कृष्ण भक्तिपूर्ण संगीत को अपने समय में इन भक्त कवियों ने शुद्ध शास्त्रीय रूप दिया। यही कारण है कि उस काल के एक कवि ने सूरदास के संगीत ज्ञान के विषय में लिखा है—

हाथ सितारों सुर कर्‌यो, मुख में मधुरा बोल।
कान्हूरे[1] के रंग में, सूरदास को चोल।।

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों का वह समय था, जबकि अकबर के दरबार में तानसेन, बैजू और बाबा रामदास अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा संगीत को अनुपम कला का रूप प्रदान कर चुके थे। ब्रज में निवास करने के कारण स्वामी हरिदास की स्वर-लहरी और गायन पद्धति का भी सूरदासजी आदि को अवश्य ज्ञान होगा। एक स्थान पर सूरदास जी अपने संगीत ज्ञान के कारण तानसेन की तान पर दाद देते हैं—

विधिना अस जिय जानकै, सेसहि दिये न कान।
धरा मेरु सब डोलते, सुन तानसेन की तान।।

सूरदास जी ने तो अपनी रचना में भी स्वयं को कवि के साथ संगीतज्ञ होना भी स्वीकार किया है।[2] उन्होंने दोहे[3] तथा कवित्त[4] भी राग-रागनियों में बाँधे हैं। अत: हम कह सकते हैं कि सूरदास काव्य और भक्ति के क्षेत्र में आने से पूर्व अवश्य ही एक अच्छे संगीतज्ञ रहे होंगे।

अष्टछाप काव्य के संगीत पक्ष की ओर अभी तक विद्वानों का पूर्ण ध्यान नहीं गया है। इसका मूल कारण यह है कि साहित्य-प्रेमी के

लिये संगीत-ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। सूर के अनेक पद ऐसे हैं, जिनमें उनके संगीत ज्ञान पर प्रकाश डाला जा सकता है। संगीत के तीनों[5] पक्षों को सूरदास ने अपनी रचना में प्रस्तुत किया है। निम्न पद में नाट्य शास्त्र के अनुसार नृत्य के बोल का एक अंग, जो कत्थक प्रणाली में आता है—अत्यन्त सुन्दरता के साथ प्रयोग किया गया है—

घोष नागरी मण्डल, मध्य नाचत गिरधारी लाल,
लेत गति अनेक भाँति चरन पटकनी।
गिडगिडता[6] गिडगिडता ताता तत ता तत थेई-थेई,
बीच बीच मधुर-मधुर मुरलिका मटकनी।
भुज से भुज जोरि जोरि, लेत तान नव किशोर,
गाव श्री राग मिलि ग्रीव लटकनी।
सूरदास प्रभु सुजान नंद-नंदन कुँवर कान्ह,
मदन मोहन छवि निरखि काम सटकनी।।

उपर्युक्त पद में मुरली-वादन, नृत्य के साथ बोल और श्री राग के स्वर एक साथ मुखरित हो उठे हैं। 'सूर-निर्णय' के रचयिता डॉ० प्रभुदयाल मीतल ने साहित्यिक दृष्टि के अन्तर्गत केवल रासलीला उत्सव के रूप में माना है।[7]

सूरदास ने निम्नांकित पद में संगीत के आरोह-अवरोह में सप्त स्वरों की प्रधानता को स्वीकार किया है—

नंद नंदन सुघराई मोहन बन्सी बजाई।
स रे ग म प द ध नी सा में सप्त सुरन गाई।
अतीत अनागत संगीत नित तान मिलाई।
सुर बाल नृत्य ध्याई, पुनि मृदंग बजाई।।[8]

प्राचीन कीर्तन परम्परा के अनुसार आज भी वल्लभ सम्प्रदाय के देवालयों में ध्रुवपद व धकार शैली की परम्परा को अपनाया जाता है। कीर्तन की पोथियों में पदों के शीर्ष पर अथवा मूल पद में ध्रुवपद शैली का निर्देश (संकेत) तथा ध्रुवपद के साथ बजने वाली तालों का भी

निर्देश मिलता है। इनमें चौताल रूपक आदि ताल-अठताल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

''चौताल अठताल ध्रुवा मिलत नयौ चन्द्रमा नवल प्रकास''

(कृष्णदास-पद-280)

''केदार राग रवि रूपक ताल'' (कवि-वही, पद-287)

''चर्वन ताम्बूल देत 'ध्रुवतालहि गतिहि लेत''

(कुंभनदास-पद-15)

भक्त कवियों की रचनाओं के अन्तर्गत ध्रुवपद के साथ बजने वाले मृदंग अथवा पखावज के बोलों का भी समावेश है, जैसे—

''ग्र ग्र ताकेट, धु धु धु धिधिकर मृदु मृदंग बाजै''

(छीतस्वामी, पद-15)

''सुरध्याय, ताल ध्याय, नृत्य ध्याय निपुन, लघु-गु जति पुलक मेद मृदंग बजावै''

(सूरदास मदन मोहन : जीवनी-पदावली-पद-146)

वार्ताओं में भी पखावज और मृदंग आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है।[9]

'ध्रुव' शब्द का अर्थ भी पवित्र, अनन्त, दिव्य तथा नित्य है तथा पद शब्द का अर्थ गीति या गान अर्थात् जो विशिष्ट देवी-देवताओं की स्तुति व आराधना के लिये गाया जाय-ऐसा सुन्दर व प्रभावपूर्ण नित्य दिव्य गान।

'धमार' लाल भी ध्रुवपद के ही समान अंगों से युक्त है। परन्तु मुख्य पूरक अन्तर यह है कि ध्रुवपद चार ताल सात ताल आदि तालों में गाया जाता है, परन्तु धमार-गायन में धमार ताल ही बजाई जाती है। धमार के अन्तर्गत अष्टछाप के कवि भगवान की लीलाओं में अधिकतर राधा-कृष्ण की होली लीला का वर्णन करते हैं।[10]

वार्ताओं में गोविन्द स्वामी द्वारा धमार गायन करने का उल्लेख मिलता है—''सो गोविन्द स्वामी ठाड़े-ठाड़े मणि कोठा में कीर्तन करत

धमार गावत हुते।'' यह मत है कि इन कवियों द्वारा कीर्तन में ध्रुवपद धमार, ताल-शैली की ही विशेषता रही।

संगीत-शास्त्र के अनुसार षड्ज, दिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद-सात स्वर हैं-इन्हीं स्वरों को तीव्र और कोमल बनाकर राग और रागनियों का नाम समय के अनुसार दिया जाता है। संगीत पारिजात में सप्तस्वरों के विषय में विस्तार से लिखा है। शार्ङ्गदेव ने भी लिखा है—

''तेषां संज्ञाः स रे ग म प ध नी व्यपरामताः''

'सूरसागर' के अनेक रासलीला के पदों में तथा सारावली के निम्न पद में सूर ने राग और रागनियों के नाम लिखे हैं[13]—

ललित ललित बजाय रिझावत मधुर बीन कर लीने।
ज्ञान प्रभाग राग-पंचम नर मालकोष रस भीने।।
सुर हिडोल मेघ मालव पुनि सारंग-सुर नर जान।
सुर सावन्त भूपाली ईमन करत कान्हरो गान।।
ऊँछ अड़ाने के सुर सुवियत निपर नायकी लीन।
करत बिहाग मधुर केदारो सकल सुरत सुरत दीन।।
सोरठ गाँड़-मल्हार सुहाबन भैरव ललित बजायो।
मधुर विभास सुनत बेलावल दम्पति अति सुख दायौ।।
देव गिरि देज्ञाक देव पुनि गौरी श्री सुख रास।
जैतश्री और पूर्वी तैगि आसावरि सुख भास।।
रामकली गुनकली केतकी सुर सुघराई गाये।
जै जैवन्ती जगत मोहनी सुर सों बीन बजाये।।

उपर्युक्त पद में छत्तीस प्रधान रागनियों के नाम कवि[14] ने बड़ी कुशलता के साथ चित्रित किये हैं। 'संगीत-रत्नाकर' के आधार पर सूर ने भी छः यह राग और छत्तीस रागनियों को प्रधानता दी है। महारास के समय का निम्नलिखित पद अष्टछाप के शिरोमणि कवि सूरदास के शास्त्रीय-संगीत ज्ञान का स्पष्टीकरण करता है। पद में आलाप, मृदंग के

बोल, वाद्यों के नाम तथा नृत्य के टुकड़े अत्यन्त स्वाभाविक रूप से चित्रित किये गये हैं[15]–

(ए, ए, ए, ए, ए, ए) श्रीनंदनंदन नत्तत सुघंग। (नत्तत सुघंग)[16]
वृन्दावन जमुना तट, अमित मनमथ मद-विमरदन।
सघन कुँजन मंजु, अभिनव जलज सुन्दर अंग।।
(ए) तन दिपत दामिनि द्युर्सकारी सुख-सुधाकर मान हारी।
भ्रकुटी कुटिल कटाच्छ-संजुत चपल नैन कुरंग।।
(ए) संग गोपिन बीच राजति, भूषन मनिमय किस झलकत।
स्त्रबन कुण्डल गंड मंडित, सुभग बसन सुरंग।।
(ए) कंठ ताल अरु मंजीर, बंसी, मुरज, बीन रबाब।
ढफ, आनक, महुबर, उपंग, झाँझ, किन्नरी मुख चंग।।
तत तादिक दिमन द्रिम द्रिम मृदंग–
बाजत थेई ताथेई ता तत्ततादि दुरंग।।
सुर-गन बिमाननि चढे ब्रह्मा, रुद्र, नारद, इन्द्र पुलकित।
सूर जय, जय, जयति, जय, जय, जयति ललित त्रिभंग।।

अष्टछापी कीर्तनकारों के पद बहुसंख्यक राग-रागनियों में उपलब्ध होते हैं। इनमें जहाँ सूरदास के पद संख्या में सर्वाधिक हैं। वहाँ उनकी राग संख्या भी अधिक है। फिर भी प्रत्येक कीर्तनकार की अधिक रुचि के कुछ थोड़े ही राग थे। जैसे सूरदास के सर्वाधिक पद बिलावल और सारंग रागों में मिलते हैं। उनके कम पद क्रमशः धनाश्री, मलार, गौरी, तट, कान्हरा, बिहाग, केदारा आदि में हैं। अष्टछाप के अन्य कीर्तनकारों के प्रिय राग भी सारंग, बिलावल, कान्हरा, धनाश्री, गौरी, केदारा आदि थे। इन सबके पदों में सारंग राग की अधिकता होने के कुछ विशेष कारण जान पड़ते हैं। सामान्यतया सारंग राग सर्वकालिक और विशेषतया मध्याकाल का राग है। सर्वकालिक राग होने से उसमें गाये जाने वाले पदों का अधिक होना स्वाभाविक है। यह एक कारण है। दूसरा कारण यह है कि दूसरे प्रहर के समय श्रीनाथ जी की राजभोग की

झाँकी होती थी, जिसमें प्राय: सभी कीर्तनकार सामूहिक रूप से कीर्तन-गायन किया करते थे। अतएव उनके सर्वाधिक पद उस समय 'सारंग' राग में गाये जाते थे।

संगीताचार्यों ने तय किया है कि दिन-रात के अष्ट-प्रहरों में से किस समय कौन-सा राग गाना चाहिये-यद्यपि इस व्यवस्था में मतभेद रहा। किन्तु इस काल--राग-विभाजन की व्यवस्था विक्रम की ९वीं से ११वीं शतियों के बीच एक विद्वान 'नारद' के 'संगीत-मकरंद' नामक ग्रन्थ से मिलती है। उनका मत है कि असमय में गाने से राग-हिंसा होती है—''रागा वेला प्रगानेन रागाणां हिंसको भवेत्।'' इससे गायकों और श्रोताओं का अनिष्ट होता है, जबकि समयानुकूल राग (गायन) सबका हित-साधन करता है। इसका वैज्ञानिक ज्ञान सिद्ध-गायकों को ज्ञात होता है। वल्लभ सम्प्रदाय में समयानुकूल रागों के गायन की निश्चित व्यवस्था रही थी। इसका परिपालन नित्योत्सव की आठों झाँकियों में किया जाता है। अष्टछाप के सभी कीर्तनकारों ने उसी के अनुसार श्रीनाथ जी के नित्योत्सव की झाँकियों में कीर्तन किया था। वही व्यवस्था अभी तक सभी वल्लभ-सम्प्रदायी मन्दिरों में प्रचलित है। वह नित्योत्सव की आठ झाँकियाँ, उनका समय और राग-क्रम इस प्रकार हैं—

झाँकी	समय	राग
1. मंगला	प्रात: 6 से 7 बजे तक	ललित, भैरव, विभास बिलावल
2. शृंगार	प्रात: 7 से 8 बजे तक	बिलावल, गुनकली, रामकली
3. ग्वाल	प्रात: 8 से 9 बजे तक	रामकली, देव गंधार, टोडी, आसावरी
4. राजभोग	पूर्वा 10 से 11 बजे तक	आसावरी, देसी, सारंग
5. उत्थापन	पूर्वा 4 से 4.30 बजे तक	धनाश्री, भीमपलासी
6. संध्याभोग	सायं 5 से 5.30 बजे तक	गौरी, पूरिया, पूर्वी
7. संध्या आरती	सायं 6 से 6.30 बजे तक	श्री, जैतश्री

8. शयन रात्रि 7 बजे से 7.30 बजे तक ईमन, कामोद, केदारा, बिहाग

संगीताचार्यों ने ऋतु के अनुसार रागों की सुविख्यात व्यवस्था की है। इसका प्रारम्भिक श्रेय कल्याणी के महाराज सोमेश्वर (शासन सं० 1284 से सं० 1291) को और नर-नारायण जैसे प्रमुख षट् रागों को उनकी विभिन्न रागनियों के साथ गाने की उपयुक्त ऋतुओं में निर्धारण किया है। उनके मतानुसार शिशिर ऋतु में रागनी सहित 'श्री' राग को बसंत ऋतु में सपरिवार बसंत राग को, ग्रीष्म में भैरव को, शरद में पंचम को, वर्षा में मेघ को, शिशिर और हेमंत ऋतु में नरनारायण राग को गाना चाहिये। आचार्यों के विभिन्न मत होते हुये भी सोमेश्वर के मत की प्रधानता दी गयी है।

वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन गान में इस ऋतु राग-सिद्धान्त का पालन किया जाता है। अष्टछापी कवियों की रचनाओं में भी इसका निर्वाह किया गया है। जैसे शिशिर ऋतु के फाल्गुन मास में जो होली के अनेक आयोजन किये जाते हैं, उनमें गाये जाने वाले कीर्तन के पद काफी राग में 'धमार' शैली में गाये जाते हैं। बसंत ऋतु के चैत्र मास में जो हिंडोलाओं के दर्शन होते हैं, उसमें गाये जाने वाले पदों के राग अधिकतर बसंत या हिंडोल में हैं। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में 'मेघ मल्हार' रागों द्वारा कीर्तन किया जाता है। कुछ राग ऐसे हैं जो बिना किसी प्रतिबन्ध के सभी ऋतुओं में गाये जाते हैं। भैरवी और नागेश्री रागों का रूप पुष्टि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत गणिका का है। अत: सूरदास आदि सभी अष्टछापी कवियों ने अपने काव्य में इनको स्थान नहीं दिया है।[17]

डॉ० ऊषा गुप्ता ने सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कीर्तनकारों के पदों और उनके रागों की गणना की है, जो इस प्रकार है— परमानन्ददास—पद सं० 471, राग सं० 28, कुम्भनदास-पद सं० 94 राग सं० 16, कृष्णदास—पद सं० 293, राग 16, नन्ददास— पद सं० 100, राग 30, चतुर्भुजदास—पद सं० 126, राग 25, गोविन्द स्वामी—

पद सं० 252, राग 19, छीतस्वामी—पद सं० 63, राग 22, —यह संख्या अपूर्ण है। कारण यह है कि इसे कुछ हस्त-प्रतियों के आधार पर विख्यात् किया गया है—जिसमें उन सातों कीर्तनकारों के थोड़े ही पद हैं। नन्ददास जी की पदावली का प्रकाशन ना० प्र० सभा, काशी से हो चुका है, शेष छहों के समस्त उपलब्ध पदों का प्रकाशन विद्या-विभाग-काँकरौली से हो चुका है। डॉ० गुप्ता को शायद इन पुस्तकों को देखने का सुयोग नहीं मिल सका है। फिर भी इन सातों कीर्तनकारों की सूरदास से कोई तुलना नहीं है।

'सूरसागर' के अभी तक छपे संस्करणों में जो पद हैं, वे उपर्युक्त राग-रागनियों में ही मिलते हैं।[18] ऐसा प्रतीत होता है कि बिलावल सारंग और धनाश्री राग उन्हें अत्यंत प्रिय थे। इनमें भी विलावल प्रमुख था। सूरसागर-(राधा-कृष्ण-संस्करण) का आरम्भ विलावल से हुआ है और विलावल में ही समाप्ति हुई है। यही नहीं सागर का प्रत्येक स्कन्ध केवल दशम को छोड़कर बिलावल से ही आरम्भ हुआ है। दशम स्कन्ध का परिचयात्मक आरम्भ सारंग राग से किया गया है, किन्तु लीला आरम्भ के लिये बिलावल को ही चुना गया है।

अष्टछाप कवियों ने अपने पदों में प्राचीन संगति-वाद्यों के नामों का भी उल्लेख किया है। कृष्ण-जन्मोत्सव, रास प्रकरण तथा होली प्रकरण में वाद्यों के नामों का चित्रण किया गया है। श्रीमद्भागवत के रास प्रकरण में जहाँ केवल वीणा और दुंदुभि का वर्णन आता है, वहाँ सूर ने काल के अनुसार अनेक प्रकार के वाद्यों की नामावली गिनायी है। होली के अवसर पर तो "सब ही भए इकसार अहो हरि होरी है।" के अनुसार अनेक प्रकार के वाद्यों से ब्रजमण्डल गूँज उठता है। इस प्रकार स्वर, वाद्य तथा ताल वाद्यों में सूर काव्य मुखरित है।

ताल मुरज, रबाब, बीना, किन्नरी रस सार।
बाज ताल मृदंग झाँझ, डफ का सोवै उठि जाग री।

सूर ताल अरु नृत्य ध्याई, पुनि मृदंग बजाई।
झाँझ झालरी, किन्नरी रंग भीनी ग्वालिनी।[19]
ताल मृदंग उपंग चंग, बीना डफ राजै।
बाजत ताल पखावज-भावज, ढोलक बीना झाँझ।
दुंदभी, डिमडिम झालरी नित नित मुरली बाजै।[20]

कुंभनदास के पदों में वाद्यों का उल्लेख—

1. बाजत 'डफ', मृदंग, बाँसुरी, किन्नरी सुर कोमल री।
2. बाजत ताल, मृदंग, 'अघौटी' सुर वेनु चंग, संख-बंस झांझ, डफ, मृदंग ढोलना।

परमानन्ददास के कतिपय पदों के कुछ अंश—

1. बाजत 'तूर' बरना मिलि गावत, लाल पाट बैठायो।
2. घुरत 'नसाव' 'सबद' सहनाई बाजत है जो बधाई।

कृष्णदास के कुछ पद—

1. बाजत ताल मृदंग, झाँझ, डफ, तूर, भेरि, सहनाई, ढोलक, ढोल, निसान, महुबरी, नित 'मुरली' मनुहारी।
2. बाज ताल, मृदंग, मुरली, बेनु सुहावनी।

गोविन्द स्वामी के कुछ पद—

1. ताल, मृदंग, रबाब, झाँझ, डफ, नित मुरली धुन छोटी
2. भेरी मृदंग संग लीरा बलि राम कृष्ण की जोरी हो।

छीतस्वामी के कुछ पद—

1. बाज आवज, उपंग, बाँसुरी, मृदंग चंग।
2. सेज, मुरज, डफ, बाँसुरी भेरिनि की भरपूरि।

चतुर्भुजदास के कुछ पद—

ताल पखावज बंस धुनि बाजत, नित्त मुरली सहज सुहाई
ढोल निसान, दुंदुभी बाजत, मदन भेरि, आनक सहनाई
संख मुरज अस झाँझ झालरी, बाजत कर कठ ताल उपंगा।
अरु पिनाक किन्नरी श्री मंडल, मधुर चंग बाजत मुख चंगा।

नन्ददास के कुछ पद—

बन्यौ है चटक कठताल, तार और मृदंग, मुरज, टंकार
तिन संग संग रँगीली मुरली, बीच अमृत की धारा[21] खट ऋतु वार्ता।

श्री हरिराय जी लिखित, कीर्तनकार चतुर्भुज दास नाम सों 36 वाद्य-यन्त्रों के नाम गिनाये गये हैं यथा—1. बीना चीन, 2. मुरली, 3. अमृत-कुंडली, 4. जल तरंग, 5. मदन भेरी, 6. घोंसा, 7. दुंदुभि, 8. विज्ञान, 9. नगाड़ा, 10. शंख, 11. घण्टा, 12. मुखत्तंग, 13. श्रृंगी, 14. खंजरी, 15. ताल, 16. कठताल, 17. मजीरा, 18. मुहवरि, 19. थाली, 20. झालर, 21. ढोल, 22. डफ, 23. डिमडिमी, 24. झाँझ, 25. मृदंग, 26. गिडगिड़ 27. पिनाक, 28. रबाब, 29. यन्त्र, 30. शहनाई, 31. स्वर मंडल, 32. सारंगी, 33. दुतारी, 34. करताल, 35. तुरही, 36. किन्नरी।

अत: हम कह सकते हैं कि वर्तमान शास्त्रीय-संगीत का यह रूप वल्लभ-सम्प्रदायी कीर्तनकारों के प्रभु आराधना की अनादि काल से चली आती हुई नाद ब्रह्म की उपासना का रूप है। याज्ञवल्क्य ने कहा है—स्वर जाति प्रमाणज्ञ, वीणा वादन में तत्पर और तालज्ञ व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होती है।[22] कालांतर में संगीत आदि कलाओं की उपासना मोक्षार्थी और कामार्थी दोनों प्रकार के व्यक्तियों द्वारा होने लगी। पहले मार्ग की साधन और साध्य नाद-ब्रह्म है—उसकी उपासना समस्त देवताओं का पूजा-अर्चन है। भक्त कवियों का ऐसा ही दिव्य संगीत था। आज भी इन कवियों की रचना एक ओर बड़े-बड़े संगीतज्ञों द्वारा ठुमरी ख्याल, ध्रुवपद, धमार के रूप में गायी जाती है, तो दूसरी ओर साधारण सस्वर पाठ करने वाला व्यक्ति भजन के रूप में उनकी रचना से आनन्द प्राप्त कर सकता है। अत: यह स्पष्ट है कि वर्तमान ब्रज का संगीत मध्यकालीन भक्त कवि संगीतज्ञों की देन है, जो आज तक रास मण्डलियों द्वारा तथा देवालय-कीर्ति-गायन द्वारा अपने प्राचीन स्वरूप को अपनाये हुये है। एक ओर स्वामी हरिदासजी ने तानसेन जैसे शिष्य उत्पन्न कर दरबारी संगीत को कला के वैभव से पूर्ण किया, दूसरी ओर अष्टछाप के भक्त

कवियों ने, जिनमें सूरदास प्रधान थे, देवालयों को और धार्मिक क्षेत्र को संगीत की अमरावती प्रदान की जो अपने रूप की अमर कला है। आज भी ब्रज-प्रदेश में सूर का यह पद मल्हार-रागिनी के रूप में विशुद्ध भावों की सृष्टि करता है—

बरसे मेहा मंद मंद
कुसंभी चीर अंग पै भीजै निरखि हँसे नंद नंद।
मुरि मुस्काय चली फिर समुत्ती कर दै आनंद-चंद।
सूर स्याम पट-पीत उड़ावत पुलकत आनन्द-कंद।।

संदर्भ :—

1. कान्हरे-(कान्हरा) एक राग विशेष का नाम।
2. ना०प्र० सभा के 'सूरसागर' संस्करण पृ० 70 छन्द-132।
3. वही - पृष्ठ 170, छन्द-325।
4. वही - पृष्ठ 277, छन्द-432।
5. गीत, वाद्य तथा नृत्य - जयं संगीत मुच्यते-संगीत रत्नाकर
6. कत्थक नृत्य का बोल।
7. सूर निर्णय - पृष्ठ 233।
8. सूरसागर - ना०प्र० सभा, पृ० 1760।
9. "श्याम पखावजी नाम कौ प्रसिद्ध करै-बाकी एक बेटी ललिता नामक भई, सो बनि बहुत अच्छी बजावै और स्याम मृदंग, यह मृदंग अजहूँ श्रीनाथजी कीर्तन मंडली में विराजत है। बहुत सुन्दर बजावै.. यह सुविसै जी गुसाई जी श्याम पखावजी और ललिता कूँ बुलाय कै नाम सुनायौ और श्रीजी सेवा तत्पर कीनै।"

—श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता, पृ० 39

10. एक दिन फागुन में धमार गाये—श्रीनाथजी की प्राकट्य वार्ता, पृ० 54, 55।
11. प्राचीन वाली रहस्य, द्वितीय भाग, पृ० 650।

12. ''कोकिल धुति बाजिन बजावहि सरस धमार''
''वाणी इक गावत है धमारि इक एकनि देत गारि''

—सूरदास, पद-3509

13. 'सूर-सारावली' छन्द सं० 1012, 1013, 1014, 1015, 1016, 1017।
14. मुरली हरि को भावै री।
छै हो राग छत्तीसौ रागिनी हक इक नीके गावै री।
15. ताल और स्वर मिलाने के लिये कोष्ठांतर्गत ध्वनि का उच्चारण।
16. पुनरुक्ति में पुनः उच्चारण।
17. हिन्दी के कृष्ण-भक्ति साहित्य में संगीत-प्र० 140 से 196 तक।
18. 'सूर सागर सार'—बसन्त वर्णन।
19. सूर सागर—न०प्र० सभा—रास प्रसंग।
20. अष्टछाप के वाद्य-यन्त्र में पृ० 13, 21, 33, 45 पर वर्णित वाद्यों के चित्र देखे जा सकते हैं।
21. खट ऋतु वार्ता (प्रकाशन द्वारका दास पारीख) पृ० 12।
22. याज्ञवल्क्य संहिता-पृष्ठ 23।

जैन चिन्तन के आलोक में श्रीकृष्ण

❀ डॉ० श्री रंजन सूरिदेव

वैष्णव चिन्तन :

वैष्णव-साहित्य में भगवान श्रीकृष्ण को भावपुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है, तो जैन वाङ्मय में उन्हें शलाकापुरुष कहा गया है। वैष्णवों की मान्यता है कि भावपुरुष श्रीकृष्ण की अविराम लीला भाव-जगत् में घटती ही रहती है। वह भारत-भूमि की जीवन-साधना के प्रतिमान हैं। जीवन का ऐसा कोई आध्यात्मिक या विभूतिमान् पक्ष नहीं है, जिसकी श्रीकृष्ण में पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति न हुई हो। 'गीता' में स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

यद्यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ मम तेजोंऽशसम्भवम्।। (१०/४१)

अर्थात् ''संसार में जितने विभूतिमान्, श्रीमान् और ऊर्जस्वल तत्त्वों का अस्तित्व है, सबकी उत्पत्ति श्रीकृष्ण के तेजस् अंश से ही हुई है।''

इससे स्पष्ट है कि मानव जीवन के जितने पुष्ट और उदात्त भाव हैं, सबमें श्रीकृष्ण का अस्तित्त्व निहित है। जीवन के अनुभवों से भाव उत्पन्न होते हैं, अनुभूति ही भाव का मूलकारण है। भावपुरुष को भाव से ही प्राप्त किया जा सकता है। भाव से ही श्रद्धा, भक्ति और विश्वास दृढ़ होता है। इसलिए भक्ति-साहित्य में भावोपासना को अधिक महत्त्व दिया गया है। राधा, मीरा या फिर गोपियों ने भावोपासना से ही भावपुरुष श्रीकृष्ण का सान्निध्य और सायुज्य प्राप्त किया था।

प्रसिद्ध तन्त्राचार्य महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने

सायुज्य-भाव की विवेचना करते हुए कहा है कि भाव साधना द्वारा भगवान के भावदेह में प्रविष्ट होने के बाद भगवद् देह द्वारा जो भोग साधन होता है, वही सायुज्य है। मुक्तजीव मर्त्यदेह को त्यागकर चिन्मय देह और चिन्मय इन्द्रिय से युक्त होकर भगवान के भावदेह में प्रविष्ट होता है। उस स्थिति में उसके सारे अंग भगवदंग द्वारा अनुगृहीत होकर प्रवर्तित होते हैं और तब वह हरि के हाथों से ही किसी वस्तु को ग्रहण करता है, हरि की आँखों से ही देखता है और हरि के पैरों से ही चलता है।

आदत्ते हरिहस्तेन हरिदृष्ट्यैव पश्यति।
गच्छेच्य हरिपादेन मुक्तस्यैषा स्थितिर्भवेत्।।[1]

भावपुरुष का भावदेह चिदानन्दमय है। चिदानन्द ही रसपदार्थ है। यही जीव के प्राण धारण की प्रयोजक और आनन्ददायक वस्तु है। इस भावात्मक वस्तु की अभिव्यक्ति हृदयाकाश में होती है। रस शास्त्र में रस का जो विवरण प्राप्त होता है, वह स्व रसरूप भावपुरुष भगवान का ही कार्यभूत अंश है। इस संदर्भ में विश्वनाथ महापात्र का रसविषयक मत दृष्टव्य है—

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः।।

(साहित्य दर्पण, परि० 3, का० 2)

रसाभिव्यंजना की प्रणाली भिन्न-भिन्न है, इसीलिए रस मूलतः एक होते हुए भी अनेक रूप में प्रकाशमान होता है। वास्तव में भावपुरुष भगवान् ही प्रणाली-भेद से हृदय में आविर्भूत होकर रस पदवाच्य होते हैं। भाव को अनन्यता या भक्ति की एकनिष्ठता के बिना ऐसा आविर्भाव सम्भव नहीं। भावपुरुष केवल रसरूप ही नहीं है, वह सभी रसों के भोक्ता भी हैं, रस होते हुए भी रसवान् हैं। रस की गणना में शृंगार रस का स्थान ही प्रधान है। शृंगार रस रति नामक स्थायी भाव से संवलित है।

---

1. द्र0 भारतीय साधना की धारा, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना-4 प्रथम संस्करण, पृ० 62

अतएव भावपुरुष भगवान् स्वरूपत: रति होकर भी रतिमान् हैं। ब्रजगोपी आदि रति का जो आलम्बन-विभाव है, उसके भावानुसार भग।वान् शृंगाररसात्मक हैं। आवलम्बन जैसा होता है, उसके प्रति भगवान् का भाव भी वैसा ही होता है। अत: यह स्मरण रखना होगा कि भाव भी भगवत्स्वरूप या भावपुरुष के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु नहीं।[1]

भावपुरुष की कृपा से ही जीव अपने मायातीत स्वरूप को देख पाता है और उसी की अनुकम्पा से जीव के स्वभाव का उन्मेष भी होता है। स्वभाव का उन्मेष होने पर ही भाव-विकास या भावदेह की प्राप्ति होती है। मायामुक्त भावप्रवण भक्त अपने अनादि सिद्ध भावपुरुष की प्राप्ति के लिए अहोरात्र व्याकुल रहता है। इसी को भाव साधना कहते हैं। इस साधना की अवस्था में भक्त और भावपुरुष की स्थिति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार एंक ओर असह्य प्यास और दूसरी ओर सुशीतल सुस्वादु जल। माया की निवृत्ति के पहले जो साधना होती है, वह कृत्रिम होती है, क्योंकि वह कर्तव्य का अभिमान लेकर की जाती है किन्तु वह साधना भी व्यर्थ नहीं है। क्योंकि उसी से माया की निवृत्ति होती है। भावसाधना अकृत्रिम होती है। इसे किसी को किसी से सीखना नहीं पड़ता है। इसके लिए गुरु या मन्त्र-शास्त्र या विविध विधि-विधान भी आवश्यक नहीं है। इस साधना में केवल भाव की प्रवणता से ही साधक का अहम् भाव भावपुरुष के भावदेह से जुड़ जाता है।[2]

इस प्रकार वैष्णवाचार्यों ने भावपुरुष भगवान श्रीकृष्ण का जो रूप-निरूपण किया है, वह भक्ति प्रधान और भावात्मक है, किन्तु जैनाचार्यों ने ठीक इसके विपरीत श्रीकृष्ण को ज्ञानप्रधान और विचारात्मक पृष्ठभूमि पर प्रतिरूपित करते हुए उन्हें 'शलाकापुरुष' की संज्ञा दी है।

1. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य: तत्रैव, पृ० 79।
2. विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य : ''अखण्ड महायोग का पक्ष और मृत्युविःज्ञान'' म०म०पं० गोपीनाथ कविराज, प्र०: बिहार, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-4, प्रथम संस्करण, पृ० 111

जीवन-संघर्ष की दृष्टि से भावपुरुष और शलाकापुरुष में समकोणता है, किन्तु भावपुरुष का लौकिकता से अलौकिकता की ओर प्रस्थान को अधिक मूल्य दिया गया है और शलाकापुरुष को यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित लौकिक पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। फिर भी जैन दृष्टि श्रीकृष्ण के अतिलौकिक या अतिमानवीय गुणों की उपेक्षा नहीं करती। जैन जीवन भी श्रीकृष्ण के विलक्षण व्यक्तित्व से सर्वथा भावित-प्रभावित परिलच्छित होता है।

जैन चिन्तन :

जैन साहित्य में श्रीकृष्ण की गणना नारायणों में की गई है और उन्हें 'शलाकापुरुष' कहा गया है। प्रत्येक कल्पकाल या युग में होने वाले शलाकापुरुष संख्या में कुल तिरसठ होते हैं। जैसे : 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 नारायण और 9 प्रतिनारायण। इनमें नौ नारायण इस प्रकार हैं : त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुष पुण्डरीक, दन्त, नारायण और श्रीकृष्ण। दन्त को पुरुषदन्त और नारायण को लक्ष्मण भी कहा गया है।[1] इस प्रकार संख्याक्रम की दृष्टि से श्रीकृष्ण नवम नारायण थे।

'शलाका' शब्द का अर्थ नाप या प्रमाणबोधक वस्तु है। वैशाली के प्रसिद्ध गणतन्त्र में मतदान के समय मतपत्र की जगह 'शलाका' (सलाई) का व्यवहार किया जाता था। शलाकापुरुष का तात्पर्य ऐसे महत्त्वशाली व्यक्तियों से है, जो समाज में परिगणनीय थे, जिनका अस्तित्व समाज के लिए आवश्यक माना जाता था और जिनके व्यक्तित्व के आधार पर समाज का मूल्यांकन किया जाता था। जैन वाङ्मय में ऐसे ही व्यक्तियों को 'शलाकापुरुष' कहा गया है। शलाकापुरुष मनुष्यों में

1. विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-4, (श-ह), सं.क्षुल्लक जितेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, पृ० 8-26

श्रेष्ठ और सर्वलोक प्रसिद्ध होते हैं।[1] ये स्वर्ग में अपना स्थितिकाल भोगकर पुनः मनुष्य-योनि में लौटे हुए महापुरुष होते हैं।

श्रीकृष्ण नारायण कोटि के शलाकापुरुष हैं। अवतारवाद को न मानने वाले जैन साहित्य में नारायणों के गुणधर्म में बताया गया है कि यह पद महान् शक्तिशाली किसी उत्तम गति से चलकर आने वाले व्यक्ति को ही प्राप्त होता है। इनके सात प्रकार के आयुध होते हैं, जिन्हें 'महारत्न' कहा गया है। ये सात आयुध इस प्रकार हैं—1. सुनन्दक खड्ग, 2. पांचजन्य शंख, 3. शार्ंगधनुष, 4. सुदर्शन चक्र, 5. कौस्तुभ मणि, 6. अमोघा शक्ति और 7. कौमोदी गदा। नवम नारायण श्रीकृष्ण को भी ये सातों आयुध प्राप्त थे। वह अदम्य शक्तिशाली, विलक्षण राजनीतिज्ञ और महान् समाजशास्त्री थे। कुल मिलाकर, वह महापुरुषों के समस्त गुणों से अभिमण्डित थे। उनकी कमनीय कीर्ति दिग्दिगन्त व्यापिनी थी।

जैन वाङ्मय में कृष्णचरित के बीज सर्वप्रथम जैनागर्मों में पाये जाते हैं। 'स्थानांग' (प्रा०ठाणे) में श्रीकृष्ण के शरीर और आयु का वर्णन मिलता है—

''ठाणै वासुदेवे इस धणूडं उड्ढं उच्चत्तेणं दसवाससवाई सव्वाउयं पालयित्ता...।''(10)

दस हजार वर्ष कृष्ण की आयु और दस धनुष (एक धनुष=चार हाथ (प्रमाणकारी) में ऊँचाई बताई गई है।

समवायांग[2] में नव वासुदेवों या नारायणों की निदान-भूमियों तथा निदान कारणों के साथ ही उनके प्रतिपक्षियों और पिता-माताओं की नामावली एवं उनके पूर्वकृत पुण्यकार्यों के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसी संदर्भ में श्रीकृष्ण का परिचय भी मिलता है। वस्तुतः इन दोनों आगम-ग्रन्थों में कृष्णचरित् के सम्बन्ध में इतनी अल्प सामग्री है कि

1. द्र० उपरिवत्, पृ० 20
2. समवायांग, प्रकीर्णक. समवाय, सूत्र-सं० 238-247, जैन विश्वभारती संस्करण, लाडनूँ (राजस्थान)।

उनके आधार पर उनके जीवन-वृत्त और जीवन-दर्शन के बारे में कोई समग्र मत स्थिर नहीं किया जा सकता।

जैनागमों में ''णायाधम्मकहाओ''[1] का उल्लेखनीय स्थान है। इसके पंचम अध्ययन में कृष्णचरित की किंचित् स्पष्ट रेखा उपलब्ध होती है। इस अध्ययन में द्वारका नगरी का भी सुन्दर चामत्कारिक वर्णन आया है। परमप्रतापी महाराज श्रीकृष्ण इसके सम्राट थे। उनके शासनकाल में प्रजा सुखी तो थी ही, साथ ही वह शत्रुओं के मान-रूपी पर्वत के मर्दन में वज्र के समान थे।[2]

आगमवर्णित कृष्णचरित से कृष्ण की प्रजावत्सलता, स्नेहसिक्त सहृदयता और उनके धर्मप्रेम की अभिव्यक्ति होती है। 'णायाधम्मकहाओ' में श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का विकास वर्तमान है। इसमें शरीर की अपेक्षा उनके आत्मिक गुणों का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। 'णायाधम्म-कहाओ' के सोलहवें अध्ययन में कृष्णचरित का किंचित् विशद् वर्णन उपलब्ध होता है।

आगम-परवर्ती कथा और पुराण-साहित्य को दृष्टिगत करने पर सर्वप्रथम हमारा ध्यान आगमोपम कथाग्रन्थ 'वसुदेव हिण्डी' पर जाता है। ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती में आचार्य संघदास गणी द्वारा रचित इस प्राकृत बृहत्कथा में मुखरित कृष्ण पिता वसुदेव के भ्रमण-वृत्तान्त को कथाबद्ध किया गया है और प्रसंगवश श्रीकृष्ण का चरित भी आंशिक रूप से वर्णित हुआ है। आंशिक इसलिए कि कृष्णचरित जहाँ से प्रारम्भ होता है, वहीं से आगे की मूल कथांश अप्राप्य है।

प्राकृत-भाषा में निबद्ध आचार्य विमलसूरि (ई० प्रथम-चतुर्थ

---

1. णायाधम्बकहाओ, पूना-संस्करण, पृ० 68, तेणं कालेणं 2 बारवई, नाम नयरी होत्था। पाईणपडीणायया उदीणदाहिणवित्थिाणा दुवालस-जोयणायामा धनवइमइविणम्माया चामोयरपवरवागारा नानामणिपंच-वण्णक विसोसगसोकिया.....।
2. तत्रैव, पृ० 68-69।

शती) का 'हरिवंसचरिय' प्राचीन कृष्णचरित है। इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण, पाण्डव और तीर्थंकर अरिष्टनेमि का जीवनवृत्त विस्तार से वर्णित है। संस्कृत-भाषा में निबद्ध जिनसेन प्रथम (ई० आठवीं-नवीं शती) का 'हरिवंशपुराण' सबसे पहला कृष्णचरित ही नहीं, अपितु संस्कृत के चरितग्रन्थों में भी सर्वप्रथम है। इसमें विस्तारपूर्वक कृष्णचरित अंकित किया गया है। इसे हम जैनों का 'श्रीमद्भागवत-पुराण' कह सकते हैं। 'उत्तरपुराण' में आचार्य बुणभद्र (ई० नवीं शती का अन्त) ने भी कृष्णचरित का प्रतिपादन किया है। 'चउप्पन्नमहापुरिसचरियं' में शीलांकाचार्य (ई० नवीं शती) ने श्रीकृष्ण का इतिवृत्त परिगुम्फित किया है। शुभचन्द्राचार्य (वि० सोलहवीं-सत्रहवीं शती) के 'पाण्डवपुराण' में भी कृष्णकथा समाविष्ट है।

इसी प्रकार ईसा की आठवीं-नवीं शती से सोलहवीं-सत्रहवीं शती के बीच अपभ्रंश के अनेक कवियों ने कृष्णचरित की रचना की। इनमें हरिभद्रकृत 'णोमिणाहचरिउ', लक्ष्मणकविकृत 'णेमिणाहचरिउ', महाकवि धवलकृत 'हरिवंशपुराण' पुष्पदंतकृत 'महापुराण', श्रुतकीर्तिकृत 'हरिवंशपुराण' यश:कीर्तिकृत 'पाण्डवपुराण' एवं 'हरिवंशपुराण' महाकवि स्वयम्भूकृत 'रिट्ठणेमिचरिउ', दामोदर कृत 'णेमिणाकृचरिउ' महाकवि रदूधूकृत 'हरिवंशचरिउ' आदि काव्यग्रन्थ कृष्णचरित के चित्रण की दृष्टि से ततोऽधिक मूल्य रखते हैं।

जैन कृष्ण काव्यों और पुराणों के अनुसार प्रतिनारायण जरासन्ध का वध करने के बाद ही श्रीकृष्ण का यश सर्वत्र व्याप्त हुआ। श्रीकृष्ण नारायण के रूप में प्रसिद्ध हो गये। अनेक विद्याधरों ने वसुदेव के साथ आकर श्रीकृष्ण को प्रणाम निवेदित किया। कवि जिनसेन प्रथम ने इस संदर्भ का आकर्षक चित्रण किया है—

अन्नान्तरे सुरैस्तुष्टैरसरिसन्नुपुष्टमम्बरे।
नवमरे वासुदेवोभूदसुदेवल्य नन्दनः।।

निकृतश्च जरासन्धस्तच्यवेगैव संयुगे।
प्रतिशत्रुर्गुणद्वेसी वासुदेवेन चक्रिणा।।
(हरिवंशपुराण, 53/17-18)

नानाविद्याधराधीशा नानप्राभृतपाणयः।
आनकेन सहायान्ति ते नारायणभक्तितः।। (तत्रैव, 53/23)

श्रीकृष्ण ने दिग्विजय यात्रा की। उन्होंने मागधद्वीप (लवण समुद्र की ईशान और आग्नेय दिशा में अवस्थित द्वीप (ये देवों को जीतकर उन्हें अपना सेवक बनाया। लवण समुद्र, सिन्धु नदी और विजयार्द्ध पर्वत के म्लेच्छ राजाओं को अपने अधीन किया तथा उन्हें अपने चरणों में नत कराया। उन्होंने गंगा नदी के मध्य में अवस्थित विद्याधरों को वश में किया तथा अर्द्धभारत के समस्त राजाओं को पराजित कर अपनी विजय-दुन्दुभी बजाई। वह एक हजार वर्ष तक पृथ्वी का पतन करते रहे। कौरव और पाण्डवों के युद्ध, यानी महाभारत की लड़ाई में उनका केवल सहयोग ही नहीं रहा अपितु उसमें उन्होंने अपनी अविस्मरणीय भूमिका का निर्वाह किया। श्रीकृष्ण की आठ पटरानियाँ (रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, लक्ष्मणा, सुहीमा, गौरी, पद्मावती और गान्धारी) एवं सोलह हजार साधारण पत्नियाँ थीं। पटरानियों में रुक्मिणी, सत्यभामा और जाम्बवती उनके अधिक निकट थीं।

जैन कवियों की दृष्टि में श्रीकृष्ण नीलकमल के समान नीलवर्ण थे। उनका शरीर दस धनुष ऊँचा था। वह विशाल वक्षःस्थल, दाढ़ी-मूँछ रहित मुख, मृदुल शरीर, वज्र के समान सुदृढ़ अस्थिबन्धन, अर्गला के समान दृढ़ और लम्बी भुजाओं, चमकीले नेत्रों एवं वज्र तुल्य कठोर और उग्र अंग-प्रत्यंग से सम्पन्न थे। इस प्रकार श्रीकृष्ण के शरीर वैभव से ही उनकी लोकवरेण्यता सूचित होती है। आचार्य गुणभद्र ने श्रीकृष्ण की शरीर-सम्पदा का मालिनी छन्द में मोहक वर्णन करते हुए लिखा है—

घनधृत परिधानो बद्धकेशो विकूर्चः
सहजमसुणगात्रश्चिन्तवृत्ति प्रवीणः।

सततकृतनियोगाद् गोवमल्लैरमल्लै
रविकलजवलम्भः सर्वसम्मावितौजाः।।
स्थिरचरणनिवेशो वज्रसारास्थिबन्धो
भुजपरिघीविधायी मुष्टिसम्माप्यमध्यः।
कठिनपृथुलवक्षः स्थूलनीलाद्रितुङ्गं
स्त्रिगुणितदृढमूर्तिदर्पसर्पाददुरीक्ष्यः।।
ज्वलितचलितनेत्रो निष्ठुराबद्धमूर्तिः
परिणतकरणौधौ मुंक्षु-संचारदक्षः।
भूशमशनिरिवोग्रो नन्दसुनूः स्थितः सन्
भयमवहदसहयं प्रेतनाथस्यचोच्चैः।।

(उत्तरपुराण 70/488-90)

आचार्य गुणभद्रकृत श्रीकृष्ण का यह रूप-वर्णन कहना न होगा कि 'श्रीमद्भागवतपुराण' में वर्णित श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन से आपाततः प्रभावित है। जैनाचार्यों द्वारा वर्णित श्रीकृष्ण के देह-सौष्ठव से स्पष्ट है कि कृष्ण महामना नारायण हैं। उनका शौर्य, पराक्रम, रूप, बल और तेज अतुलनीय है। जब वह कंस के निमन्त्रण पर मथुरा नगरी पधारे, तब वहाँ मदोन्मत्त गज उनको मारने के लिए पहले से ही तैयार रखा गया था। उस गज के भीषण चिंघाड़ से ही जनसमूह मूर्च्छित हो जाता था। परन्तु जब वह दुर्दमनीय गज श्रीकृष्ण के समक्ष आया, तब उन्होंने उसका एक दाँत तोड़ लिया और उसी से उस दुर्दान्त गज को मार दिया। श्रीकृष्ण ने अत्यन्त निर्भयता और वीरता के साथ चाणूर आदि दुर्द्धर्ष मल्लों को भी परास्त कर दिया। इस संदर्भ में श्रीकृष्ण के निम्नांकित प्रशंसनीय गुण अभिव्यक्त होते हैं—

1. निर्भयता और निःशंकता के साथ शत्रु का सामना करना।
2. अतुल पराक्रम के साथ अडिग साहस का प्रदर्शन।
3. रंगभूमि में उत्साहपूर्वक योद्धाओं से मल्लयुद्ध करने की क्षमता।
4. अपरिमित आत्मविश्वास।

5. लोककल्याण के लिए दुराचारी और समाजविध्वंसकारी तत्त्वों को नष्ट करने का सुदृढ़ संकल्प।
6. विनयशीलता के साथ ही विरोधी गुण अहंकार का भी स्वाभिमान की रक्षा की दृष्टि से प्रदर्शन।
7. कर्तव्य-कार्य के सम्पादन हेतु सदैव तत्परता।
8. स्फूर्ति, चंचलता और राजनीतिज्ञता एवं प्रत्युत्पन्न मतित्व का अपूर्व समन्वय।
9. सहज अनुशासन की प्रवृत्ति।
10. अपने पद और मान-मर्यादा की रक्षा के लिए कूटनीति की प्रयोग-प्रवीणता।
11. षडयन्त्र परखने और करने की कुशलता।
12. कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्नशीलता।
13. रणनीति कुशलता।
14. संघटन-शक्ति की प्रबलता।
15. उदाराशयता और आध्यात्मिकता का समावेश।
16. अस्त्र-शस्त्रों और सैन्यों के संचालन में समान निपुणता।
17. परोपकारिता और कर्तव्यपरायणता।
18. पारिवारिक दायित्व के सफल निर्वाह की दक्षता।

इनके अतिरिक्त जैनदृष्टि से श्रीकृष्ण के कतिपय प्रमुख शीलतत्व इस प्रकार उद्‌भावित होते हैं—

1. शरणागतों की रक्षा—राजा पद्मनाभ जब स्त्रीवेश में श्रीकृष्ण के पास में आया, तब उन्होंने अभयदानपूर्वक उसे क्षमा कर दिया। (द्र० हरिवंशपुराण 54/51-52)

2. सेवावृत्ति और दयालुता—श्रीकृष्ण का आचार-व्यवहार अत्यन्त सरल और नीतियुक्त है। उनका हृदय मृदुल और सानुक्रोश है। एक बार वह तीर्थंकर अरिष्टनेमि के दर्शन करने हाथी पर सवार होकर जा रहे थे। जब वह द्वारवती से निकले, तब देखा कि सड़क पर जराजर्जर

पुरुष ईंट ढो रहा है। ईंटों का ढेर बहुत बड़ा था। श्रीकृष्ण हाथी से उतर पड़े और स्वयं उन्होंने ईंट ढोना शुरू किया। श्रीकृष्ण को ईंट ढोते देख सड़क के अन्य व्यक्ति भी उस कार्य में जुट गये और कुछ ही समय में सारी ईंट राजपथ से अलग कर दी गईं। इस आख्यान से श्रीकृष्ण की प्रजावत्सलता, दयालुता, सेवावृत्ति और लोकवादी दृष्टि आदि महद्गुणों पर प्रकाश पड़ता है। (द्र०:अंतगडदसा, वर्ग 3, अ० 8)

3. अतिमानवीय कार्यों का सम्पादन—श्रीकृष्ण में अपरिमित शक्ति थी। वह आश्चर्यकारी-अलौकिक कार्यों को बात-की-बात में सम्पन्न कर डालते थे। एक बार की घटना है। भीम आदि पाण्डवों ने नौका द्वारा गंगा पार की। कौतुकी भीम ने नौका छिपा दी। श्रीकृष्ण रथ पर सवार होकर जब वहाँ आये, तब पाण्डवों ने उनसे कहा कि हमने तैरकर गंगा पार की हैं, आप भी तैरकर ही पार कीजिये। श्रीकृष्ण भीम के कथन को सत्य समझ गये और उन्होंने घोड़ों-सहित रथ को एक हाथ पर उठा लिया तथा एक हाथ और दोनों जंघाओं के बल तैरते हुए वह गंगा को पार कर गये। उनके इस अलौकिक कार्य को देखकर सब लोग चकित रह गये। (द्र० हरिवंशपुराण, 54/67)

4. जितेन्द्रिय और अनासक्ति-भाव—कुमार के समान अत्यन्त निर्विकार अथवा अत्यन्त कोमल हृदय को धारण करने वाले श्रीकृष्ण क्रीड़ाओं के समय यौवनोन्माद से भरी प्रस्फुरित वक्षःस्थलवाली गोपियों को उत्तम रासों द्वारा क्रीड़ा कराते थे। वह रासक्रीड़ा के समय गोप बालाओं के लिए अपने हाथ की अँगुलियों का स्पर्शसुख उत्पन्न कराते थे, किन्तु स्वयं निर्विकार रहते थे। उत्तम अँगूठी में जड़ा हुआ श्रेष्ठमणि स्त्री के हाथ की अँगुली का स्पर्श करता हुआ भी जिस प्रकार निर्विकार रहता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी गोपाललनाओं के हाथों की अँगुलियों का स्पर्श करते हुए भी एकदम निर्विकार रहते थे। 'हरिवंशपुराण' में इस संदर्भ का सौन्दर्य-मधुर चाक्षुष एवं स्पर्शमूलक बिम्ब द्रष्टव्य है।

सबालभावात्सुकुमारभावस्तथैवस्तथैवमुद्रिभन्नकुचाः कुमारः।
सुयौवनोन्मादभराः सुरासैररीरमत्कलिसु गोपकन्याः।।
कराङ्गुलि स्पर्शमुखं स रासेस्वजीजनद् गोपवधूजनस्य।
सुनिर्विकारोऽपि महानुभावो सुमुद्रिकानद्धमणिर्ययार्ध्यः।।

(हरिवंशपुराण, 35/65-66)

स्पष्ट है कि ऋजुप्राज्ञ श्रीकृष्ण रासलीला करते हुए भी अनासक्तयोगी थे। उनके मन में किसी भी प्रकार का विकारभाव नहीं उत्पन्न होता था।

इस प्रकार आगम-सहित समस्त जैन कथाओं, पुराणों और काव्य ग्रन्थों में श्रीकृष्ण का उदात्त चरित्र प्रस्तुत किया गया है। श्रीकृष्ण ने सदा पुरुषार्थ और साहस पर विश्वास किया है और इन्हीं गुणों को जीवन की सफलता का साधन माना है। इसीलिये उनके प्रेरक जीवन-दर्शन से शिक्षा ग्रहण कर मानव-जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है। संक्षेप में, शलाकापुरुष श्रीकृष्ण में एक कुशल राजनीतिज्ञ, दयावीर, सह-युद्धवीर, कर्मयोगी और धीर ललित सह-धीरोदात्त नायक के महार्घ गुण समेकित रूप में पाये जाते हैं। जैन कवियों, कथाकारों और लेखकों ने उनके इसी रूप का प्रधानता से चित्रण किया है।

निष्कर्ष—इस प्रकार जैन चिन्तन या श्रमण-दृष्टि में भगवान श्रीकृष्ण को शब्दतः 'भावपुरुष' तो नहीं कहा गया है, किन्तु उनके शलाका-पुरुषोचित जिन श्रेष्ठ गुणों का अन्तर्भाव हो गया है। श्रीकृष्ण की मधुर बालक्रीड़ा, अनासक्त रासक्रीड़ा, मानवीय उदात्त जीवन के सहज गुण, बल-विक्रम का अद्भुत प्रदर्शन उनके द्वारा सामाजिक दायित्व का सफल संवहन आदि से जैन समाज का सीधा सम्बन्ध है। श्रीकृष्ण को प्यार से बुलाने का जैनों को भी सहज अधिकार है और वे इस अधिकार पर गर्व करते हैं। श्रीकृष्ण की नित्य लीला जैनों के भाव-जगत् में भी घटित है और जीवन के समग्र ऊर्जात्मक पक्ष जैनदृष्टि से वर्णित श्रीकृष्ण में भी पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुए हैं। बाल-सुलभ चापल्य और स्फूर्ति से

प्रारम्भ कर प्रौढ़ पुरुष की परिणति, स्थितप्रज्ञता, वीतरागता तथा निस्संग करुणा तक जितने भी महार्घ गुण हो सकते हैं, वे सभी जैनों के श्रीकृष्ण में भी मूर्तिमान हैं। इसलिये जैन चिन्तन में भी श्रीकृष्ण को भारतभूमि की जीवन-साधना के प्रतिमान के रूप में स्वीकृति दी गई है और इस प्रकार जन-जीवन से जुड़े श्रीकृष्ण स्वभावत: जीवन के प्रत्येक भाव से भी जुड़ जाते हैं और तब शलाकापुरुष श्रीकृष्ण का भावपुरुषत्व स्वत: सिद्ध हो जाता है।

●●

खण्ड – 3

विविध भाषाओं में श्रीकृष्ण

खण्ड - 3 (विविध भाषाओं में श्रीकृष्ण)

संस्कृत साहित्य में श्रीकृष्ण

❀ आचार्य डॉ० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

भगवान श्रीकृष्ण अजन्मा हैं पर वे जन्म ग्रहण करते हैं, वे निर्गुण हैं किन्तु सगुण रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, वे सर्वान्तर्यामी हैं किन्तु गोपांगनाओं के हृदय में सर्वदा अवस्थित हैं, वे लोकोत्तरशाली वैभवदायी हैं स्वयं चरणपादुका रहित होकर वृन्दारण्य में गो-वत्सचारण करते हैं। (भागवतदशम-बर्हापीडं.....वृन्दारण्यम् स्वपदरमणम्)। काम-इन्द्रादि दर्पहा हैं और गोपबालकों के साथ क्रीडारत हैं, कालियमर्दन हैं पर कालिय के फण पर मुरली की ध्वनि करते हैं, नृत्य करते हैं। कारागार में बद्ध हैं ऊखलबद्ध हैं पर वे अन्यों का बन्धन छुड़ाते हैं। गीता का उपदेश देते हैं किन्तु चोरजार शिखामणि कहलाने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं, वे कांतानुगत नहीं यह तो भागवतकार ने जन्म वर्णन में ही सिद्ध किया है— (भा०द० 3-अथसर्वगुणोपेत: काल: परमशोभन:.....।) भाद्रपद कृष्ण अष्टमी के दिवस रात्रि में तारामण्डल सुशोभित हैं, भ्रमर झंकार करते हैं, सुख स्पर्श पवन प्रवाह है, कमल खिले हैं और साथ ही मन्द-मन्द बादलों की गर्जन ध्वनि भी हैं और वह भी अनुसागर हैं, वे बालक हैं पर महर्ह वस्त्राभरण किरीटधारी, कुन्तलधारी पीताम्बरधारी हैं। (भा०द० 3 तमम्दुतँबालकमम्बुजेक्षणम्....महार्द्धवस्त्रा०)। श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, पूर्णकाम हैं, देवबन्ध-मुनिबन्ध एवं सर्वभूतबन्ध है वे चराचर के गुरु हैं भक्तों को अभय प्रदान करने वाले हैं अत: सम्पूर्ण साहित्य उनसे प्रभावित होता है तो आश्चर्य ही क्या है।

प्रथम हम वैदिक पक्ष को लें तो एक निबन्ध उतने के लिए

पर्याप्त है। हमें लौकिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उनकी दिव्यता एवं रसरूपता के विविध परिवेशों की छटा का अवलोकन करना है।

ता वां वास्तून्युश्मतिसगमध्यै
यत्रगावो भूरिश्रंग अयास:। (ऋग्वेद के विष्णुसूक्त में)

प्रचीन विल्वमंगल, विट्ठलनाथ प्रभृति आचार्यों ने इस मंत्र की व्याख्या वृन्दावन एवं श्रीकृष्ण परक करके वेद साहित्य से श्रीकृष्ण के चरित्र जोड़ दिये जो बड़े सटीक हैं, उस स्थान की कामना करते हैं जहाँ लम्बे सींग वाली गाय विचरती हैं और जो वृष्णिवंशीय श्रीकृष्ण का परमधाम (वृन्दावन-गोकुल) है।

''आकृष्णोन रजासार्वमानो निवेशयन्ममृतं मर्त्य च''

(ऋग्वेद)

वेद के उक्त व्याख्यान में तो श्रीकृष्ण की मथुरा यात्रा की झाँकी और कृष्ण शब्द का उल्लेख भी सुस्पष्ट है, सूर्य के साथ कृष्णपरक व्याख्या श्रीमहागंगेश्वरानन्दजी ने भी कही है। इस प्रकार वेद-गोपालतापनी, कलिसंतरणोपनिषत् आदि वैदिक साहित्य के साथ पुराण तो उनकी महिमा से भरे पड़े हैं और यावन्मात्र लौकिक साहित्य के नाटकों के उपजीव्य माने गये हैं।

श्रीमद्भागवत् पुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, नारदपुराण, पद्मपुराण ने तो मुक्तकण्ठ से श्रीकृष्ण चरित्र का निरूपण किया है। महाभारत-हरिवंश तथा अन्य पुराणों ने भी विविध कथाओं, तीर्थ-वर्णन व्रत-आदि के उल्लेखों में कहीं न कहीं श्रीकृष्ण की चर्चा की है। लौकिक साहित्य में व्याकरण के महान् वैयाकरण श्रीपाणिनी को महाकाव्य रचयिता माना गया पर उनके काव्य का पूर्ण अंश उपलब्ध न होने के कारण परवर्ती विद्वानों के उल्लेख के आधार पर यह तो निश्चित है कि उन्होंने 'जाम्बवती विजयम्' अथवा 'पातालविजय' नामक काव्य का प्रणयन किया था। कंस वध को पतंजलि के साथ जोड़ा गया और भास के काव्य से स्पष्ट रूप में श्रीकृष्ण की लीलाओं का रसास्वादन

देश के सहृदयों का कंठहार बना।

भास-''**ज्ञालचरित**''—यह भास की रचना है इसमें श्रीकृष्ण की लीला की छटा दर्शनीय है, इसकी कथावस्तु ही श्रीमद्भागवत पुराण पर आधारित है।

कालिदास—कालिदास शैव थे और उनका मन शिव के वर्णन में रमा है किन्तु वे श्रीकृष्ण के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं—

''**गोपवेषस्यविष्णोः**'' (मेघदूत)

यक्ष ने जब मेघ को देखा तो मयूर मुकुटधारी गोपबाल विष्णु श्रीकृष्ण की छवि उनके समक्ष थी इतना ही नहीं वे-''वृन्दावने चैत्रवनादनूने'' द्वारा अर्थात् वृन्दावन चैत्रवन से कम नहीं है लिखकर अपने महाकाव्य को पवित्र करते हैं।

अभिनव कालिदास (1050 ई०) ने अपने भागवत चम्पू में तो श्रीकृष्ण का शृंगारपूर्ण विलास का वर्णन जैसा किया है वह लौकिक कार्यों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रतीक्षा में है।

माघ—महाकवि माघ का 'शिशुपालवध काव्यम्' तो श्रीकृष्णचरित्र पर ही है। द्वारका में नारदजी का पदार्पण और शिशुपाल की महत्ता पूर्वजन्म के स्वरूप का वर्णन करके श्रीकृष्ण को अवतारी भी सिद्ध किया है और उनके उज्ज्वल चरित्र का प्रकाशन भी। तपोवन में आने की प्रसन्नता श्रीकृष्ण के हृदय में न समा सकी। (सर्ग- 1-23 युगान्तरकात-प्रतिसंहृतात्मनो) श्रीकृष्ण कंसवधकर्ता हैं (शिशु० सर्ग- 1-39 जझनी-स्त्यांसविकासमासत) और वही शिशुपाल वध करने में समर्थ हैं।

शिशुपाल ने राजाओं को क्रोधाद्दीप्त करने के लिए यज्ञ में पूजा के अवसर पर श्रीकृष्ण की निन्दा की, जिसे टीकाकारों ने स्तुति पक्ष परक भी लिखा है इस अवसर पर उनकी वृषासुर लीला (शिशु० सर्ग 15-35 हतवृषोवृषंननु) पूतना लीला, (36) शकटलीला (37) और गोवर्धन लीला का स्मरण भी किया है-

''**शकटव्युदास तसनैग धरणिधर धारणादिकम्**'' - 15/37

नरसिंह यही हैं (21) वृन्दावन विहारी हैं—

विहरन्वने विजनएव महतिदधदेषगोपताम्'' –15/25

अरिष्टहन्ता हैं, श्रीकृष्ण बड़े ही भोजनी हैं तभी तो गोवर्धन पूजा के समये बनाये गये समस्त अन्न को अकेले ही खा गये–

''किमिवात्रचित्रमय मन्नम वलम किल्पितंयदि'' –15/29

इन्होंने कुवयलयापीड हाथी का वध किया, चाणूर वध किया था। सम्पूर्ण काव्य में माघकवि श्रीकृष्णमय हो गये हैं।

भट्टनारायण—इन्होंने वेणी संहार में श्रीकृष्ण का चरित्र उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत किया है। श्रीकृष्ण कौरव–पांडवों की युद्ध भूमिका शान्त करने का प्रयास करने पर असफल रहते हैं। (वेणी संहार)

वेंकटाध्वरि (।330 ई०)—कवि ने यादव राघवीय ऐसा काव्य लिखा है जिसका एक अर्थ राम और दूसरा कृष्णपरक है। विलोम काव्य की उपमा में यह कहा जा सकता है कि विश्व की किसी भाषा में ऐसा चमत्कार प्राप्त नहीं है। (सर्ग 1–20)

दैवज्ञसूर्य—कविवर दैवज्ञ ने रामकृष्ण विलोम काव्य लिखा है, इसमें श्रीकृष्ण लीलाओं का वर्णन है।

लीलाम्बिराज (11वीं शती)—इन विद्वान् ने हरविलास नामक काव्य की रचना की है। इस काव्य में 5 सर्ग हैं, इनमें श्रीकृष्ण भगवान् के जन्म से लेकर उद्धव सन्देशपर्यन्त कथा का भाग है। लीलाम्बिराज दाक्षिणात्य राजा दिवाकर सूरि के पुत्र थे। राजकीय कार्यों की व्यस्तता में भी वे काव्य–रचना में लीन रहते हैं।

वेदान्तदेशिक—इनको वेंकटनाथ के नाम से भी व्यवहृत किया गया है। ये दक्षिण में कांचीवरम् के निवासी थे। इन्होंने 'यादवाभ्युदय' नामक काव्य की रचना की है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण की बाल–लीलाओं का मनोहारी चित्रण है।

अधांगणे जानुपदाग्रहस्तश्चक्रायुधे चंक्रमण प्रवृत्ते।
प्रायोधरित्री परिषस्वजेतं, सापन्नयासान्द्र रजश्छलेन।।

नामैकदेशग्रहणऽपि मातुर्बभूवकृष्णो बहुमानपात्रम्
तरंगितानुश्रवगन्धमादौ तस्याद्भुतंसंलपितं सखीभिः।।

श्रीकृष्ण जानुओं को पृथ्वी पर रखकर चलते हैं प्रतीत होता है पृथ्वी सान्द्ररज के व्याज से चक्रायुध का आलिंगन कर रही है।

श्रीकृष्ण के दशन कुण्डल चक्र के प्रकाश से चमत्कृत हैं। श्रीनन्द उनका अधर युक्त वदन देख रहे हैं पर तृप्ति नहीं हो रही है।

यशोदा उन श्रीकृष्ण को अंगुलि का सहारा देकर प्रांगण में चला रही हैं। जिसने अपने ही तीन पैरों से वामनावतार में ब्रह्माण्ड को नाप लिया था। (यादवाभ्युदय 4-6 "पदैस्त्रिभिः क्रान्तजगत्त्रयंतं") वे अपना स्तन्य पान कराती हैं, क्रमेण विहाराकांक्षी नन्द पत्नी से अभिनन्दित हैं। इन्होंने फलविक्रयिणी लीला भी लिखी हैं। (यादवाभ्युदय 4-9)।

आपूरयत् स्वादु फलार्पणेन
क्रीडाशिशोर्हस्त पुटं किराती
रत्नैस्तदा कौस्तुभ निर्विशेषौ
रपूरितं तत्फलमाण्डमासीत्।। (या० 4/9)

माधवकवीन्द्र (13वीं शती)—इन्होंने उद्धवदूत का प्रणयन किया है। इसमें श्रीकृष्ण चरित्र गोपियों को सन्देश देते समय उद्धव संवाद में है। उद्धव ने गोपियों से क्या कहा यह इसमें वर्णित है।

लम्बोदरवैद्य (18वीं शती)—गोपी दूत के रचयिता श्री वैद्य ने गोपी को दूत बनाकर मथुरा में भेजने का उपक्रम प्राचीन सरिण छोड़कर किया है।

यद्यपि दूत परम्परा में तो अनेक काव्य लिखे गये यथा—

रुद्रन्दायवाचस्पति का (17 श.) पिकदूत, वादिराज (17 श.) का पवनदूत। विष्णुदास (15 श.) का मनोदूत कृष्ण काव्य से प्रभावित ही है।

कवि चिदम्बर (1800 ई०)—के राघव-पाण्डवीय-यादवीय काव्य में एक अर्ध रामायण दूसरा महाभारत, तृतीय भागवत की कथा का आनन्द लिया जा सकता है। अन्य भाषाओं में तो ऐसी रचना नितान्त दुर्लभ है।

कवि विद्यामाधव—इन्होंने तो शैव-वैष्णवधारा दोनों का संगम करते हुए पार्वती-रुक्मिणीय द्विसन्धान काव्य की रचना की है। ये कवि चालुक्य वंशीय सोमदेव नृपति के आश्रित कवि थे।

श्रीरूपगोस्वामी—सन्त रूप गोस्वामी की रचना तो श्रीकृष्णपरक ही है और अद्वितीय कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। ये चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी थे तथा वृन्दावन-गोवर्धन-राधाकुण्ड में वास करके इन्होंने अपनी आयु को ब्रज में समर्पित किया था। आपके लिखे विदग्ध माधव, ललित माधव, दान केलि कौमुदी, उज्ज्वलनीलमणि, स्तवमाला आदि रसविषयक ग्रन्थ हैं। श्रीरूपगोस्वामी के काव्यानुशीलन से तो हमें बाणकवि, भारवि और भवभूति-माघ को एक साथ देखने का अवसर निकालना ही पड़ेगा। एकाक्षर-द्वयक्षर एवं चित्र काव्य की छटा रूप गोस्वामी की दर्शनीय है—

इतना होते हुए भी पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं—

इदं मंगलरूपास्याद् गोविन्द विरुदावली
यस्याः पठनमात्रेण श्रीगोविन्द प्रसीदति।। (गी.वि.)

सरल संस्कृत-धृत गोवर्धन, सुरभीवर्धन, पशुपालप्रिय, रचितो प्रक्रिय (धीर) समास बहुल—

जयजयदण्डप्रिय-कचखण्ड-ग्रथितशिखण्ड-व्रजशिखण्ड
स्फुरण-सपिण्ड-स्मतवृतगण्ड-प्रणयकरण्ड-द्विजपतितुण्ड
स्मररसकुंड-क्षतफणिमुण्ड-प्रकटपिचण्डस्थितजम्मदंड
कृणुदणुघंड-स्फुट रणघंट-स्फुरुदुरुशुंडाकृतिभुअदंडा
हतखलचंडासुरगण पंडा-जनितवितंडा-जितबलमांडी
रदयितखडीकृतनवीहंडीरभदधिहंडीगणछलकुंडी
कृतकलकंठीगण मणिकंडी स्फुरित लुकंठी प्रियवर कंडी खरणधीर।।

अनुप्रास— मधुरेश! माधुरीमय! माधव! मुरलीमतल्लिक मुग्धा
मममदन मोहन! सुदा मर्दय मनसो महामोहम्।।

सर्ववधु— अभव कमल दल पदतलनयन
शतशत शशधर समकखदन

हंलधर सहचर नमवर घंटण
भवमम शरण मलभयद चरण।।

''अव्ययपद जयअर्तिहराद्वय इन्दुमुखोदय ईशकृपामय'' गो० 114

इस पद्य में अ- क्षपर्यन्त अक्षरों-व्यंजनों का वर्णन है।

श्रीसनातन गोस्वामी—ने श्रीकृष्ण लीलास्तव में 108 प्रणामपूर्वक पाठ की आज्ञा दी है—

एततलीलास्तवं नाम स्तोत्र श्रीकृष्णतम्कम्
प्रणाममाष्टोत्तरशतेथो अर्थावगमपूर्वकम्।।

कविकर्णपूर—इन्होंने आनन्द वृन्दावन 22 स्तवकों में लिखा है। इसमें आद्योपरान्त श्रीकृष्ण लीला बड़े ही अनूठे ढंग से चित्रित की है। आपने अलंकार कौस्तुभ में अलंकारों के जो उदाहरण दिये हैं, भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का निरूपण किया है।

चिदम्बर कवि—इन्होंने पंचकल्याण चम्पू की रचना की है। इसमें श्रीकृष्ण के साथ राम-शिव-विष्णु और सुब्रह्मण्य की लीला भी वर्णित है। प्रत्येक पद्य के 5 अर्थ वाला यह अद्भुत काव्य है। इसमें 2 स्तवक हैं यह अत्यन्त क्लिष्ट चम्पू है।

मित्रभिक्षु—इनकी कृति आनन्दकन्द चम्पू है। इसमें कवि ने भगवान श्रीकृष्ण की लीला के साथ श्रीकृष्ण की जन्मभूमि के मन्दिर का वर्णन भी किया है जो ओरछा नरेश ने बनवाया था तथा कवि उस समय उपस्थित थे।

जैन रामचन्द्र—(12 शती) ने यादवाभ्युदयनाटक की रचना की है।

---

1. गो. वि. 59 - एकाक्षर कवि कर्णपूट—

निनुन्मा नोननं नूनं नानूनोन्माननोअनुनीः।
नानेनानां निनुम्नेनं नामोन्नानानोननु।। पृ० 730 (4)

2. श्रीकृष्ण लीलास्तव-431 - द्वयक्षर—

धरे धराधरधरं धाराधुरधुरारुधम् ।
धीरधीराधाधिरोधै राधाधुरंधरम्।। (3)

रविवर्मा—ने प्रद्युम्नाभ्युदय बनाया है।
कुमारताचार्य—ने (17 श.) पारिजातनाटक निर्मित किया।
शंकर दीक्षित—(18 श.) ने प्रद्युम्नविजय की रचना की।
काशीनाथ शास्त्री—पांचलिका रक्षणम् लिखा।

गौड़ीय सम्प्रदाय के श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती, रघुनाथ दास, स्वर्पनौमभट्टाचार्य ठाकुर, श्रीभक्तिहृदयवन महाराज, श्री मान्योसिद्धान्त सरस्वती, श्री ए.सी. प्रभुपाद आदि की रचनाओं का तो संकेत भी लघु निबन्ध में देना सम्भव नहीं है। श्री स्तवकल्पद्रुम में शतशः कृष्णपरक रचना हैं। भागवत बोस में भी टीकाकारों ने श्रीकृष्ण सम्बन्ध में लिखा है। कुछ कवियों की रचना तो आज लोगों के मुख में विलसती है।

राजा कुलशेखर—जो मुकुन्दमाला के दिविप्त मुदिन्त ममात्सुवासो की ध्वनि आज भी कंठहार है। अर्थ है नरक के हन्ता! मेरा वास स्वर्ग में हो या नरक में, पर मैं आपके शब्द के कमल के समान चरणारविन्दों का वर्णन मरण समय चाहता हूँ—विल्वमंगल की—

''जिह्वे पिबस्वामृतमेतदेव
गोविन्ददामोदरमाधवेति'' पंक्तियाँ दैनिक भजन का स्थान ले चुकी हैं।

●●

उड़िया (उत्कल) के परिप्रेक्ष्य में भावरूप श्रीकृष्ण

❀ डॉ० शंकरलाल पुरोहित

राधा-कृष्ण भक्तों के संकलन को लेकर बात उठी थी। मेरे पास भी एक पत्र गया। मैंने ओड़िशा के इस श्रेणी के भक्तों के सम्बन्ध में अपनी दुविधा बता दी कि यहाँ जगन्नाथ के सिवा किसी और को कृष्ण नहीं मानते। अर्थात् कृष्ण यहाँ जगन्नाथ रूप में हैं। तो सूची बनाने के बजाय यहाँ के सभी लोगों का इलेक्टरल रोल भेज दूँ? जगन्नाथ को न मानने वाले भला यहाँ क्यों रहेंगे? इसी बात को कुछ दूसरे ढंग से कहें तो यों कह सकते हैं--जगन्नाथ के चका डोला (विशाल नेत्र) इतने विराट हैं कि उनमें सारे रंग हैं, सारे वर्ण हैं, सारे धर्म हैं, सारे सम्प्रदाय हैं। सारी संस्कृतियों का इनमें आकर समन्वय हो जाता है जगन्नाथ में एकात्मता का विराट रूप मिलता है। विराटता-अनंतता को जगन्नाथ में अभिव्यक्ति मिली है।

यह बात भी स्पष्ट है--अध्यात्म का हर क्षेत्र जगन्नाथ का अपना है। यह जो भिन्नता दिखती है, यह तो दर्शन की भंगिमा अपनी-अपनी है--यहाँ कोई पराया नहीं लगता। सब जगन्नाथ में समाहित हैं दूसरे शब्दों में सब जगन्नाथ प्रसूत हैं। भिन्न-भिन्न धर्म दर्शन तत्त्व चिंतन सब समधर्मा हो जाते हैं, परस्पर विरोधी होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

बहुत लम्बी है यह यात्रा तब उत्कल में कौन आता था? यहाँ पूजा होती थी नीलमाधव की। शवर रहते थे। वे ही इन शवरी-नारायण के सेवक थे। रोहिणी कुण्ड था, जहाँ काक भी स्नान कर चतुर्भुज विष्णु बन मोक्ष पा जाते थे। यमराज को आकर कहना पड़ा- इस तरह तो सृष्टि में व्याघात हो रहा है। उस विशाल वट के नीचे अभय प्रदान कर यम को

भेज दिया। स्वयं इसके बाद अंतर्धान हो गए । आकाश से सूचना मिली- अब नीलगिरि से दूर सागर तीर पर कलिकाल में निवास करेंगे। महाराज इंद्रद्युम्न ने लंबी आराधना की, यज्ञ किये तब जाकर महादारू के रूप में दर्शन हुए। अब उसे लाकर स्थापित कैसे किया जाय? एक ओर से शवर ने हाथ लगाया दूसरी ओर महाराज ने- सारा कार्य अति सहज सम्पन्न हो गया। उस द्रुम को लाकर महावेदी पर अवस्थापित किया। मूर्ति निर्मित कराई। यह कार्य चल रहा था अवरुद्ध कक्ष में। कुछ समय बाद महारानी की उत्कंठा से द्वार खुलवा दिये। एकांत साधना भंग हो गई मूर्तिकार की और निर्माण का कार्य वहीं रुक गया। लेकिन ये महाप्रभु किसी रूप में अपूर्ण नहीं रहते, हर रूप इन्हीं का है। मंदिर निर्मित कर चतुर्धा दारू विग्रह की स्थापना की गई। जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा एवं सुदर्शन। अपूर्ण में भी सम्पूर्ण हैं। वेदों में जिस दारु के बहने की बात कही गई है। उससे भी कुछ लोग इन दारुदेव का सम्पर्क जोड़ देते हैं। लेकिन पुराणों में तो कई जगह इनकी कथा का वर्णन हुआ है। पुरुषोत्तम का स्थान है- गीता का पुरुषोत्तम कहा जाता है इन्हें ओड़िया पुराणों में इसे कुछ और ढंग से लिया गया है। जरा शवर का बाण लगने से कृष्ण बिंध गए। उन्होंने देह त्याग दी। अर्जुन ने आकर उस पिण्ड को दग्ध करने की व्यवस्था की। हाथ-पाँव आदि कुछ अंश अग्नि में जल गए। परन्तु बाकी पिंड चौबीस घण्टे तक अदग्ध ही रह गया। अर्जुन ने उसे सागर में प्रवाहित कर दिया। बहते-बहते वह पूर्वी तट की ओर चला आया। जरा उसका पीछा करता आ रहा था। पुरी के पास कोणार्क के पास वन में छुपकर रहा। महाराज इंद्रद्युम्न ने सुन रखा था भगवान अब नीलगिरि पर निवास करेंगे। अत: वहाँ आकर एक मंदिर का निर्माण कराया। किंतु तब तक कृष्ण के अदग्ध पिण्ड का कोई संधान नहीं मिला था। पहले जरा को ढूँढ़ा, उसे पूछा। जारा ने ध्यान किया तो कृष्ण ने कहा-कलियुग में हम कुछ समय बाद्ध रूप में रहेंगे। रोहिणी कुण्ड में ध्यान से देखा। अदग्ध पिण्ड अब दारू रूप में आ गया है। इंद्रद्युम्न ने

आकर दर्शन किया-रोहिणी कुण्ड में जो दारु है-वह तो दारु रूप में कृष्ण ही है। दारु को वहाँ से लिया। उसके तीन खण्ड किये। मूर्ति बनाने का दायित्व जरा को दिया। मंदिर बंदकर वह मूर्ति बनाने में जुट गया। लेकिन निर्धारित समय से पहले द्वार खोल दिये गए। इसके बाद विश्वकर्मा और जरा ने मूर्ति को पूरा नहीं किया। कृष्ण ने कहा—जरा। शाल वृक्ष का झूना लाकर पिण्ड पर लेप करो। कलि में कोई मेरा वजन देख सके। पिण्ड पर लेप कर उसे छिपा दिया। बलभद्र, सुभद्रा एवं जगन्नाथ के दारू विग्रह रह गये। आज भी दारू मूर्ति दृश्यमान है, अन्दर का मूल तत्त्व अदृश्य है, रहस्यमय है। दारू विग्रह हर नव कलेवर (जब दो आषाढ़ होते हैं) परिवर्तित होते रहते हैं, पर अन्दर कृष्ण स्थिर हैं, गोप्य हैं। कलियुग में उनके दर्शन सम्भव नहीं।

ओडिया के शूद्र मुनि शारलादास ने यह विवरण-विश्लेषण 'महाभारत' में दिया है। कृष्ण भाव का मूल यहीं नहीं रह जाता। यह तो एक अति महत्वपूर्ण परिप्रकाशन है। शारलादास ने 'महाभारत' में एक ठोस नींव डाली है अक्षरों के माध्यम से। जबकि दारू मुरारी तो कब के ओड़िया जाति के प्राणों में प्रतिष्ठित हो चुके थे। श्रीमन्दिर का महत्व पहले ही भारत में चार धाम में एक रूप में स्थापित हो गया था।

संस्कृत पुराणों यथा स्कन्द पुराण, पद्म पुराण, नारद पुराण आदि के बाद शारलादास का विस्तृत विवरण ही हमारे यहाँ उल्लेखनीय माना जाता है। अब भाषा को एक दिशा मिल गई, जाति एक आधार के बारे में सचेतन हो गई। तेरहवीं सदी का यह प्रकाश पन्द्रहवीं सदी को पूरी तरह आलोकित किये रहा। पंचसखा, जिन्हें पंचशाखा भी कहा जाता है। एक प्रकार से वैविध्य में एकीभूत संघटित शक्ति थे।

जगन्नाथ दास, बलराम दास, अच्युतानन्द दास, यशोवंत दास एवं शिशु अनन्त दास का आविर्भाव कुछ आगे-पीछे हुआ। परन्तु जगन्नाथ महाप्रभु के सभी अनन्य भक्त थे, चैतन्य देव के अति प्रिय थे। यह भक्ति इन पाँचों में अपनी-अपनी विशेषता और प्रखरता लिए थी। चैतन्य देव

ने यह सब बारीकी से देखा। अपने अन्तर में गहराई से अनुभव किया। चैतन्यदेव के लिये भी तो एक ओर जगन्नाथ का आकर्षण था। सोम्य और मैत्री का जीवन्त स्वरूप! चैतन्यदेव तो एकदम बँध गये, जय जगदीश के प्रेम में अभिभूत हो गये। दूसरी ओर था पंच सखाओं का जबर्दस्त नैतिक आन्दोलन—दोनों में कोई किसी से कम न था। चैतन्यदेव के जीवन की अन्तिम एक चौपाई सदी गरुड़ स्तम्भ के पीछे से चकाडोला के दर्शनों या फिर बड़दाँड पर पंचसखा सहित जनता के बीच कीर्तन करते-करते बीती है।

शारलादास रचित 'महाभारत' के व्यापक कैनवास के बाद जगन्नाथ दास विशेषता की ओर उन्मुख होते हैं—श्रीमद्भागवत के आधार पर ओड़िया भाषा में 'भागवत' की रचना की। उन्होंने परम्परागत अनेक रूढ़ियों को तोड़ा 'भागवत' का देसी भाषा में रूपान्तरण कर एक नई शुरुआत की। इतना ही नहीं इसे सहज साँचे में ढालने के लिये लघुतर एक छन्द को ही निर्मित किया। यह भागवत छन्द ही नवाक्षरी छन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नया काव्य रूप (संस्कृत की बजाय ओड़िया में महाकाव्य) उभर आया नव रस (भक्ति रस) सर्वजन सुलभ किया। इस जनसमाज के लिये साहित्य रचना की परम्परा से सारा समाज ही उनके धाम, यथा कृष्ण और गाँव-गाँव में जगन्नाथ दास की ''भागवत की ताड़ पोथियाँ स्थापित की गईं—''भागवत टूंगी'' सारे गाँव का केन्द्रस्थल बन गया। विषय एवं मानवीय गुणों को मिटने नहीं दिया गया। जो काम तुलसी के मानस ने किया, जगन्नाथ दास की भागवत ने वही पूर्वी क्षेत्र में किया।

जगन्नाथ दास भागवत का सरल और सहज ओड़िया में स्वतन्त्र रूपान्तर करते जा रहे थे। सारी जनता के लिये कई नये राज्य के क्षितिज पास आते जा रहे थे। सिंहद्वार के अन्दर भाषा की ऊँची विशाल प्राचीर पार कर हर मनुष्य के लिये कृष्ण नाम की यमुना प्रवाहित कर रहे थे। महाप्रभु जगन्नाथ के जो विभिन्न रूप नाम समाज में प्रचलित थे; कुछ

उन्हें बौद्ध कहते, कुछ जिननाथ जैन बताते, कुछ शैव तो कुछ उन्हें शाक्त पीठ के अधीश्वर महाभैरव कहते। जगन्नाथ दास ने कहा—सौ घड़े जल भरकर रखें, तो भी आकाश का रूप पूरी तरह उसमें प्रतिभास नहीं हो पाता। जगन्नाथ को उसी प्रकार किसी एक नाम-रूप में पूरी तरह माहित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कृष्ण की व्याप्ति की सीमाएँ .ती गईं—जगन्नाथ बहु प्रसारित कर भागवत के शब्दों में सब कुछ को प्रतिबिम्बित करने लगते हैं। हर चित्र उनमें अपना विम्ब देख रहा है।

चैतन्यदेव जब जगन्नाथ के दर्शन कर रहे हैं—मानसिक पूजन करते जा रहे हैं—षोडशोपचार चल रहा है-इसी बीच माल्यार्पण होना है। पर जगन्नाथ के गले में माला उतरती ही नहीं! हर प्रकार से वह छोटी पड़ जाती है। ऊपर से एकदम शान्त, अविचल, पर अन्दर ही अन्दर विचलित हो जाती है। जगन्नाथदास ने पीछे से धीमे शब्दों में कहा—"प्रभु ग्रन्थि खोल दें! यहाँ महाप्रभु के घंडामाल अर्थात् बिना ग्रन्थि लगी खुली माला ही अर्पित होती है!" मुड़कर चैतन्यदेव ने देखा.....आनन्द में उन्हें गले से लगा लिया....." विह्वल प्रभु कह उठे—"तुम्हें अति बड़े..... अति बड़े....कितने महान हो! जगन्नाथ के पास सारी ग्रन्थियाँ खोल दें तभी वे हमारी पहुँच में आते हैं। अन्यथा तो हर माला उनके लिये छोटी पड़ जाती है। इस प्रकार जगन्नाथदास को चैतन्य ने अपने अति निकट कर लिया, खूब स्नेह व सम्मान दिया।

जगन्नाथदास जी की तरह बलरामदास जी भी जगन्नाथ के मनमोहन मण्डप में बैठकर रामकथा का रूपान्तरण करते हैं। बाल्मीकि के अनुसरण पर वे राम को लोकभाषा में रूप प्रदान करते हैं। यहाँ जगन्नाथ ही धनुर्धर राम या सीतापति राम हैं। जगन्नाथ को प्रसन्न करने के लिये उनका चरित्र गा रहे हैं—यह जगन्नाथ में हर रूप देखने की ही परम्परा को प्रतिपादित करता है। इस पर अनेक आक्षेप हुये। बलरामदास लेकिन अपने समता भाव पर अडिग रहे। कभी उनकी जाति को लेकर, ब्रह्मदर्शन पर चर्चा के अधिकार पर प्रश्न उठाया गया, कभी रथयात्रा के

समय उन्हें अपवित्र कहकर अपमानित किया गया। परन्तु हर बार इनका अटल विश्वास और अटूट श्रद्धा ही विजयी रहा। यहाँ तक कि स्वयं चैतन्यदेव ने अनुरोध किया उन्हें जगन्नाथदास को आप ही दीक्षा देंगे।

उसी धारा में अच्युतानन्द आते हैं। इन्होंने कृष्ण भाव को तो ग्रहण किया। परन्तु कृष्ण-लीला में इनकी उतनी रुचि न थी। वे जगन्नाथ को शून्य रूप में देखते हैं। उसी शून्य का विकास हमारे अन्तर में है। इस प्रकार के शून्यवाद की विस्तृत चर्चा इन्होंने 'शून्य संहिता' में की है। जगन्नाथ शून्य पुरुष हैं। सारे तत्त्व का वर्णन वे कृष्ण-अर्जुन संवाद के माध्यम से करते हैं। गीता में जैसे अर्जुन श्रोता हैं, कृष्ण वक्ता, उसी प्रकार इनकी अधिकांश रचनाओं में दर्शन पर चर्चा के समय अर्जुन अपना संशय उपस्थापित करते हैं। कृष्ण से पूछते हैं और फिर कृष्ण उसका उत्तर देते हैं। तत्त्व वर्णन को सरल एवं सहज भाव से करते जाते हैं।

पंच सखाओं की अन्तिम कड़ी हैं शिशु अनन्तदास। वे जीव को राधा नाद से और परम को कृष्ण रूप में मानते हैं। इन दोनों के एकात्मक भाव की अनुभूति इनका मुख्य प्रतिपाद्य है। इधर जो चतुर्धा मूर्ति रत्न-सिंहासन पर देखते हैं—वह चतुर्वेद का ही स्वरूप है। गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास का प्रतिपादन किया है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड तत्त्व की व्याख्या निर्गुण भाव से करते हैं। इस कारण उन्हें बहुत कुछ कबीर प्रभावित कहा जा सकता है। वह सारी तत्त्वज्ञान की चर्चा जनभाषा में खूब सहज एवं सरल शब्दावली में करते हैं।

जगन्नाथ के प्रति इन भक्तों की भावना एक ओर संस्कृत ग्रन्थों (भागवत, रामायण, महाभारत) आदि को लोकभाषा में रूपान्तरण के लिये बाध्य कर रही थी। दूसरी ओर उनकी भक्ति की जड़ें मजबूत हो रही थीं। इस भक्ति में सगुण निर्गुण दोनों भाव से ही कृष्ण के प्रति अगाध श्रद्धा दिखाई देती है। तुलसी ने भी तो कहा था—

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।

वे कहते हैं—

गुण आहे गोपसुत भगतिर कथा,
सगुण निर्गुण दुई जेवण व्यवस्था,
दुइ जे डेपारे पक्षी उडिकरि जाइ,
दुइ जे चक्षुरे सेहि संतारे खेलइ।।

(गुरुभक्ति गीता: अच्युतानन्द)

इस भक्ति के मूल में ज्ञान प्रमुख है। ब्रह्म के प्रति अन्तर में सचेतन ज्ञान है, पर इधर बाह्य रूप को भी छोड़ नहीं पाते। यह ज्ञानमिश्रा भक्ति इन पंच सखाओं की सबसे बड़ी विशेषता है। ये कान्ता-भक्ति या कान्ता-भाव की ओर कभी आकर्षित नहीं हो पाये। यद्यपि चैतन्यदेव के खूब अन्तरंग थे, चैतन्यदेव ने भी उन्हें खूब स्नेह-सम्मान किया। वात्सल्य, दास्य एवं सखा भाव के असंख्य उदाहरण इनकी रचनाओं में मिलते हैं। परन्तु कान्ता-भाव दुर्लभ है। इसके बाद की दो सदियों में इसके लिये उर्वर वायुमण्डल बना।

यहाँ हमें तत्कालीन उत्कल की आर्थिक, सामाजिक स्थिति ध्यान में रखनी होगी। अब विद्या बहुत सीमित क्षेत्र तक रह गई थी। पुरी ही सारे ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र रह गया, बाकी सारा इलाका मानो एक प्रकार से अन्धकार छन्न है। ऐसे में जन-समाज के हृदय में कृष्ण भाव को सतत बनाये रखने के लिये कृष्ण नाम तो लिया, साथ में कृष्ण तत्त्व की गूढ़ता को परिहार किया। संस्कृत से हटाकर इस प्रकार सरलीकरण, सहजीकरण किया कि सारे-सारे रहस्य खुलकर जन-जीवन के निकटतम हो गये। न्यूनतम भाषा ज्ञान रखने वाला भी ब्रह्मज्ञान, परमतत्त्व, जीव-जीवन के सम्पर्क और कृष्ण के सार-तत्त्व को हृदयंगम कर सकेगा। न्यूनतम के लिये कृष्ण भाव सुलभ हो गया।

अब गजपति से रंक तक सबमें यह भाव व्याप्त था। नरपति में भी अहं के लिये स्थान नहीं रह गया। यहाँ तो परम्परा है कि राजा स्वयं को जगन्नाथ का सेवक है, इसमें वह गौरव का अनुभव करता है। वह सारे साम्राज्य के अधिपति स्वरूप जगन्नाथ को मानता है। उन्हीं के लिये

राज्य करता है। उन्हीं की ओर से राज्य जय करता है। बाद में सब कुछ उन्हें अर्पित कर देता है। राजा तक में यह अकिंचन भाव और यह परम्परा इन्हीं की देन है। इसी कारण जनता और जगन्नाथ के बीच गहरा सम्पर्क सम्भव हो सका। वे राजा से रंक तक सबके आत्मीय हैं, अपने हैं, घनिष्ठ हैं। अत: हर समय, हर दशा में, हर समय वे उनके अति निकट हैं। ऐसा अकपट, अटूट, अगाध सम्पर्क इंद्रियातीत होते हुए भी एकदम ठोस और यथार्थ, वास्तव बन गया है। एक दृढ़ परम्परा बन गई जो आज भी उड़ीसा के जन-जीवन की जड़ में जीवंत है।

इस युग ने जो मूल्य स्थापित किये वे चिरस्थायी बने। वे कृष्ण भाव में विलय होने के बाद जाति-पाँति के भेदभाव से ऊपर उठ जाते हैं। यह भाव रोम-रोम से झलक उठता है। सबसे उपार्जन और सारी उपलब्धियों को लाकर समर्पण और सेवार्पित कर ही पूर्णता पाते हैं—

पंच सखा माने ब्राह्मण नोहु।
वैश्य क्षत्रिय उनका हेक्षु काहुँ।
शुद्र वर्ण आंभपूर्वक नाहिं।
पंचसखार कृष्ण सेवारे बाटू।।

इस प्रकार ये अपने को एक ओर तो शूद्र कहते हैं, कृष्ण सेवा के बाद अपनी सारी स्थिति को बिसार देते हैं—गोत्र, कुल, वंश सब कुछ भुला देते हैं। सबके सब 'दास' बन जाते हैं। जैसे शारला परिड़ा कभी शारला दास बन गये, उसी प्रकार बलराम महापात्र बन गये बलराम दास। जगन्नाथ दास हुए जगन्नाथ दास....। इस प्रकार ये सब कृष्ण सेवारे हेतु बाई—कृष्ण सेवा में बावरे हो गये। सारे उत्कल को दुर्दिन में, पराधीनता के अन्धकार में भी कृष्ण नाम में बावरे बनाये रख सके। सारे उत्कल भूखण्ड पर धर्म-दर्शन साम्प्रदायिकता या चिन्तन के स्तर पर कोई स्खलन उस युग में भी नहीं दिखाई देता और सामाजिक चलन में कृष्ण नाम के बल पर पवित्रताबोध बना रखा। मृदंग हैं, नाम कीर्तन किया है, तिलक लगाया है, लीला गायन किया और इसी प्रकार टुंगी घर में बैठकर

या ग्राम भ्रमण कर दुर्दिन में जीवन का आनन्द लिया। आगे बढ़ने का, जीवित रहने का पाथेय प्रदान किया। कृष्ण भाव में निमग्न वे कहते हैं–

कृष्ण कल्पनारू पुणि जनम हेला
राधाकृष्णंकर लीला प्रकाशिबा पाहूँ
जनम होइलु आंभे पंच सखा तहिं।।

यह वह युग है जब भारत के हर क्षेत्र में कृष्ण से महापुरुष जन्मे। उधर भारतीयता को एकसूत्र में बाँधने का विभिन्न क्षेत्रों में प्रयास हुआ। जनता से जुड़ने की बात महत्त्वपूर्ण हो गई चारों ओर। अत: जन भाषा में लिखा, जन के बीच रहे, जन के बीच ही भ्रमण करते रहे। तभी वे जन को इतने ग्राह्य हो सके वहाँ नीलांचल, श्रीक्षेत्र के प्रति जो गौरव भाव जाग्रत किया–अद्यावधि पत्थर की लकीर बना हुआ है–

देख एक नित्य नीलाचल।
सकल तीर्थकर आल।।
गोप, मथुरा, वृन्दावन।
द्वारका आदि जैसे स्थान।।
सकल रहि स्थाने पाइ।
अबर काशी मध्य एहि।।
कोटिए तीर्थ ए क्षेत्र रे।
महिमा कहिले न सरे।।

इस प्रकार की आस्था, इस प्रकार का आत्मविश्वास और आत्मगौरव की भावना ने ही उत्कलीय जीवन को महिमामय बनाया, कालामंडित किया और कृष्ण भाव में उत्कल का आकाश और धरती अपनी अस्मिता बनाये रख सके।

भाव–रूप श्रीकृष्ण : बंगला साहित्य में

❀ श्री गोपाल चन्द्र घोष

''ईश्वर परम कृष्ण सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारण कारणम्।।''

—ब्रह्मसंहिता 5/1

श्रीकृष्ण तत्त्व का निरूपण करना एक दु:साध्य विषय है। गौड़ीय सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को सर्वकारण, सर्वेश्वर परात्पर प्रभु के रूप में प्रतिपादन किया गया है। चैतन्य चरितामृत में कृष्णदास कविराज गोस्वामी कहते हैं–''सर्व अवतारी कृष्ण स्वयं भगवान।'' श्रीकृष्ण मूलनारायण एवं आदि पुरुष हैं। चैतन्य चरितामृत के मध्य खण्ड में बहुत सरस वर्णन किया गया है।

''कृष्णेर यतेक खेला सर्वोत्तम नरलीला
नरवपु ताहार स्वरूप।
गोपवेश वेणुकर, नव किशोर नटवर
नरलीलार हय अनुरूप।।''

—चै.चरि.मध्य खण्ड

परब्रह्म परात्पर प्रभु षडैश्वर्य गुणावली विभूषित अखिल रसामृत सिन्धु कृष्णचन्द्र नराकृति में अवतरित होकर स्वलीला द्वारा भक्तानन्द वर्द्धन करते हैं।

''ब्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण नायक शिरोमणि।
नायिकार शिरोमणि राधाठाकुरानी।।''

—चै.चरि.मध्य खण्ड

श्रीकृष्ण नायक शिरोमणि हैं। अत: सभी प्रकार के महत् गुणावली

आपके श्रीविग्रह में समाविष्ट है अर्थात् चतु:षष्ठी गुण उनमें विद्यमान हैं। चौंसठ गुण विशिष्ट श्रीकृष्ण ब्रज को त्याग कर कहीं नहीं जाते हैं। श्रीकृष्ण ब्रज, मथुरा और द्वारिकाधाम में, पूर्णतम, पूर्णतर और पूर्ण रूप में यथात्क्रम से प्रकाशित हैं।

बंगाल में चाहे शैव हो, शाक्त, अघोरी, तान्त्रिक या कापालिक कोई भी हो ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिन्हें कृष्ण के प्रति लगाव न हो। बंगला भाषा साहित्य के उद्‌भव और विकास में, 10वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी तक के इतिहास को उठाकर देखें तो पहले हमें प्राचीन पद साहित्य विशेषत: प्राक् चैतन्य युग एवं परवर्ती चैतन्य युग के भाव भावनाओं से समुद्‌भावित कीर्तन पदावली का अनुसरण करना होगा। बंगला में एक प्राचीन लोकोक्ति प्रचलित है–

''कानु छाड़ा गीत गाई।
धान वीना खेत नाई।।''

कीर्तन में कृष्ण ही प्रधान हैं और उन्हें छोड़कर कोई कीर्तन ही नहीं है। खेतों धान की उपज की ही प्रधानता है। बंगाल में आर्यों के बसावट से पूर्व जो लोग रहते थे, उनकी सभ्यता उच्चस्तर की नहीं थी। ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी में मौर्यकाल में आर्यों का आगमन बंगाल प्रान्त में हुआ। ईसा के 5वीं शताब्दी में विभिन्न दिशाओं से आर्य बंगाल में बसने लगे। प्रारम्भ में इनकी बोलचाल की भाषा संस्कृत ही रही। संस्कृत से उत्पन्न प्राकृत का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। बंगला देश में प्रारम्भिक काल में इन उपनिविष्ट आर्यों द्वारा साहित्य की नींव रखी गई थी। उस समय के लेखों का नमूना प्राचीन ताम्रफलक पर लिखा गया अनुशासन लिपि या भित्ति लेख दानपत्रों से प्राप्त होता है।

ईसवीं आठवीं शताब्दी में राजा देवपाल के राज्यकाल में प्रथम काव्य रचना का आरम्भ हुआ, वह था अभिनन्द का 'रामचरित काव्य' उसमें भी कहीं-कहीं पर कृष्ण की वन्दना है। पालवंशीय राजाओं के राजत्वकाल में विद्याचर्या को प्रोत्साहन मिला। उनके उपरान्त सेन वंशीय

राजाओं का राज्यकाल आया। ये सभी विद्योत्साही, परिमार्जित रुचि सम्पन्न थे। उस समय के सुप्रसिद्ध पण्डित और कवि सेन राजाओं के सभा को मण्डित करते थे। 12वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में महाराजा लक्ष्मण सेन की सभा में उमापति धर, शरण, धोयी, गोवर्द्धनाचार्य एवं जयदेव इन पाँचों प्रसिद्ध कवियों का सम्मेलन हुआ था। इस युग में श्रेष्ठ रसिक कवि थे जयदेव। इनके द्वारा गीतगोविन्द महाकाव्य संस्कृत में रचा गया था। श्रीकृष्ण के मधुर वृन्दावन निकुंज लीला का हृदयाकर्षी वर्णन हुआ था। इस काव्य में चौबीस गीत अर्थात् पद अति सरल संस्कृत में हैं। इसकी श्रुति मधुरता सभी के मन को हर लेती है। सही रूप में विचार किया जाय तो इस काव्य से बंगला कृष्ण कीर्तन का प्रारम्भ हुआ। श्री जगन्नाथ देव के मंदिर पुरी में प्रतिदिन गीत गोविन्द का सुमधुर गायन सेवा पूजा का प्रधान अंग माना गया है।

संस्कृत भाषा लोगों के मुखों में रहते-रहते क्रमशः रूपान्तरित होकर प्राकृत भाषा में परिवर्तित हो गई। प्राकृत भाषा से विभिन्न आधुनिक भाषाओं का उद्भव हुआ जैसा बंगला, आसामी, उड़िया, मैथिली, हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि उत्पन्न हुई। आधुनिक भाषाओं के रूप में आने से पहले प्राकृत का रूप अपभ्रंश था। यही अपभ्रंश भाषाओं में बौद्ध सिद्धाचार्यों एवं साधकों ने पद रचना की। इनमें नाड़, लूईपाद आदि प्रसिद्ध हुये। वे बंगला भाषा में लिखते-गाते थे। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री महाशय नेपाल दरबार के राजकीय पुस्तकालय की खोजकर बौद्ध सिद्धाचार्यों द्वारा लिखे गये पोथी और अन्य कई महत्वपूर्ण पोथियों के साथ कलकत्ता आये और 'बंगीय साहित्य परिषद की सहायता से' हाजार बछरेर पूरान बांगला भाषाय बौद्ध गान ओ दोहा'' नाम से प्रकाशित कराया था। चर्यागिति पोथियों के साथ ही साथ कृष्ण कीर्तन सर्वाधिक प्राचीन पोथी है। इनमें 'शिशुवध काव्य' तो सन् 1511 ई. की है। बंगाली भिक्षु-भिक्षुणी, बौद्ध सिद्धाचार्यों द्वारा रचित पद गाँवों, बस्ती, कस्बों में गा-गाकर सुनाते थे। यही धारा परवर्ती वैष्णव कवियों के

काव्य में पूर्ण रस एवं शक्ति को संचित करके बंगला साहित्य की प्रधान धारा के रूप में प्रवाहित हुई। गीति काव्य धारा में वही प्रवाह अक्षुण्य है। जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास आदि के पदावली छन्द एवं झंकार से पता चलता है कि उन्हें लम्बे अर्से से गाया जाता रहा है।

''चण्डीदास विद्यापति, रायेर नाटक गीति
कर्णामृत श्रीगीतगोविन्द।
स्वरूप रामानन्द सने, महाप्रभु रात्रिदिने
गायसुने परम आनन्द।।''

—चै०चरि० अन्त्य

महाप्रभु चैतन्यदेव विप्रलम्भ दशा में चण्डीदास, विद्यापति के पदावली, राय रामानन्द रचित संस्कृत में जगन्नाथ वल्लभ नाटक के गीत, विल्वमंगल कृत: कृष्णकर्णामृत तथा जयदेव कृत गीतगोविन्द के कोमलकान्त पदावली का आस्वादन करते थे। राधाकृष्ण लीला माधुर्य पूर्ण रसभाव विशुद्ध जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति के पदावली शास्त्र सम्मत और स्वरताल मात्रा से युक्त था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। चैतन्य देव से पहले भी पहले कृष्ण कीर्तन प्रचलित थे। वे भावपूरित तो थे ही परन्तु वह प्रणालीबद्ध नहीं थे। श्रीकृष्ण लीला कीर्तन को स्मरण या उपासना का अंग नहीं माना जाता था। कृष्ण के लीला पदों को क्रमबद्ध गायन एवं आस्वादन परिपाटी के प्रवर्तक स्वयं श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु हैं। वर्षोत्सव के दिनों में तद्गत भाव प्रतिपादक पद कीर्तन भावनिधि चैतन्यदेव नृत्य करते थे एवं वैष्णव पार्षदों को लीला रस आस्वादन के लिये प्रेरित करते थे। इन्हीं कारणों से कृष्णदास कविराज ने कहा है कि

''संकीर्तन प्रवर्तक श्रीकृष्ण चैतन्य।''

कीर्तनीयागण प्राचीन पदकर्ताओं द्वारा रचित पदावली समूह को राधाकृष्ण के लीलात्मक में सजाकर फिर खोल, करताल आदि के साथ गान करते हैं उसे लीला कीर्तन कहते हैं। कृष्ण जन्मलीला, बाल्यलीला, गोष्ठ, गौचारण, रास, मान, बंशी शिक्षा माधुर्य आदि। वर्षोत्सव क्रम में

झूला, होली, बसन्त, जलविहार, चन्दनयात्रा, रथयात्रा आदि क्रम में सजाकर एक अपूर्व माला तैयार कर लेते हैं। इसे पालगान भी कहते हैं। इस तरह क्रमानुसार पिराने में भक्ति सिद्धान्त, ज्ञान, काव्यप्रतिभा और रसानुभूति ही विशेष प्रयोजन है। रसाभास दोष युक्त पद कीर्तन या रचना महाप्रभु जी नहीं सुनते थे, उन्हें कष्ट होता था।

विरुद्ध सिद्धान्त आर गान रसाभास।
जाहा सुनि महाप्रभु ना हय उल्लास।।

—चै.चरि. अन्त्यः

एक ओर चण्डीदास की रचना ने जहाँ बंगला साहित्य को समृद्धशाली बनाया है वहीं शोधार्थियों ने समस्या उत्पन्न कर दी है कि चण्डीदास तीन हैं। बडुचण्डीदास द्विजचण्डीदास, दीनचण्डीदास। चण्डीदास को वर्षा ऋतु का कवि कहा गया है। वर्षा का स्वर विरह का द्योतक है। कवि विद्यापति बसन्त के कवि हैं और बसन्त ऋतु मिलन का प्रतीक है। मिथिला के विद्यापति के पदों के साथ कुछ कुछ बंगला पदों का सम्मिश्रण हो गया और विवाद का विषय बन गया कि विद्यापति मैथिल थे या बंगवासी ? परन्तु शोध के आधार पर वे मैथिल कोकिल ही रहे।

बारहवीं से तेरहवीं शताब्दी के सन्धिकाल में बंगाल पर तुर्कों का आक्रमण शुरू हुआ। तुर्की आक्रमण के फलस्वरूप बंगालियों की विद्या और साहित्य चर्चा जड़मूल से विनष्ट हो गई। प्राय: ढाई सौ वर्ष के लिये देश सभी दिशाओं में पिछड़ गया। देश में शान्ति नहीं थी, अत: साहित्य चर्चा हो नहीं सकती, इस कारण से 13वीं और 14वीं शताब्दियों में रचित बंगला काव्य नहीं मिलते हैं। 15वीं शताब्दी में कम से कम तीन सुलतानों ने और 16वीं शताब्दी में एक सुल्तान एवं उनके उच्चपदस्थ कर्मचारियों ने उत्कृष्ट काव्य रचना कराई थी। तुर्की आक्रमण के पश्चात् 15वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी के मध्य भाग तक बंगला साहित्य गीतिमूलक था। मंजीरा, मृदंग, चँवर, साँझ के साथ बलबद्ध होकर अति प्राचीन परम्परा से 'पांचाली' गाया जाता था। बंगला काव्य धारा में

मालाधर वसु कृत 'श्रीकृष्ण विजय' काव्य को गाया जाता था। उक्त साहित्य को कृष्ण मंगल या गोविन्द के नाम से भी जाना जाता रहा। यह रचना 1481 ई० में पूर्ण हुई। जहाँ तक खोज रिपोर्ट के अनुसार प्रमाणित हुआ श्रीकृष्ण विजय कृष्णलीला विषयक प्रथम बंगला काव्य है। अत्यन्त सुललित काव्य है। कवि के पुत्र सत्यराज खान जब पुरी में चैतन्यदेव से मिलने गये तो महाप्रभु ने उनके पिता द्वारा रचित काव्य की विशेष प्रशंसा की थी। महाप्रभु के समसामयिक वराहनगर निवासी श्रीरघुनाथ पंडित, भागवत के मर्मज्ञ विद्वान थे और चैतन्य पार्षद पण्डित गदाधर के प्रिय शिष्य थे। उन्होंने श्रीमद्भागवत को वंगला गीति छन्दों में निबद्ध किया और श्रीचैतन्यदेव को सुनाया। आस्वादननान्तर चैतन्यदेव भावाविष्ट हो गये थे। उक्त रचना 'कृष्णप्रेम-तरंगिणी' के नाम से प्रसिद्ध है।

सोलहवीं शताब्दी में श्री चैतन्य के प्रभाव से बंगला साहित्य का परिपूर्ण उदय हुआ। इसके पश्चात् ढाई सौ वर्ष तक बंगला साहित्य पर वैष्णवता की छाप विशेषत: कृष्ण भावना परिभावित अमिट रूप से बनी रही। सोलहवीं शताब्दी के वैष्णव गीति काव्य में ही प्राचीन बंगला साहित्य के चरम उत्कर्ष ने प्रकाश पाया। गीति काव्य बंगला ही नहीं जयदेव के अनुकरण पर संस्कृत में भी रचा गया। परन्तु अधिक भाग एक नवीन मिश्रित भाषा में लिखा गया जो ब्रज-बोली मैथिली एवं बंगला भाषा के मिश्रण से बनी एक कृत्रिम भाषा थी, वह 16वीं से 18वीं शताब्दी तक वैष्णव गीति की भाषा में घुल-मिल गई। इसे लोग ब्रज-बोली मानने लगे। वृन्दावनदास, वासुदेव घोष, नरहरि सरकार, वंशीवदन, नयनानंद, मुरारि, रामानन्द, माधवाचार्य, कविरंजन, देवकीनन्दन बलरामदास, ज्ञानदास, शिवानन्द, यदुनन्दन, उद्धवदास, अनन्तदास, चैतन्यदास आदि जिन्होंने अपने भावसिद्ध ललित पदावली से श्रीकृष्ण भावना को बंगाल के सुमधुर, रससिक्त भावुक हृदय को पल्लवित किया। वृन्दावनदास के चैतन्य भागवत तथा कृष्णदास कविराज के चैतन्यचरितामृत में श्रीचैतन्य के जीवन चरित्र के माध्यम से श्रीकृष्णलीला, तत्त्वात्मक महिमा का

प्रतिपादन किया गया है। बंगला के घरों में नरोत्तमदास ठाकुर के श्रीप्रार्थना एवं प्रेमभक्ति चन्द्रिका का पठन-पाठन, गायन होता है। 19वीं शताब्दी के अन्त में, यहाँ तक कि 20वीं शताब्दी में भी बंगाली कवियों ने ब्रजबोली में पद रचना की है। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की युवावस्था में रचित श्रेष्ठ रचना है 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' भाषा ब्रजबोली विषय कृष्णलीला है।

भारत भावरूप श्रीकृष्ण : असमिया साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

❀ डॉ० महेन्द्र नाथ दुबे

मध्यकालीन भारतीय साहित्य की भाँति ही, मध्यकालीन असमिया साहित्य में भी श्रीकृष्ण-कथा को प्रमुखता से सिरजा गया है। मध्यकाल में समस्त भारत में श्रीकृष्ण कथा की स्रोतस्विनी अपनी असीम ऊर्जा-शक्ति से प्रवाहित थी। भारत की भौगोलिक सीमा के पूर्वांचल में प्रसारित असमिया भाषा-भाषी प्रदेश भी इस स्रोतस्विनी की अभिनव प्राज्ज्वल धारा से शताब्दियों तक भीगता रहा है। इस परिवेश में कौन कहाँ तक किससे प्रभावित हुआ है अथवा किसने किसे किस सीमा तक प्रभावित किया है? कहा नहीं जा सकता। असम के वैष्णव धर्म के आदि अधिष्ठाता महापुरुष शंकरदेव के पहले भी असमिया साहित्य में कृष्ण विषयक साहित्य रचा गया था। किन्तु एक प्रखर एवं उत्कृष्ट साहित्य-सर्जना के रूप में वह महापुरुष शंकरदेव के आविर्भाव के अनन्तर ही विकसित हुआ। अपने अतिशय गौरवशाली रूप में अभिव्यक्त हुआ। महापुरुष शंकरदेव भारतीय आत्मा का दर्शन अपनी कई बार की यात्राओं में लगभग चालीस वर्षों का समय लगाकर किया था। जिससे अपने समय की समस्त भारतीय-चिन्तन-वृत्ति को निकट से निरखने-परखने में वे समर्थ हुये थे। उस काल में भारतीय-मानस और साहित्य में कृष्णार्पित-भक्ति की जो अनुगूँज थी, उसे अपनी हृदय-वीणा के तारों पर उन्होंने भी झंकृत किया था। जिससे भारत के पूर्वांचल में श्रीकृष्ण धुन सर्वत्र गुंजरित हो गयी थी। महापुरुष शंकरदेव ने असम उपत्यका में धर्म-दर्शन, साहित्य और समग्र जन-जीवन को अपनी असाधारण प्रतिभा से प्रवाहित किया था। असमिया साहित्य में अपनी उत्कृष्ट रचनाओं से उन्होंने श्रीकृष्ण

आख्यान को श्रद्धापूर्ण मर्यादा का स्थान दिया। उन्होंने अपने गीतों, काव्यग्रन्थों एवं नाटकों के माध्यम से श्रीकृष्ण कथा का वह आदर्श रूप प्रस्तुत किया, जो उनके अनन्तर उनके प्रमुख शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा और भी अधिक पुष्पित और फलित होता रहा।

असमिया श्रीकृष्ण कथा का मूल आधार श्रीमद्भागवत महापुराण ही रहा है। यद्यपि श्रीशंकरदेव को उत्तर एवं दक्षिण भारत तथा समीपवर्ती बंगाल में श्रीकृष्णचरित के रूप में किये गये नानाविध परिवर्तनों का पता था, फिर भी उन्होंने श्रीमद्भागवत के मूलरूप को ही आदर्श बनाना उचित समझा। इसी से असमिया भाषा में अनुकीर्तित श्रीकृष्ण कथा श्रीमद्भागवत के अधिक निकट है। वैसे यत्र-तत्र कुछ कथांश हरिवंश और विष्णुपुराण से भी लिए गये हैं। असमिया भाषा में मध्यकाल में अनेक वैष्णव भक्तों ने श्रीकृष्ण चरित विषयक रचनाएँ कीं, किन्तु सर्वाधिक महत्त्व महापुरुष शंकरदेव और उनके शिष्य श्रीमाधव देव की रचनाओं का ही है। श्रीशंकरदेव ने श्रीकृष्णचरित को दो रूपों में प्रस्तुत किया है—

1. श्रीमद्भागवत महापुराण के कृष्ण आख्यान के अनुवाद के रूप में।

2. स्वयंकल्पित मौलिक भाव-सर्जना के रूप में।

इसमें श्रीकृष्ण के बाल्य-जीवन का वृत्तान्त तो अधिकतर भागवताश्रित है। किन्तु रास-क्रीड़ा आदि आख्यानों में उन्होंने विष्णु-पुराण और हरिवंश-पुराण की कथा को भी यत्र-तत्र स्वीकार किया है। इस प्रकार के वर्णन उनके परम आदरणीय ग्रन्थ 'दसम्' और 'कीर्तन' से उपलब्ध हैं। रासक्रीड़ा का वर्णन श्रीशंकरदेव ने अत्यन्त सहृदयता और निपुणता से किया है। रास की संयोग क्रीड़ा और उसी मध्य श्रीकृष्ण के अन्तर्ध्यान हो जाने से गोपिकाओं की विरह व्यथा की जो हृदय-स्पर्शिनी शक्ति का सहज ही आभास मिलता है। रासक्रीड़ा विषयक रचे गये अपने लगभग 500 पदों में उन्होंने वंशी-ध्वनि के भाव से गोपिकाओं के

हृदय में उभरती आकर्षण की अदम्य अभिलाषा, वृन्दावन में श्रीकृष्ण का संगलाभ, रासक्रीड़ा का प्रमत्त भाव, विह्वल व्यापार, श्रीकृष्ण के क्षणिक वियोग में आत्मा का करुण चीत्कार और पुनर्मिलन में परमानन्द का सहज स्फुरण, उन्होंने नाना भाव-भंगिमाओं को बड़ी मर्यादा से चित्रित किया है। उल्लेखनीय है मध्यकालीन हिन्दी एवं बंगला साहित्य आदि की भाँति असमिया भाषा में इस काल की रचनाओं में रासक्रीड़ा में श्रीराधा को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है। श्रीमद्भागवत की भाँति ही यहाँ रासक्रीड़ा श्रीकृष्ण और गोपिकाओं का ही समन्वित रास है। श्रीराधा को अलग से अतिरिक्त महत्त्व नहीं दिया गया है। शंकरदेव के बाद रचित असमिया साहित्य में भी राधा का वह परम प्रेयसी रूप नहीं चित्रित हुआ है। जहाँ कहीं राधा का चित्रण हुआ भी वहाँ वह एक वयोज्येष्ठा संरक्षिका अथवा भक्त के रूप में चित्रित हुई हैं।

'दसम' एवं 'कीर्तन' ग्रन्थों में श्रीकृष्ण की शिशु-लीला का भी बड़ा मनोरम चित्रण श्री शंकरदेव ने किया है। जिसमें कहीं यशोदा के अतिशय दुलार में पलते श्रीकृष्ण, कहीं ग्वालबालों के साथ गाय चराते, कहीं माखन चुराते, कहीं गोपिकाओं से दूध-दही माँगते हुए चित्रित किये गये हैं। श्रीकृष्ण के नटखटपन और गोपिकाओं की शिकायतों से परेशान यशोदा श्रीकृष्ण को नाना प्रकार से अनुशासित करती हैं। किन्तु वहीं श्रीकृष्ण जब मथुरा जाने लगते हैं, तो यशोदा और गोपिकाओं का अनन्त प्यार सारे बाधा-बंधन तोड़कर जैसे उमड़ पड़ता है। 'गोपी-उद्धव संवाद' अंश में श्रीशंकरदेव ने कवित्व और सहृदयता के अत्यन्त उत्कृष्ट भावों को प्रस्तुत किया है। गोपी-उद्धव-संवाद का वर्णन उन्होंने लगभग 200 पदों में किया है।

महापुरुष शंकरदेव ने अपने असमिया नाटकों में भी श्रीकृष्ण-चरित का आख्यान प्रस्तुत किया है। इनकी भाषा में श्रीकृष्ण की पावन भूमि की भाषा को भी छोंक देने की कोशिश की है जिसके कारण इसे 'ब्रजाली' नाम दिया जाता है जो बंगाल की ब्रजबोली जैसा ही है। इसमें

भोजपुरी और मैथिली की भी प्रवृत्तियाँ हैं। 'केलिगोपाल' इस संदर्भ का पहला नाटक है। जिसमें रासक्रीड़ा प्रसंग को नाटक के रूप में रचा है। शंकरदेव के नाटक गद्य में होते हुए भी काव्य से अधिक प्रभावित हैं। इसी से उनमें स्थान-स्थान पर गीतों का बाहुल्य है। 'केलिगोपाल' में भी विभिन्न राग-रागनियों पर आश्रित 32 गीत हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक संस्कृत श्लोक भी इस नाटक में समाहित हैं। इस नाटक में गोपिकाओं के आन्तरिक भावों को बड़ी निपुणता से कवि ने मूर्त रूप दिया है।

काव्य एवं नाटकों के अतिरिक्त अपने विख्यात 'बरगीतों' में भी शंकरदेव ने प्रकाशान्तर से श्रीकृष्ण के परमतत्वमयरूप की ओर भक्तजनों का ध्यान आकर्षित किया है।

महापुरुष शंकरदेव के सुयोग्य शिष्य माधव देव ने अपने 'बरगीतों' में बालकृष्ण की लीलाओं का कौतुकमय वर्णन किया है। यशोदा का पुत्र के प्रति मोहजनित प्यार, कृष्ण की शरारती क्रीड़ाएँ, गोपिकाओं के अनन्त उलाहने, श्रीकृष्ण की वचन-चातुरी, श्रीराधा की छलना आदि का बड़ा ही सरस वर्णन माधवदेव ने किया है। नाना छलबलों से बालकृष्ण अपनी माँगें माँ यशोदा और गोपिकाओं से पूर्ण करा लेते हैं। कभी ग्वालबालों के अपने प्रति अत्याचारों को दिखाकर, कभी गायों के पीछे भागते रहने की व्यथा बताकर वे सहज ही माखन-दही पा जाते हैं और गोपिकाओं की करतल ध्वनि की ताल पर नाचते हैं। वे ही कृष्ण जब मथुरा चले जाते हैं तो यशोदा गोपिकाएँ क्या सारा ब्रज ही शोक के समुद्र में जैसे डूब जाता है सर्वत्र अँधेरा छा जाता है।

श्री माधवदेव ने 'बरगीतों' के अतिरिक्त अपने नाटकों में भी। जिन्हें 'झूमुरा' कहते हैं, बालकृष्ण के आख्यान को ही विशेष महत्त्व दिया है। 'अर्जुन भंजन' नामक अपने नाटक में उन्होंने माँ यशोदा द्वारा ऊखल में बाँधे जाने और स्वयं छुटकारा पाने के प्रयास में भागते हुए, श्रीकृष्ण द्वारा यमलार्जुन मोचन की घटना का बखान किया गया है।

'चोरधारा' नाटक में हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण एक गोपी के घर में घुसकर गोरस की चोरी कर रहे हैं कि गोपिका उन्हें अपने घर में बन्द कर लेती हैं। फिर पास-पड़ोसियों को इस रोज-रोज के चोर को प्रतिबन्धित करने की पुकार लगाती हैं। इस बीच श्रीकृष्ण बड़ी चातुरी से ऐसी चीख पुकारते हैं कि उनके बालसखा भी इकट्ठे हो जाते हैं और तब सखाओं के बल पर और अपनी वचन विदग्धता के भरोसे सारा दोष उस गोपिका पर ही मढ़ देते हैं। जिससे भयभीत हो वह उन्हें मुक्त कर देती हैं और ऊपर से उन्हें एवं उनके साथियों को माखन भी खिलाती हैं। इसी प्रकार एक अन्य नाटक ''पिपंट-गुसुआ'' (चींटी-निकालना) में एक गोपी के घर गोरस भाजन में हाथ डाले हुए ही श्रीकृष्ण पकड़ में आ जाते हैं। परिचय पूछने पर वे अपने को बलराम का लघुभ्राता, उस घर को अपना ही घर और गोरस-भाजन को अपने ही घर का भाजन बताते हैं तथा पात्र बताते हैं। जब वह पूछती हैं कि तुम्हारे मुख से माखन की गंध क्यों आ रही है, तो बड़ी शीघ्रता से वे उस गोपी के मुँह पर ही माखन पोत देते हैं, और कहते हैं कि माखन-गंध तो तुम्हारे मुख से निकल रही है। गोपियाँ जब यशोदा से शिकायत करती हैं और परिणामस्वरूप यशोदा कृष्ण को दण्ड देती हैं, तो वे घर छोड़ देने की धमकी देते हैं।

'भूषण-हरण' नाटक में उन्होंने दिखाया है कि कृष्ण कदम्ब वृक्ष के नीचे गम्भीर निद्रा में निमग्न हैं। अचानक राधा उधर से गुजरती हैं। बड़ी सावधानी से वे श्रीकृष्ण के सभी आभूषण उतार लेती हैं तथा उसे माँ यशोदा को सौंप आती हैं। तदन्तर पुनः कृष्ण को जगाकर पूछती हैं कि तुम्हारे आभूषण कहाँ गए? परेशान कृष्ण कुछ बता नहीं पाते, घर आकर जब नये आभूषणों की जिद माँ से करते हैं। तो माँ यह कहकर कि एक गोपिका उन्हें आभूषण दे गई हैं, अतः नये आभूषणों की जरूरत नहीं, पुराने को ही सँभालने की जरूरत है। तब कृष्ण बहाना बनाते हैं कि एक गोपी ने उन्हें मिठाई खिलाई थी। पता नहीं उसमें क्या था कि उससे वे बेहोश हो गए। इसी बीच राधा ने आकर उनके आभूषण उतार लिए।

जिससे माँ यशोदा राधा पर ही अत्यन्त कुपित हो जाती हैं।

'कोटोर-खेला' नाटक में श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ यमुना तट पर पधारकर ग्रहीता के रूप में दिखाई पड़ते हैं। गोपिकायें जब-तब उधर से गुजरती हैं, तो वे पथ-कर एवं पार करने का कर माँगते हैं। अन्त में राधा और गोपिकायें उन्हें कर के रूप में माखन-दही देने को राजी होती हैं। तब कहीं वे जा पाती हैं। जाने से पहले उनके आग्रह पर श्रीकृष्ण उनकी करतल ध्वनि के ताल पर नाचते भी हैं। जैसा आरम्भ में ही बताया गया है, असमिया-साहित्य में श्रीकृष्ण-कथा का स्वरूप श्रीमद्भागवत पर ही मूलत: आश्रित है और उसमें श्रीकृष्ण की प्रणय-संगिनी-प्रेयसी के रूप में राधा को प्रस्तुत नहीं किया गया है। मध्यकाल में ही जब जयदेव कृत 'गीत-गोविन्दम्' की अनुगूँज समस्त भारत में गुंजायमान हो रही थी और श्रीराधा, श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति के रूप में समस्त बंगीय वाङ्मय में संकीर्तित हो रही थी, तब असमियाँ में भी गीत गोविन्द के अनुवाद हुए थे। सोलहवीं शताब्दी के श्रीराम सरस्वती और अठारहवीं शताब्दी के श्रीधर्मदेव भट्ट ने गीत-गोविन्द के असमिया अनुवाद किये। फिर भी इस व्यापक प्रभाव का भी असमिया वाङ्मय पर बस इतना ही प्रभाव पड़ा कि परवर्ती कुछ कवियों ने रासक्रीड़ा के समय श्रीकृष्ण जिस प्रधान गोपी के साथ अन्तर्ध्यान हो जाते हैं, राधा को उस प्रधान गोपी से अभिन्न मान, राधा को रासक्रीड़ा की प्रिय केलि सखी का स्थान प्रदान किया। तथापि राधा और गोपियाँ अन्तत: श्रीकृष्ण के रूप में ही यहाँ चर्चित हुई हैं। सोलहवीं शताब्दी में रचित श्री कलापचन्द्र का 'राधा-विजय' काव्य राधाचरित के उस परिवर्तित रूप का कुछ संकेत देता है। इस काव्य में दिखाया गया है कि श्रीकृष्ण की प्रेमिका-प्रेयसी और भक्त के रूप में अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने का गर्व श्री रुक्मिणी को ही जाता है। परीक्षा करने के लिए श्रीकृष्ण जानबूझकर अपना सर्वश्रेष्ठ भक्त राधा को बताते हैं। परीक्षण करने के उद्देश्य से रुक्मिणी उद्धव को ब्रज भेजती हैं। ब्रज में जाकर श्रीकृष्ण विरह में परगविरहापन्न राधा का

जो साक्षात्कार उद्धव करते हैं उससे वे स्वयं राधा को श्रीकृष्ण का सर्वश्रेष्ठ भक्त घोषित करते हैं।

श्रीमाधवदेव के प्रमुख शिष्य श्रीगोपालदेव ने अपनी दो प्रमुख कृतियों—'जन्मदाता' और 'उद्धवयान' में श्रीकृष्णचरित का वर्णन किया है। जन्मयात्रा में सद्योजात शिशु की विपरीत परिस्थितियों में गोकुलयात्रा और गोकुल में जन्म बधाई के आनन्द समुद्र का उद्वेलित वर्णन है। उद्धवयान या गोपी-उद्धव संवाद में कृष्ण-विरह कातर गोप-गोपिकाओं को धैर्य बँधाने और उपदेश देने के लिये श्री उद्धव के ब्रज आगमन और गोपी संवाद का वर्णन है।

सत्रहवीं एवं अठारहवीं शती के कुछ असमियाँ कवियों एवं नाट्य-रचयिताओं ने गोपियों के कृष्ण के प्रति मातृत्वपूर्ण वात्सल्य का वर्णन किया है। एकाध कवियों ने यत्र-तत्र रासक्रीड़ा जैसे प्रसंगों में मधुर भाव का भी चित्रण किया है।

श्रीकृष्ण चरित्र का गुणगान सामान्य असमियाँ काव्य-नाटक के अतिरिक्त असमियाँ लोकगीतों में भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। असमी लोक-गीतों में श्रीकृष्ण मुख्यत: एक नटखट ग्वालबाल के रूप में चित्रित किये गये हैं। जो प्राय: मार्ग में गोपिकाओं से छेड़खानी करते हैं और विविध उपायों से उनसे माखन-दही माँगकर खाते हैं। कभी वे प्रखर स्रोत-प्रवाहिनी यमुना में केवट बनकर गोपिकाओं को पार उतारते हैं, तो कभी उसी बीच नाव हिला-डुलाकर उन्हें आतंकित कर अपना अभीप्सित पूरा करते हैं। कभी कदम्ब की घनी डालों में छिपकर श्रीराधा के आगमन की प्रतीक्षा करते हैं। कभी उन्हें डराकर, परेशान कर उनसे विविध प्रकार के हास-परिहास करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन असमियाँ साहित्य में श्रीकृष्णचरित एक अत्यन्त लोकप्रिय और श्रद्धास्पद विषय रहा है। असमियाँ साहित्य की यह विशिष्टता रही है कि यह संस्कृत पुराणों की मान्यता के अति निकट रहा है। अतिशय काल्पनिक संयोजन यहाँ कम

हुए हैं। दूसरे श्रीकृष्ण आख्यान यहाँ मूलत: भक्ति-भावना से ही मंडित रहा है। शृंगारिकता के प्रति यहाँ आसक्ति बहुत कम रही है। वस्तुत: श्रीकृष्ण चरित की सर्जना यहाँ समस्त धर्मप्राण जनता को एकसूत्र में बाँधने और समस्त पूर्वांचल को साथ लेकर सर्वहिताय सभी को उत्कृष्टतर कोटि में पहुँचाकर, पुरुष को महापुरुष की भूमिका में पहुँचाने के महत्तर उद्देश्य से हुई है।

●●

मणिपुर में श्रीराधाकृष्ण–भक्ति

❀ डॉ० जगमल सिंह

मणिपुर प्रदेश महाभारत-काल से ही कृष्ण-कथा से सम्बद्ध रहा है। यहाँ के राजा अपने-आपको अर्जुन का वंशज मानते हैं। अर्जुन अज्ञातवास के समय मणिपुर आये थे। उस समय के अपने तीन वर्ष के प्रवास-काल में उन्होंने मणिपुर के गन्धर्ववंशी राजा चित्रभानु की कन्या चित्रांगदा से विवाह किया था। युधिष्ठिर द्वारा आयोजित अश्वमेध के सन्दर्भ में अर्जुन दूसरी बार मणिपुर आये। उस समय यहाँ का शासन उन्हीं के पुत्र बभ्रुवाहन के हाथ में था। कहा जाता है कि बभ्रुवाहन ने अपने पिता अर्जुन से अश्वमेध के घोड़े के लिए युद्ध की तैयारी कर ली थी, किन्तु चित्रांगदा के कहने से यह युद्ध टल गया था।[1]

सृष्टि के सम्बन्ध में मणिपुर में यह विश्वास प्रचलित है कि अत्यागुरु शिदबा की आज्ञा से भगवान् विष्णु ने विश्व की सृष्टि की थी।[2] मणिपुर के इतिहास के अध्येताओं का एक वर्ग होता है, जो यह मानता है कि मणिपुर में विष्णु-पूजा पड़ोसी राज्य कामरूप से आये हुए प्रव्रजनकारियों द्वारा प्रचलित की गयी। गुप्त-शासनकाल में कामरूप वैष्णव-मत के प्रभाव में आ चुका था। माना जाता है कि इस मत के प्रव्रजनकारी मणिपुर आये और आजकल विष्णुपुर नाम से प्रसिद्ध स्थान पर रहने लगे। इस प्रकार मणिपुर में विष्णु-पूजा सम्बन्धी कई मत उपलब्ध हैं, जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रदेश में वैष्णव-प्रभाव पर्याप्त प्राचीन है।

नौथिंखों (सन् 663 ई०) के समय में सातवीं शताब्दी में तथा फयेङ ताम्रपत्रों के आधार पर आठवीं शताब्दी में वैष्णव-धर्म के मणिपुर

में प्रचलित होने का उल्लेख मिलता है।[3] उस काल में प्रयुक्त लेखीनगुरु (लक्ष्मीनारायण), लाखोनदास (लक्ष्मणदास) जैसे वैष्णवी शब्द भी इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। सन् 1470 ई० में महाराजा कियम्बा के शासनकाल में पोङ के राजा द्वारा उन्हें भगवान् विष्णु की मूर्ति भेंट किये जाने का उल्लेख मिलता है।[4] उसी समय कियाम्बा ने चीनी कारीगरों से (जो युद्ध-बन्दी थे) भगवान् विष्णु का मन्दिर बनाया था। यह मन्दिर चीनी-पद्धति से बनी छोटी-छोटी ईंटों से बनाया गया था।

वैष्णव-भक्ति का उत्थान—सन् 1470 ई० से मणिपुर में भगवान् विष्णु की पूजा पोङ के राजा द्वारा भेंट किये गये विग्रह से आरम्भ हुई। इसके सम्बन्ध में इससे अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है। महाराज चराईरौङ्वा (पीताम्बर सिंह) के शासनकाल (सन् 1697 ई०-1706 ई०) को वैष्णव-धर्म का उत्थान-काल कह सकते हैं। इनके समय में मध्वाचार्य-सम्प्रदाय के अनुयायी वैष्णव-मत के प्रचार के लिए मणिपुर आये। महाराज ने स्वयं सपरिवार यज्ञोपवीत धारण किया। किन्तु उन्होंने हिन्दू-धर्म के साथ-साथ प्राचीन मैतै-धर्म की लाई (देव) पूजा भी जारी रखी। डॉ० एम० कीर्तिसिंह ने लिखा है कि आठवीं शताब्दी से ही वैष्णव-धर्म मणिपुर में पनप रहा था, जो 15वीं शताब्दी में कियाम्बा के समय सुदृढ़ हुआ और आगे चलकर चराईरौङ्बा के समय में और भी विकसित हुआ। इनके शासनकाल में, 'बामन खुङ् थोकलोन' (प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ) के अनुसार त्रिपुरा, बंगाल, मथुरा और उड़ीसा से ब्राह्मणों का प्रव्रजन हुआ (पृ० 120)। अक्तूबर सन् 1703 ई० में कृष्णाचार्य उपनाम राय बनमाली अपने सहयोगियों के साथ पुरी से मणिपुर आये। उन्होंने ही राजा को वैष्णव-धर्म से परिचित कराया। उन्हें राजा ने एक गाँव, एक पर्वत तथा 100 एकड़ भूमि गुरु-दक्षिणा में दी। चराईरौङ्बा ने इम्फाल के ब्रह्मपुर गुरु अरिबामलैकाई में ईंटों से राधा-कृष्ण का एक मन्दिर बनवाया था। महाराजा ने कीर्तन-परम्परा भी आरम्भ की, जो आज भी बंगदेश या अखिया पाला (प्राचीन समूह) के नाम से जानी जाती है

(पृ० 121)। राम-कृष्ण-गोविन्द से आरम्भ होने वाले ये कीर्तन-पद न केवल गोविन्दजी के मन्दिर में, बल्कि गाँव-गाँव में गाये जाते हैं। इस प्रकार मणिपुर में कृष्ण-भक्ति का बीजवपन महाराज चराईरौङ्बा के समय से हुआ।

महाराज गरीबनिवाज (सन् 1709 ई० से 1748 ई०) मणिपुर के प्रसिद्ध वैष्णव-भक्त शासक माने जाते हैं। इनके समय में ही वैष्णव-धर्म (गौड़ीय वैष्णव-मत) राज्य-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।[5] इन्होंने वैष्णव-धर्म के निषेधों का पालन न करने पर कड़े दण्ड की व्यवस्था की। सन् 1717 ई० में महाराज पामहैबा उपनाम गरीबनिवाज को गुरु गोपालदास ने दीक्षा दी।[6] एक मत यह भी है कि गरीबनिवाज ने रामानन्दी मत के प्रचारक शान्तिदास से भी दीक्षा ग्रहण की थी। सन् 1728-35 ई० के बीच शान्तिदास की देखरेख में ही सीता-राम और हनुमान के मन्दिर बनवाये गये थे। उन्हीं के द्वारा श्रीकृष्ण तथा राधा की विग्रह-प्रतिष्ठा भी की गयी। एफ० बावर्स ने लिखा है कि महाराज गरीबनिवाज के समय से ही चैतन्य-सम्प्रदाय के नियम मणिपुर के धार्मिक जीवन के आधार बन गये। सन् 1700 ई० में गरीबनिवाज द्वारा इसे राज्य-धर्म घोषित कर दिया गया। तब से इसका मणिपुर के जन-जीवन पर एकच्छत्र राज्य है।[7] किन्तु इतिहासकार बावर्स के इस मत से सहमत नहीं हैं। 22 अगस्त 1722 ई० को गरीबनिवाज ने निङ्थेम पुखरी वाङ्खैलैकाई में श्रीकृष्ण (वृन्दावनचन्द्र) और कालिका की मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी।[8] इससे स्पष्ट है कि उस समय कृष्ण-पूजा के साथ शक्ति-पूजा भी प्रचलित थी।

चैथरोल कुमबाबा (राजवंश का हस्तलिखित इतिहास-ग्रन्थ) में लिखा है कि सन् 1726 ई० में गरीबनिवाज ने सुअर और मुर्गी आदि के पालने की निषेधाज्ञा जारी की थी। यह भी कहा जाता है कि गरीबनिवाज ही प्रथम राजा थे, जिन्होंने शव के दाह-संस्कार की व्यवस्था लागू की। उनके पुत्र सनाहल मुरली की मृत्यु पर शव के साथ उनकी दो पत्नियों के

सन् 1725 ई० में सती होने का भी उल्लेख मिलता है।[9]

श्री एल० इबूङ्होल सिंह ने लिखा है कि गरीबनिवाज की पुत्री ही वह प्रथम मणिपुरी महिला थी, जिसने वृन्दावन-यात्रा की थी (पृ० 91)। महाराज गरीबनिवाज के शासनकाल से ही संचित अस्थियों को गंगा में प्रवाहित करने की परम्परा चली। तब से मृतक की सन्तान या किसी अन्य तीर्थयात्री के साथ अस्थियों को गंगा में विसर्जित करने ले जाया जाने लगा। इस प्रकार चराईरौङ्बा एवं महाराज गरीबनिवाज के समय से मणिपुर में कृष्ण-भक्ति का उत्थान हुआ। उसी समय महाभारत और रामायण के मणिपुरी में आंशिक अनुवाद के प्रयास भी आरम्भ हुए।

मणिपुर के धार्मिक सम्प्रदाय

शैव एवं शाक्त-मत—विद्वानों का मत है कि अत्यागुरु शिदबा और देवी लैमारेन शिदाबी शिव और पार्वती के ही नामान्तर हैं। इस प्रकार मणिपुर में शैव-मत का प्रचलन सृष्टि के जन्म के साथ जुड़ जाता है। किन्तु यहाँ भगवान् शंकर अकेले नहीं पूजे जाते, उनके साथ देवी पार्वती भी पूजी जाती हैं और लिंग-पूजा का भी प्रचलन है। ङ्गोपोक निंथौ और पांथोइबी को शिव-पार्वती का अवतार माना जाता है। इनके सम्बन्ध में प्रचलित मणिपुरी पौराणिक कथा के अनुसार पांथोइबी विवाहिता थी, किन्तु अपने पति को त्यागकर उसने ङ्गोपोक निंथौ से प्रेम किया तथा उन्हीं के साथ रहने लगी थी। इस प्रकार मणिपुर के शैव-मत का अपना अलग रूप है, जिसमें परकीया भाव, शिव के साथ पार्वती की पूजा तथा लिंग-पूजा का विधान है। विद्वानों का अनुमान है कि परवर्ती काल में जब मणिपुर में गौड़ीय वैष्णव-धर्म आया तो परकीया भाव के पूर्व प्रचलन के कारण यहाँ उसका स्वागत हुआ।[10] डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद मागध ने कालिका पुराण, योगिनीतन्त्र, महाभारत आदि कृतियों और अभिलेखों के आधार पर शिवोपासना को असम का प्राचीन धर्म कहा है तथा उसके प्रमुख केन्द्रों में मणिकणेश्वर का नाम दिया है।[11] मणिकणेश्वर मणिपुर भी हो सकता है और न भी हो तो मणिपुर का असम पड़ोसी राज्य था, अत: वहाँ

जिस धर्म की प्रधानता थी उसका प्रचलन मणिपुर में होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। मणिपुर के इतिहासकारों ने भी इसकी पुष्टि की है। फयेङ् के ताम्रपत्र भी इस तथ्य के प्रमाण हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है मणिपुर में शिवलिंग की पूजा का विधान था तथा उसके साथ पार्वती की भी अर्चना की जाती थी। आधुनिक शोध से भी शाक्त-मत का प्रचलन प्रमाणित हो चुका है।[12] पार्वती की पूजा दुर्गा, काली या अम्बा नाम से की जाती है और इनको ङोमपोक पांथोइबी, इराई लैमा, सौबोन लैइरेमा, पांथोइबी, थोइबी आदि विभिन्न स्थानीय देवियों के रूप में पूजा जाता है।

वैष्णव-सम्प्रदाय

1. **निम्बार्क-सम्प्रदाय**—श्री आर०के० सनाहल सिंह ने मणिपुर के इतिहास में निम्बार्क-सम्प्रदाय के संन्यासियों के धर्म-प्रचार हेतु मणिपुर आने का उल्लेख किया है तथा यह भी लिखा है कि लोगों ने निम्बार्क-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का स्वागत किया (पृ० 47-48)। 'विजय पंचाली (भाग दो)' में चराईरौङ्बा के निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित होने का उल्लेख किया गया है।

2. **विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय**—एल० इबूङोहल सिंह तथा एन० खेलचन्द्र सिंह ने चराईरौङ्बा के विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय में दीक्षित होने का उल्लेख किया है और यह भी कहा है कि यह मध्वाचार्य का मत था।[13]

3. **असमी वैष्णव-सम्प्रदाय**—6 अगस्त 1715 ई० को तेखाओ (असम) से 39 भक्तों और एक धर्मोपदेशक के मणिपुर में आने का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि सीताराम नामक मणिपुर का एक ब्राह्मण असम की यात्रा पर गया था और वहाँ से भागवत पुराण लाया था। अत: असम के वैष्णव-सम्प्रदाय का मणिपुर पर प्रभाव पड़ा होगा, ऐसा विद्वानों का अनुमान है।[14] महाराजा जयसिंह (भाग्यचन्द्र) आठ वर्ष तक असम में रहे थे। वहाँ वे शंकरदेव के द्वारा स्थापित एकशरणिया-

सम्प्रदाय के सत्रों में कीर्तन, नाटक आदि देखते थे। अत: असम के वैष्णव-धर्म के मणिपुरी वैष्णव-धर्म पर प्रभाव की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

4. **रामानन्दी सम्प्रदाय**—गोस्वामी शान्तिदास अधिकारी के 1716 से 1728 ई० के बीच मणिपुर में आने का उल्लेख पाया जाता है। वे कब और कहाँ से आये, यह अभी तक विवाद का विषय है।[15] परन्तु शान्तिदास के भगवानदास तथा नारायणदास नामक शिष्यों के साथ मणिपुर आने का उल्लेख 'चैथरोल कुमबाबा' में भी है। शान्तिदास ने महाराजा गरीबनिवाज को रामानन्दी सम्प्रदाय में दीक्षित किया था। शान्तिदास के कारण ही महाराजा एवं जनता ने रामानन्दी सम्प्रदाय में दीक्षा और राम की पूजा की परम्परा आरम्भ की। निंथेम-पुखरी के किनारे राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीता की मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गयी। गरीबनिवाज के ज्येष्ठ पुत्र श्यामशाह हनुमानजी के परम भक्त थे। 16 जून 1729 को इम्फाल नदी के तट पर महाबली मन्दिर का निर्माण किया गया।[16] मणिपुर के धार्मिक इतिहास में इसके पूर्व भी श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के 12वीं शताब्दी में प्रचार का उल्लेख मिलता है। राजा थावननाथाबा (सन् 1195-1231 ई०) तथा राजा चलाम्बा (सन् 1545 से 1562 ई०) के समय में निर्मित रामजी व हनुमान ठाकुर के मन्दिर इसके प्रमाण हैं। उस समय से ही राम, हनुमान व सीताजी का पूजा का मणिपुर में प्रचलन हुआ था, जिसकी परम्परा आज तक चली आ रही है।

5. **चैतन्य-सम्प्रदाय**—चराईरौङ्बा और उनके पुत्र द्वारा गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित होने की बात कही जाती है। किन्तु 'चैथरोल कुमबाबा' में गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय का उल्लेख प्रथम बार महाराज गरीबनिवाज के प्रसंग में ही हुआ है। 'भाग्यचन्द्रचरित' में 15 अक्टूबर 1716 ई० के दिन रामगोपाल वैरागी द्वारा गरीबनिवाज को गौड़ीय वैष्णव-मत की दीक्षा देने का उल्लेख पाया जाता है (पृ० 28-210)। गौड़ीय गुरु-प्रणाली के अनुसार भी महाराज भाग्यचन्द्र, जो गरीबनिवाज के पौत्र

थे, रामगोपाल वैरागी के शिष्य ठहरते हैं। महाराज भाग्यचन्द्र (जयसिंह) बाल्यकाल से ही गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने बाद में रामानन्दी सम्प्रदाय के स्थान पर गौड़ीय वैष्णव-मत को ही राजधर्म घोषित कर दिया था।

गरीबनिवाज के पश्चात् अजितशाह और भरतशाह राजा हुए, किन्तु इनके समय में इस दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई।

डॉ० एम० कीर्तिसिंह का कथन है कि साहित्यिक साक्ष्य से प्रमाणित हो जाता है कि हिन्दू-धर्म के विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य, निम्बार्क तथा शैव-सम्प्रदाय मणिपुर में प्रचलित थे। इनके साथ ही मणिपुर के आदिम धर्म के देव सनामही, पाखंबा, पांथोइवी भी पूजे जाते थे। उस समय धार्मिक सहिष्णुता थी और धार्मिक विश्वासों को लेकर कोई विवाद नहीं था (पृ० 123)। इससे स्पष्ट है कि मणिपुर में वैष्णव-धर्म का स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा से कोई विरोध नहीं था। महाराज गरीबनिवाज के शासनकाल से महाराज चन्द्रकीर्ति (1891 ई०) के समय तक वैष्णव-धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। राज्याश्रय में वैष्णव-भक्ति, विशेष रूप से श्रीकृष्ण-भक्ति, चैतन्य-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर विकसित हुई।

श्रीराधाकृष्ण-भक्ति का विकास

प्रथम चरण—महाराजा चराईरौङ्बा द्वारा 1703 ई० में श्रीराधाकृष्ण मन्दिर की स्थापना से ही मणिपुर में कृष्ण-भक्ति का बीज-वपन हुआ, जो उनके पुत्र गरीबनिवाज के शासनकाल में अंकुरित हुआ। इसके फलस्वरूप गौड़ीय वैष्णव-भक्ति राज्य-धर्म-पद्धति घोषित की गयी और निंथैम पुखरी के पास श्री वृन्दावनचन्द्र के मन्दिर का निर्माण (1722 ई० में) हुआ। इसके प्रचार हेतु महाराजा चराईरौङ्बा ने बंगला-कीर्तन-पद्धति का श्रीगणेश किया और गौड़ीय वैष्णव-भक्ति-संकीर्तन की व्यवस्था की। गरीबनिवाज के समय से ही मणिपुर की संस्कृति एवं साहित्य पर कृष्ण-भक्ति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सन्

1717 से 1737 ई० के बीच महाराज के कुछ छन्दों का मणिपुरी में प्रथम बार अनुवाद किया गया। सन् 1727–1728 ई० के बीच रामायण के भी कतिपय छन्दों का मणिपुरी में अनुवाद हुआ। संस्कृत शब्दों का मणिपुरी भाषा में उसी समय प्रयोग आरम्भ हुआ। बंगाली ग्रन्थों का अनुवाद भी गरीबनिवाज के समय से आरम्भ हुआ। उन्होंने 'लक्ष्मीचरित' का स्वयं अनुवाद किया था। उन्हीं के समय में मन्दिरों का निर्माण किया गया तथा पूजा भी आरम्भ की गयी। इस काल के शिल्प और स्थापत्य-कला पर कृष्ण-भक्ति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। गरीबनिवाज के प्रयासों का जनता ने विरोध किया। इसके बावजूद राम-कृष्ण-भक्ति का उनके शासनकाल में प्रचार-प्रसार हो गया था तथा कृष्ण-भक्ति के साथ-साथ स्थानीय प्राचीन मैतै-धर्म के देवी-देवताओं की पूजा भी प्रचलित रही। दोनों धर्मों में समझौता हो गया। किन्तु इन देवताओं की पूजा में भी वैष्णव-पूजा-पद्धति अपनायी गयी।[17] बलि-प्रथा एवं मांस-मदिरा का सेवन बन्द कर दिया गया। चैराओबा, लाईहरौबा जैसे स्थानीय पर्व-त्योहार भी इस नवीन धर्म-पद्धति के साथ-साथ चलते रहे। मस्तक पर गौड़ीय वैष्णव-मत के अनुसार चन्दन-तिलक की परम्परा भी तभी से प्रारम्भ हुई और पुरुषों में सिर पर पगड़ी या साफा बाँधने की प्रथा चल पड़ी।

द्वितीय चरण—गौड़ीय वैष्णव-भक्ति महाराज चराईरौङ्बा और गरीबनिवाज के पश्चात् महाराज भाग्यचन्द्र (जयसिंह) के अद्भुत व्यक्तित्व का प्रश्रय पाकर पल्लवित एवं पुष्पित हुई। महाराज जयसिंह अद्भुत योद्धा, कुशल सेनापति, सुयोग्य शासक तथा दूरदर्शी राजपुरुष थे। इनके अतिरिक्त वे धर्म-पालक एवं धर्म-रक्षक भी थे। उनका धार्मिक चरित्र इतना प्रखर था कि मणिपुर के लोग और इतिहासकार उन्हें एक भक्त के रूप में अधिक सम्मान देते हैं। इसीलिए उनका 'राजर्षि' नाम ही अधिक लोकप्रिय है। उनकी कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी अनेक किंवदन्तियाँ मणिपुर से असम तक प्रचलित हैं। उनके भक्त-चरित्र की कुछ घटनाएँ मणिपुर के राजवंश के इतिहास 'चैथरोल-कुमबाबा' तथा असम के

राजवंश के इतिहास 'बुरंजी' में अंकित हैं। असम-नरेश राजेश्वर सिंह स्वर्गदेव के यहाँ सत्य-क्रिया की पूर्व रात्रि को श्री गोविन्दजी ने राजर्षि को स्वप्न में दर्शन देकर उन्हें पुनः राज्य-प्राप्ति का वरदान दिया था। गोविन्दजी के आज्ञानुसार ही राजर्षि ने कैना नामक स्थान से कटहल का वृक्ष कटवाया और इम्फाल में लाकर उससे श्री गोविन्दजी के विग्रह बनवाये थे।

राजा ने मूर्ति बनवाने के लिए कैना के कटहल वृक्ष को बढ़ई लोगों को सौंपा और उनको अभिनय के द्वारा स्वप्न में देखे गये भगवान् के त्रिभंगी रूप को समझाया, जिससे वे श्री गोविन्दजी की प्रतिमा को वह रूप दे सकें। भाग्यचन्द्र महाराज निरन्तर श्रीकृष्ण-भक्ति में डूबे रहते थे। उन्हें मूर्ति की चिन्ता रात-दिन सताती थी। वे स्वयं कारीगरों के कार्यों का निरीक्षण करते थे। यह कार्य लमाङ्दौङ् (वर्तमान विशुनपुर) में किया जा रहा था। उन दिनों वहीं मणिपुर की राजधानी थी। प्रथम विग्रह बनकर तैयार हुआ। इससे राजा प्रसन्न तो हुआ, किन्तु मूर्ति में अभी भी कुछ कमी थी। स्वप्न में देखे गये श्री गोविन्दजी के रूप में और इसमें किंचित् अन्तर था। इसलिए क्रमशः विग्रह बनाये जाते रहे। अन्ततोगत्वा श्री गोविन्दजी का सही विग्रह बन गया। कैना के कटहल से बनी मूर्तियों की क्रमशः निम्नलिखित स्थानों पर प्रतिष्ठा की गयी तथा अधोलिखित व्यक्तियों को मन्दिर का पुजारी नियुक्त किया गया।[18]

श्री विग्रह का नाम	स्थान	पुजारी
1. श्री विजय गोविन्द	सगोल बन्द	अनन्तशाह मन्त्री
2. श्री गोपीनाथ	निंथौंखौं	कीर्तिध्वज (कालराजा)
3. श्रीमदनमोहन	कोंबा	हंगोइबाम चूरा शर्मा
4. श्री गोविन्दजी	इम्फाल राजमहल-परिसर	महाराजा स्वयं

इन मूर्तियों के बनने में कई महीने का समय लगा। जब वे बनकर तैयार हो गयीं तो राजा ने लमांदों से अपनी राजधानी लांथवाल (वर्तमान कांचीपुर, जहाँ मणिपुर विश्वविद्यालय है) बना ली। अक्तूबर 1779 ई०

में लांथवाल में रासमण्डल में मूर्ति की प्रतिष्ठा की गयी। इस प्रतिष्ठा का उत्सव पाँच दिन तक चला।[19] यह समारोह बहुत धूमधाम से मनाया गया। सम्पूर्ण मणिपुर की घाटी में आनन्द छा गया। श्री गोविन्दजी की विग्रह-प्रतिष्ठा ने मणिपुर के इतिहास में एक नये अध्याय की शुरुआत की।[20] श्री गोविन्दजी ही उस दिन से मणिपुर की सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किये गये। राजा स्वयं गोविन्दजी का प्रतिनिधि बन गया। गोविन्दजी के नाम से मणिपुर के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अनेक संस्थाओं एवं परिषदों का गठन किया गया, जिनका राजा अध्यक्ष था और गोविन्दजी के नाम और आज्ञा से ही राज्य-कार्य चलते थे। विग्रह-प्रतिष्ठा के समय मणिपुर के गाँव-गाँव से लोग आये और इस महान् धार्मिक-ऐतिहासिक उत्सव में भाग लिया।

महाराज भाग्यचन्द्र प्रतिभाशाली एवं दूरदर्शी थे। उन्होंने अपने पितामह गरीबनिवाज के शासनकाल में प्रजा और दरबारियों के द्वारा रामानन्दी सम्प्रदाय को थोपे जाने पर किये गये विरोध से शिक्षा ग्रहण की। अत: उन्होंने गौड़ीय वैष्णव-भक्ति-पद्धति को प्रजातान्त्रिक प्रणाली के माध्यम से लोकप्रिय बनाया। प्रत्येक संस्था एवं परिषद् में प्रजा के प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये। उनके परामर्श से नयी परम्पराओं की नींव रखी गयी। मन्दिरों में नित्य पूजा-अनुष्ठान के नियम, परम्पराएँ, पूजा-सामग्री, पूजा-गीतों, वस्त्र-अलंकरण आदि के सम्बन्ध में निर्णय इन्हीं संस्थाओं के द्वारा लिये जाते थे। ब्राह्मण और विद्वान् पण्डितों से इसके लिए विचार-विमर्श किया जाता था।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि श्री गोविन्दजी की पूजा की सम्पूर्ण प्रक्रिया में राजा के साथ उनकी धर्म-प्राण प्रजा भी थी, जिसने राजा के साथ-साथ श्रीराधाकृष्ण-भक्ति के चमत्कारों को देखा था। आदिम जाति की महिलाएँ, बढ़ई और अन्य कलाकार इस प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार थे। यह धर्म या परम्पराएँ अनुकरण मात्र न होकर स्थानीय जन-मानस की उपज थीं, जो कालान्तर में लोगों के जीवन का

अभिन्न अंग बन गयीं। इस प्रकार राजा के साथ-साथ प्रजा ने भी गोविन्दजी को मात्र एक मूर्ति नहीं, बल्कि एक जीवन्त-संस्था मानकर हृदयंगम कर लिया। भाग्यचन्द्र महाराज ने प्रजा को श्री गोविन्दजी के रूप में एक जीवित देवता और प्राणवान् धार्मिक विश्वास दिया। उन्होंने किसी का अनुकरण न करके मणिपुर की प्रकृति के अनुकूल एक नवीन कृष्ण-भक्ति का विकास किया। भगवान् श्रीकृष्ण का मणिपुर में यह नवीन अवतार था जो प्रत्येक मणिपुरी के हृदय में निवास करने के लिए हुआ था। विचार-विमर्श के पश्चात् स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार पूजा-अनुष्ठान और भोग की वस्तुओं में स्थानीय उत्पादनों को प्रमुख स्थान दिया गया। राजर्षि के शासनकाल में मणिपुर के जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। प्रतिदिन प्रात:काल घर-घर में स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ, सन्ध्या-आरती, माथे पर तिलक लगाना और स्वच्छता जीवन के अनिवार्य अंग बन गये। स्वभाव में विनम्रता और ईश्वर-भक्ति का प्रचलन हो गया। परिणामस्वरूप मणिपुर के घरों की, शरीर की, वस्त्रों की तथा बर्तनों की स्वच्छता स्पृहणीय बन गयी। घर-घर में मन्दिर, तुलसी-चौरा, गले में तुलसी-माला और भजन-कीर्तन जीवन के अभिन्न अंग बन गये। कला, साहित्य, संगीत, नृत्य आदि भी कृष्ण-भक्ति के इस प्रभाव से अछूते नहीं रहे। इन सबके अतिरिक्त भाग्यचन्द्र के शासनकाल की दो और अनुपम देन हैं—रासलीला और संकीर्तन।

रास-लीला—राजर्षि को असम-प्रवासकाल में स्वप्नदर्शन में श्री गोविन्दजी ने दो आज्ञाएँ दी थीं—एक विग्रह-स्थापना और दूसरा रासलीला का आयोजन। श्री गोविन्दजी के पूर्वोक्त चार विग्रह स्थापित करने के पश्चात् राजा को रासलीला आयोजन की चिन्ता हुई। वे बार-बार प्रभु से मार्ग-निर्देशन की प्रार्थना कर रहे थे। हरि-इच्छा प्रबल थी। उन्होंने स्वप्न में श्री गोविन्दजी को राधा व गोपियों के साथ रासलीला करते देखा। इसके पश्चात् स्वप्न को साकार करने के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए। राजर्षि की ज्येष्ठा पुत्री बिम्बावती मंजुरी, जो बाल्यकाल से ही श्रीकृष्ण

की भक्त थी, को राधा के अभिनय का उत्तरदायित्व सौंपा गया। कलाकारों ने रासेश्वरी श्री राधा की मूर्ति का आधार महाराजकुमारी बिम्बावती मंजुरी की शारीरिक संरचना को बनाया। स्वयं राजा तथा उनके काका ने क्रमश: मृदंग-वादन एवं गायन प्रस्तुत किया।[21] राजा की पुत्री ने कार्तिक पूर्णिमा को सन् 1779 ई० में लाङ्थबाल में आयोजित भव्य रास-मण्डल की प्रथम रास-लीला में राधाजी का अभिनय किया तथा उसकी सखियों ने गोपियों का। यह महारास का अनुकरण था, जो भगवान् कृष्ण ने निभृतनिकुंज में राधाजी और गोपियों के साथ कात्यायनी-पूजा के निमित्त किया था।

रासलीला में जिन गीतों तथा संवादों का प्रयोग किया गया वे श्रीमद्भागवत महापुराण के सम्बद्ध अंशों पर आधारित थे। ब्रजबुली और बंगाली भाषा के संवाद एवं गीत अपनाये गये, किन्तु मणिपुरी भाषा के एक भी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया।[22]

अनिन्द्य सुन्दरी बिम्बावती मंजुरी ने राधा की भूमिका में अप्रत्याशित श्रेष्ठ अभिनय प्रस्तुत किया तथा उनकी सखियों ने गोपियों का। वेष-भूषा, साज-सज्जा आदि सभी दृष्टियों से यह प्रथम रासलीला अपूर्व थी। इसी दिन से मणिपुर में रासलीला की परम्परा का श्रीगणेश हुआ और मणिपुरी रासलीला कालान्तर में भारत का एक प्रमुख शास्त्रीय नृत्य बन गया, जो आज भी देश-विदेश में विख्यात है। रास-लीला मणिपुर के धार्मिक जीवन का सार है, जिसमें भक्त निष्ठापूर्वक भगवान् से तादात्म्य स्थापित करता है। रासलीला के आयोजन के समय निम्नांकित नियमों का पालन करने की परम्परा प्रचलित है—

1. रास का आयोजन मध्यरात्रि के बाद किया जाता है, जो प्रात:काल तक चलता है।

2. निश्चित समय पर तथा निश्चित स्थान, जैसे-मन्दिर या पर्वत के पास ही इसका आयोजन किया जा सकता है।

3. रासलीला मण्डप में केवल मणिपुरी वैष्णव ही प्रवेश कर

सकते हैं। विजातीय लोगों का मण्डप में प्रवेश वर्जित है।

4. रास-स्थल पवित्र माना जाता है। किसी भी व्यक्ति को नर्तकों के पास जाने की अनुमति नहीं दी जाती है।

5. प्रणाम-भंगिमा के समय हँसना, बोलना या बाहर जाना पाप माना जाता है।

6. दर्शक-वृन्द को भगवद्-भक्ति में लीन रहना पड़ता है।

7. कृष्ण की भूमिका में 7-8 वर्ष की आयु का बालक होता है। इससे अधिक अवस्था के व्यक्ति के लिए कृष्ण की भूमिका निषिद्ध है। हाँ गोपियों की आयु के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

8. रासलीला राधाकृष्ण की गोपियों एवं ग्वालों के साथ रसात्मक लीला है, जिसमें राधा और कृष्ण के आध्यात्मिक एवं अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। रासलीला को राधाकृष्ण की अन्तरंग और गोपनीय लीला मानते हैं, अत: उसके सम्बन्ध में कुछ भी बताना या कहना वर्जित है। कृष्ण आत्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं और गोप तथा गोपियाँ बाह्य जगत् का। रासलीला मणिपुरी वैष्णव के लिए आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया है।[23]

राजर्षि ने मणिपुर की प्रतिभा तथा प्राचीन नृत्य-परम्परा की उर्वर भूमि को श्रम से सींचकर श्री गोविन्द जी के आज्ञापालनार्थ महारास को नवीन दार्शनिक आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित किया और स्थानीय नृत्य-पद्धति के आधार पर नवीन नृत्याभिनय का आविष्कार किया। संगीत के क्षेत्र में भी अनेक नये प्रयोग किये गये। महाराजश्री स्वयं प्रतिभावान् कवि, अभिनेता, संगीतज्ञ और गायक थे। मणिपुर का लोक-नृत्य लाईहरौबा राजर्षि की प्रतिभा से इस प्रकार परिवर्तित एवं संशोधित किया गया कि वह रास का ही एक अभिन्न अंग बन गया। इसके विकास में 'नाट्य-शास्त्र' और 'अभिनय-दर्पण' की प्रमुख भूमिका रही है। भागवत पुराण तो इसका आधार है ही। असम में राजर्षि का आठ वर्ष का लम्बा प्रवासकाल रासलीला की पृष्ठभूमि के निर्माण में सहायक

हुआ। कारण कि शंकरदेव (सन् 1449 से 1568 ई०) की वैष्णव-भक्ति-भावना वहाँ के जन-जीवन का अंग बन चुकी थी। डॉ० एम० निओग ने अपनी पुस्तक 'शंकरदेव एण्ड हिज टाइम्स' (पृ० 272) में मणिपुरी-रास पर असम की शास्त्र-परम्परा का अत्यधिक प्रभाव बताया है। 'चैथरोल कुमबाबा' में भी असम की तत्कालीन राजधानी गरगाँव में महाराजा जयसिंह के द्वारा वैष्णव नाटकों के अवलोकन का उल्लेख प्राप्त होता है। सम्भवत: महाराजा ने वहीं राधाकृष्ण-भक्ति को मणिपुर में नृत्य एवं संगीत के द्वारा लोकप्रिय बनाने का निर्णय लिया होगा[24] और वहीं उनके मानस-पटल पर एक कल्पना अंकित हुई होगी, जिसको उन्होंने यथावसर साकार किया।

मणिपुरी रास को निम्नांकित भागों में विभक्त किया जा सकता है:

रास का प्रकार	समय
महारास	कार्तिक पूर्णिमा
कुञ्जरास	आश्विन अष्टमी
वसन्तरास	चैत्र पूर्णिमा
नित्यरास	प्रतिदिन किसी भी समय
दिवारास	सभी ऋतुओं में दिन में
नर्तनरास	निर्धारित समय पर
अष्ट गोपी और अष्ट श्यामरास	वसन्तोत्सव पर

महारास श्री गोविन्दजी के मन्दिर में किया जाता है, रासेश्वरी श्री राधा और कृष्ण की मूर्तियाँ रास-मण्डप के मध्य रखी जाती हैं। गोपियाँ इनको घेरकर एक वृत्त में नृत्य करती हैं। किन्तु कुञ्जरास और वसन्तरास को, विजय-गोविन्दजी के मन्दिर में सम्पन्न होने के कारण, विजय-गोविन्द-रास भी कहा जाता है। कुञ्ज व वसन्तरास में राधाकृष्ण के अभिसार का अभिनय एवं प्रदर्शन किया जाता है।[25]

रासलीला या रास-नृत्य श्री गोविन्दजी (श्रीकृष्ण का लोकप्रिय

मणिपुरी सम्बोधन) मन्दिर के अतिरिक्त सभी प्रमुख मन्दिरों, घरों और गाँव-गाँव में किया जाता है। भक्तजन, दर्शक, नर्तक, गायक, वादक रूप में उसमें उपस्थित होते हैं। वे रास-मण्डल में नंगे पाँव आते हैं और राधाकृष्ण की भक्ति में लीन हो जाते हैं। राधा या गोपियों के वियोग के नृत्याभिनय व गान के समय भक्तजनों की आँखों से अविरल अश्रु-प्रवाह देखा जा सकता है।

रास-मण्डल में विभिन्न प्रकार के रास के लिए निर्धारित वेश-भूषा में राधाकृष्ण एवं गोपियाँ सुसज्जित होकर प्रवेश करती हैं। मण्डप एवं रंगमंच को खूब सजाया जाता है। तेल के बड़े-बड़े दीपक प्रकाश की व्यवस्था हेतु प्रज्वलित किये जाते हैं। नटपाला (कीर्तन-दल) सन्ध्या समय से ही रास-नृत्य की भूमिका के रूप में आरम्भ हो जाता है, जिसमें चैतन्य महाप्रभु और महाराजा जयसिंह के जीवन-चरित्र-सम्बन्धी पद गाये जाते हैं। अन्त में वृन्दावन-शोभा के पद गाये जाते हैं। नटपाला अपने सिर पर बँधे साफे उतारकर मण्डप से प्रस्थान करते हैं और मण्डप के केन्द्र में पूजा आरम्भ होती है। मण्डप के उत्तर-पश्चिमी भाग में संगीत-मण्डली अपने वाद्य-यन्त्रों (मृदंग, इसराज या तम्बूरा, बाँसुरी, करताल, झाँझ, शंख आदि) के साथ आसन ग्रहण करती है। दो महिला गायिकाएँ और कुछ पुरुष गायक वैष्णव-पदावली गाते हैं, जिसे नर्तक अपनी भाव-भंगिमाओं से अभिनीत करते हैं। एकाकी, द्वैत और सामूहिक गान क्रमशः गाये जाते हैं। दो महिला सूत्रधार पृष्ठसंगीत (बैक ग्राउण्ड म्यूजिक) के रूप में राधा-विरह के गीत गाती हैं। किन्तु कृष्ण-वियोग के गीत पृष्ठसंगीत के रूप में पुरुष-दल द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। वहाँ कृष्ण की मूर्ति विराजमान रहती है। लगभग 22 गोपियाँ रास में भाग लेती हैं, जो नाचती-गाती हैं और संवाद भी बोलती हैं। इनके भी गीत एकाकी, द्वैत या सामूहिक होते हैं। गाते समय ये भावभंगिमाओं द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। भाव-प्रदर्शन की शैली अत्यन्त उत्कृष्ट होती है। प्रत्येक नृत्य का उत्तरदायित्व रासधारी पर होता है, जो नृत्य-गुरु, निदेशक और संचालक

होता है। वह स्वयं मृदंग-वादक के रूप में नृत्य में भाग लेता है। शृंगार-रस ही रासलीला का प्रमुख रस होता है, जिसके सहायक के रूप में अन्य रसों का भी समावेश किया जाता है। नृत्य में नर्तक परेङ् अर्थात् माला बनाते हैं, जो राधाकृष्ण की परिक्रमा करती हैं। मणिपुरी रास-नृत्य में भंगी परेङ् अचौबा, खुरुम्बा परेङ् तथा वृन्दावन परेङ् लास्य-शैली में प्रस्तुत की जाती है, जबकि शेष ताण्डव-शैली में।

रासलीला में एकाकी तथा संयुक्त हस्तमुद्राएँ मुख्य हैं। किन्तु स्वानुगता, अनुगता और गुणका या गमका मुद्राएँ भी स्वीकृत हैं। इसमें गति, बोल और चाली (पद-संचालन) का बहुत महत्त्व माना जाता है। चार से 120 ताल और लय का तालप्रबन्ध रास-नृत्य की विशेषता है। मणिपुर के रास-नृत्य में त्रिताप, रूपक, झपताल, दादरा, कहरवा, ब्रह्मताल, दस-कुश आदि प्रमुख हैं। मंजीरा तथा मृदंग ताल और गति को नियन्त्रित रखते हैं।[26]

सूर्योदय के साथ राधाकृष्ण के सम्मुख प्रज्वलित आरती के थाल लाये जाते हैं और आरती के साथ ही रासलीला समाप्त हो जाती है। मन्त्र-मुग्ध दर्शक सूर्यास्त तक भक्तिभाव में निमग्न रहने के पश्चात् भौतिक लोक में लौट आते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि रासलीला मणिपुर की घाटी के लोगों के जीवन का अभिन्न अंग है। प्रत्येक मैतै बालिका की मनोकामना या जीवन-ध्येय होता है कि वह रासलीला में राधा या गोपी की भूमिका निभाये। इससे रासलीला के मणिपुर में प्रचार-प्रसार और लोकप्रियता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त छः प्रकार के रास आज भी प्रचलित हैं किन्तु राजर्षि भाग्यचन्द्र के समय केवल प्रथम तीन रास ही प्रारम्भ हुए थे। महाराज भाग्यचन्द्र सम्भवतः यह जानते थे कि वे एक गौरवशाली परम्परा की स्थापना कर रहे हैं जो यथावसर परिवर्तित एवं संशोधित होती रहेगी। वास्तव में इस नृत्य-परम्परा का निरन्तर परिष्कार एवं संस्कार हो रहा है। प्रो० एन० तोम्बी सिंह ने ठीक ही कहा है कि मणिपुर की बुनाई एवं नृत्य

परम्परा कभी भी स्थिर नहीं रही है। प्रत्येक नयी पीढ़ी ने अपनी प्रतिभा से इन दोनों कलाओं को सजाया और सँवारा है (पृ० 32)। भाग्यचन्द्र महाराज द्वारा स्थापित नट-संकीर्तन एवं रास-नृत्य की परम्परा को आगे चलकर महाराज गम्भीर सिंह के समय में संस्कार किया गया। महाराज नरसिंह और चन्द्रकीर्ति सिंह ने इसका सम्यक् रूपेण निर्वाह किया। मणिपुर का रास-नृत्य, कृष्ण-भक्ति की, मणिपुर को ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व को एक विलक्षण देन है।

नट-संकीर्तन—नट-संकीर्तन के अभाव में रास-नृत्य अध्ययन-विवेचन अपूर्ण ही रहेगा। नट-संकीर्तन, रास-नृत्य को संगीत और गान प्रदान करता है। महाराज चराईरौङ्बा के समय (1703 ई०) में कीर्तन-परम्परा आरम्भ हुई थी जो आज भी अरिबापाला के नाम से प्रचलित है। महाराजा गरीबनिवाज ने मणिपुरी पद-गान-परम्परा को निषिद्ध घोषित करके बंगाली, ब्रजबुली, मैथिली और संस्कृत की वैष्णव- पदावली गाने की परम्परा आरम्भ की थी।[27] महाराज भाग्यचन्द्र ने पाला-लोईसङ् अर्थात् नर्तक एवं संगीतज्ञ-दल की सन् 1776 ई० में स्थापना की। मणिपुरी संगीत-नृत्य-कला के विकास में पाला-लोईसङ् की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण कदम था। राजर्षि के द्वारा स्थापित इस परम्परा को उनके उत्तराधिकारियों ने विकसित किया।[28] कीर्तन-परम्परा गौड़ीय वैष्णव-भक्ति की देन है, जिसमें कीर्तन को भक्ति का महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है। पाला-लोईसङ् एक राजकीय संस्था थी, जिसके द्वारा गौड़ीय वैष्णव-भक्ति के सिद्धान्तों की कीर्तन के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी।[29] नट-संकीर्तन का दूसरा समूह अनौबा-पाला (नया समूह) के नाम से जाना जाता है। ये दोनों मणिपुर-नट-संकीर्तन की दो प्रमुख परम्पराएँ हैं।

1. राधा-कृष्ण की प्रतिमाओं और चार कलशों की स्तुति।
2. जहाँ कीर्तन किया जाना है, वहाँ मण्डली के अधिवास का आरम्भ।

3. गुरु की पूजा एवं स्तुति।
4. पाँच वैष्णव-सन्त एवं भक्तों की उपासना।
5. रात्रि-जागरण और ईश्वर-स्तुति।

धर्मशास्त्रों के निर्देशानुसार बाँस के खम्भों से एक सुन्दर कीर्तन-मण्डप बनाया जाता है। मण्डप के केन्द्र में पूजा, वेदी-सामग्री और चारों कोनों में चार कलश स्थापित किये जाते हैं। मण्डप के केन्द्र में कलाकार-समूह और मण्डप के दाहिनी और बायीं ओर मृदंग-वादक घुटनों के बल बैठते हैं। बायीं ओर दोहार (दोहराने वाला) तथा अन्य गायक होते हैं। दाहिनी ओर भी गायक-दल होता है और केन्द्र में मुख्य गायक, ईशै हनबा रहता है। यह गायक-वादन-दल समस्त उपस्थित लोगों को दण्डवत् प्रणाम करते हैं। मण्डप स्वामी (मपु) कलाकारों को पुष्पादि भेंट करता है और कहता है, 'बोलो, प्रेम से कहो श्री राधाकृष्ण, बोलो प्रभु निताई-चैतन्य-अद्वैत, सन्तों, साधे, मधुर रस वाणी, हरे-हरे। इसके साथ ही मृदंग पर 'तेन-तेन ता ताक तांग' बोल के साथ वादक ताल देते हैं। मृदंग के पहले ताल के साथ ही शंख फूँका जाता है। फिर आलाप और करताल-ध्वनि आरम्भ होती है। इसके पश्चात् मुख्य गायक सभा-वन्दना, गुरु-वन्दना, गौर-चन्द्रिका के पद गाता है।

राजमेल-संकीर्तन—राजमेल नामक नृत्य मणिपुरी नट-कीर्तन का प्रमुख अंग है। विलम्बित लय से मध्य लय और मध्य से द्रुत लय में यह नृत्य छः भागों में प्रस्तुत किया जाता है। मृदंग-वादन करते हुए नर्तक बायें से दाहिनी ओर घूमते हैं और इनकी गति उड़ते हुए गरुड़ का प्रतीकात्मक प्रदर्शन देती है, जो राधाकृष्ण को लेकर उड़ता है। गायक गान में गरुड़ के राधाकृष्ण को लेकर उड़ने का वर्णन करते हैं। मृदंग से पक्षी उड़ने-गरजने और पशु-पक्षियों की ध्वनि उत्पन्न की जाती है। द्रुत लय में नर्तकों का एक पाँव पर घूमना और उछलना दर्शनीय है। कीर्तन के बोल गौरांग महाप्रभु के जन्म, राधाकृष्ण के रस से भरे और गौड़ीय गोस्वामियों के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध होते हैं। नट-पाला के ये बोल श्रोताओं की

भावनाओं को इतना उद्दीप्त करते हैं कि वे रोने लगते हैं।

नट-संकीर्तन रासलीला की भूमिका होता है। यह सन्ध्या से मध्य रात्रि तक चलता है। इसकी समाप्ति पर रासलीला का आयोजन किया जाता है। नट-पाला को पुङ्-चोलम या मृदंग-नृत्य भी कहा जाता है, जो दो मृदंग-वादकों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। धूमल-नृत्य एक सौ मृदंग-वादक प्रस्तुत करते हैं। नूपी-पाला या पुरुषों का करताल-नृत्य भी नट-संकीर्तन में प्रस्तुत किया जाने वाले प्रमुख नृत्य है।

नूपी-पाला-संकीर्तन—नूपी (स्त्री) पाला (समूह) कीर्तन के साथ स्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला नृत्य है। यह रासेश्वरी और जलकेली पाला के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसका आयोजन झूलन-यात्रा, देवी-पूजा आदि धार्मिक अवसरों पर भी छोटी करताल के साथ किया जाता है।

मनोहर शाही-संकीर्तन—मणिपुरी मनोहर शाही खोल (मृदंग) और करताल पर प्रस्तुत किया जाने वाला कीर्तन-नृत्य है, जो नट-संकीर्तन के नृत्यों के भाव, भूषा एवं वाद्य-यन्त्रों के कारण भिन्न है। यह महाराजा चन्द्रकीर्ति के समय में आरम्भ किया गया था।[30]

संकीर्तन में मणिपुर की मौलिकता—संकीर्तन को गौड़ीय वैष्णव-भक्ति में प्रमुख स्थान दिया गया है। यह बंगाल से मणिपुर में आया है, अत: मणिपुर को कृष्ण-भक्ति की महत्त्वपूर्ण देन है। बंगाल का संकीर्तन या कीर्तन मणिपुर की कलात्मक भूमि पर आकर नट-संकीर्तन के रूप में परिवर्तित हो गया। क्योंकि मणिपुर में गीत या पदावली को केवल गाया नहीं जाता, अपितु उसको नृत्याभिनय के साथ प्रस्तुत किया जाता है। अत: यहाँ संकीर्तन से पूर्व नट शब्द जुड़ गया है।

मणिपुर के नट-संकीर्तन की मौलिकता से सम्बद्ध महाराजा चौरजीत सिंह के समय (सन् 1803-1813 ई०) की एक प्रसिद्ध घटना है। बंगाली घोष-शैली में कीर्तन करने वाले एक गुरु ने मणिपुरी शैली के संकीर्तन-गायक को शास्त्रीय पद्धति से न गाने के लिए चुनौती दी।

मणिपुरी गुरु ने आरोप का उत्तर देते हुए कहा कि मणिपुरी राग-रागिनी की शैली और संगीत किसी शास्त्रीय संगीत का अनुकरण नहीं है, बल्कि यह तो स्वयं भगवान् गोविन्दजी के द्वारा दिया गया वरदान है। विवाद के फलस्वरूप दोनों गुरुओं के बीच संगीत-प्रतियोगिता आरम्भ हुई और जब मणिपुरी गुरु ने श्यामकौड़ा राग प्रस्तुत किया तो मण्डप में एक चिड़िया ने प्रवेश किया और वह संगीतज्ञ के कंधे पर आकर बैठ गयी। इस घटना को भगवत्-कृपा मानकर महाराजा सहित सभी श्रोताओं ने संगीतज्ञ को प्रणाम किया। तब संगीत-गुरु ने स्पष्ट किया कि मणिपुरी संगीत-शैली का यह अन्तर क्षेत्रीयता और विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा की देन है।

श्री राधाकृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में मणिपुर का योगदान

गौड़ीय वैष्णव-भक्ति का प्रादुर्भाव गौड़देश (बंगाल) में हुआ और वह बाद में मणिपुर में प्रसारित हुई। गौड़ीय वैष्णव-भक्ति की जन्मस्थली नवद्वीप में शाक्त धर्म के प्रभाव के परिणामस्वरूप गौड़ीय भक्ति-पद्धति की छवि अत्यन्त धूमिल हो गयी थी। गौड़ीय वैष्णव-भक्ति की जन्मस्थली में जाकर उसके पुनर्जागरण का श्रेय मणिपुरेश्वर जयसिंह को है, जिन्होंने अपनी गंगा-यात्रा के दौरान नवद्वीप जाकर वहाँ के राजा कृष्णचन्द्र राव (जो कट्टर शाक्त थे) को धर्म-युद्ध के लिए ललकारा।[31] श्री नवद्वीपचन्द्र का विग्रह वहाँ भूमिगत था। महाराज जयसिंह ने राजा से मिलकर उसकी पुनः प्रतिष्ठा करवायी तथा उनसे साढ़े सोलह बीघा भूमि और साढ़े सात रुपये वार्षिक मन्दिर के लिए स्वीकार करवाये। उन्होंने नवद्वीप में रहकर गौड़ीय वैष्णव-धर्म को पुनर्जीवन प्रदान किया। इसीलिए महाराज भाग्यचन्द्र गौड़ीय सम्प्रदाय में द्वितीय गौरांग के नाम से जाने जाते हैं।[32]

महाराज जयसिंह अपनी इस अन्तिम यात्रा के दौरान चैतन्य महाप्रभु के पूर्वज गृह ढाका-दक्षिण भी गये, जहाँ उन्होंने एक कीर्तन-मण्डली स्थापित की। अद्वैत-जन्मस्थली अम्बिका में जाकर उन्होंने

कीर्तन-परम्परा को पुनर्जीवित किया। इतना ही नहीं, उन्होंने नरोत्तम ठाकुर के अखाड़े में जाकर श्री गौर-मन्दिर की लुप्त पूजा-परम्परा को भी पुनर्जीवन दिया।

इन यात्राओं में उनकी पुत्री सिजा लैइरोबी (देवप्रिया) बिम्बावती मंजुरी भी उनके साथ थी। वह अपने साथ श्री अनुप्रभु की मूर्ति लेकर गयी थी। नवद्वीप में श्री अनुप्रभु के विग्रह की प्रतिष्ठा करके उसने स्वयं सेवा की। उस मन्दिर का नाम मणिपुर-राजा-कुंज और उस मार्ग का नाम मणिपुर-मार्ग है।

इस प्रकार श्री राधाकृष्ण-भक्ति के उसकी मूलभूमि बंगाल में भी पुनरुद्धार का श्रेय मणिपुर को जाता है।

संदर्भ :

1. (क) डॉ० एम० कीर्तिसिंह : रिलिजियस डेवलपमेंट इन मनीपुर इन दी एट्टीन्थ एण्ड नाइंटीथ सेंच्युरीज, मणिपुर स्टेट कला अकादमी, इम्फाल, पृ० 6-7।
   (ख) श्री एम० इसूडोहल सिंह : इन्ट्रोडक्शन टू मणिपुर, पृ० 51-52।
   (ग) श्री डब्लू० युमुजाओ सिंह : ऐन अर्ली हिस्ट्री आफ मनीपुर, पृ० 7 से 33।
   (घ) श्री आर०सी० मजूमदार : एक्सपैंशन आफ आर्यन कल्चर इन ईस्टर्न इण्डिया, पृ० 43-45।
   (ङ) श्री अतोम बापू शर्मा : मैतै कीर्तन, पृ० 80-82 तथा मणिपुर इतिहास, पृ० 238-269।
2. (क) श्री एच० कुलबिधु सिंह : मनीपुरी डांस, पृ० 16।
   (ख) श्री डब्लू० युमुजाओ सिंह : उपरि 1 (ग), पृ० 24।
3. (क) प्रो० एन० तोम्बी सिंह : मणिपुर एण्ड दि मेन स्ट्रीम, पृ० 41।
   (ख) श्री डब्लू० युमुजाओ सिंह : रिपोर्ट आन आरक्योलॉजिकल स्टडीज इन मणिपुर बुलेटिन नं० 1 (1935)।
4. (क) श्री बी०सी० रेलन : डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ असम, वाल्युम 9, पृ० 19, शिलाँग (1905)

(ख) प्रो० एन० तोम्बी सिंह : उपरि 3 (क), पृ० 41।

(ग) श्री आर०के० झलजीत सिंह : ए शार्ट हिस्ट्री आफ मणिपुर, पृ० 82।

5. डॉ० सरोज नलिनी पैराट : दी रिलिजन आफ मणिपुर, पृ० 144।

6. चैथरोल कुमबाबा : मणिपुर के राजवंश का हस्तलिखित इतिहास।

7. श्री एफ० बावर्स : दी डांस इन इण्डिया, पृ० 123।

8. (क) श्री एल० इबूङोहल सिंह : उपरि 1 (ख)।

(ख) श्री एन० खेलचन्द सिंह : अरिबा मणिपुरी साहित्य का इतिहास, पृ० 35-38।

(ग) चैथरोल कुमबाबा : उपरि 6, पृ० 28 तथा 73-75।

9. डॉ० एम० कीर्तिसिंह : उपरि 1 (क), पृ० 125।

10. (क) डॉ० एम० कीर्तिसिंह : उपरिवत्, पृ० 280।

(ख) श्री अतोम बापू शर्मा : मणिपुर का सनातन धर्म, पृ० 18-27 व मैतै धर्म अरिबा, पृ० 23।

(ग) श्री एन०जी० कुलचन्द्र : मैतै लाई हरीबा, पृ० 1।

11. डॉ० कृष्णनारायण प्रसाद मागध : असम प्रान्तीय राम-साहित्य, पृ० 22।

12. (क) श्री अतोम बापू शर्मा : मणिपुर का सनातन धर्म, पृ० 15।

(ख) डॉ० एम० कीर्तिसिंह : उपरि 1 (क), पृ० 287।

13. (क) श्री एल० इबूङोहल सिंह : भाग्यचन्द्र, भारत की अचौबा सिंह, इम्फाल, 1965।

(ख) श्री एन० खेलचन्द्र सिंह : अरिबा मणिपुरी साहित्यगी इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 119-120।

14. डॉ० एम० कीर्तिसिंह : उपरि 1 (क), पृ० 125-126।

15. उपरिवत्, पृ० 127।

16. उपरिवत्, पृ० 128-129।

17. श्री टी०सी० हडसन : दा मैतैज, पृ० 95-99।

18. (क) डॉ० एम० कीर्तिसिंह : उपरि 1 (क), पृ० 145।

(ख) श्री एन० तोम्बी सिंह : उपरि 1 (क), पृ० 18-23।

(ग) श्री मुतुम झूलन सिंह : विजय पंचाली, पृ० 106 (1947)

19. चैथरोल कुमबाबा, उपरि 6, पृ० 116, 117।
20. प्रो० एन० तोम्बी सिंह : उपरि 3 (क), पृ० 24।
21. (क) सुश्री सविता एन० मेहता : दी फिलासॉफी आफ मणिपुरी डांसिंग, पृ० 19।

    (ख) श्री एफ० बावर्स : उपरि 7, पृ० 135।

    (ग) चैथरोल कुमबाबा, उपरि 6, पृ० 116-117।
22. प्रो० एन० तोम्बी सिंह : उपरि 3 (क), पृ० 31।
23. श्री एफ० बावर्स : उपरि (7), पृ० 115-131।
24. डॉ० एम० कीर्तिसिंह : उपरि 1 (क), पृ० 212।
25. उपरिवत्, पृ० 213।
26. उपरिवत्।
27. श्री एल० इबूङोहल सिंह : उपरि 1 (ख), पृ० 55-60।
28. डॉ० एम० कीर्तिसिंह : उपरि 1 (क), पृ० 194।
29. उपरिवत्।
30. डॉ० एम० कीर्तिसिंह : उपरि 1 (क), पृ० 209।
31. श्री एस०एन० सेन : प्राचीन पत्र बंगला संकलन : कलकत्ता, वि०वि० (1942), पृ० 29।
32. श्री आर०के० सनाहल, बी०कॉम० : चिंथां खोम्बा महाराज गंगा चतूपा, पृ० 13।

गुजरात में श्रीकृष्णभक्ति का विकास

❀ श्री के० का० शास्त्री

[गुजरात भगवान कृष्ण की ऐश्वर्यलीला की पुण्यभूमि रही है। मथुरा के बाद यही उनकी कर्मस्थली बनी थी। उसके स्मारक द्वारका, प्रभासपाटण तथा सुदामापुरी सहस्राब्दियों से कृष्णतीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। मध्यकालीन भक्तों की अगाध कृष्णनिष्ठा के फलस्वरूप डाकोर तथा श्रीनाथद्वारा इनमें और जुड़ गये। श्रीमद्भागवत में भक्ति के ऐतिहासिक विकास के सिंहावलोकन के प्रसंग में 'गुर्जरे जर्जरा गता' का उल्लेख इस प्रदेश की दीर्घकालीन भक्ति–साधना का परिचायक है। कृष्णोपासना के इस अन्यतम उपजीव्य ग्रन्थ का गुजरात में प्रचार दसवीं शताब्दी में हुआ। प्रसिद्ध है कि मूलराज सोलंकी ने भागवत महापुराण की ग्यारह सौ प्रतियाँ ब्राह्मणों को दान देकर उसके लोकव्यापी प्रचार का उपक्रम किया था। परवर्तीकाल में निर्मित विपुल एवं उत्कृष्ट कृष्णभक्ति साहित्य इन परम्परागत प्रेरणाओं का ही प्रसाद था।] **(कृष्णभाव कोष से साभार)**

प्राप्य साक्ष्यों के आधार गुजरात में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार ईसा की तेरहवीं शती के उत्तरार्द्ध से परिलक्षित किया जा सकता है। बाघेला सारंगदेव का सन् 1292 ई० का एक शिलालेख पाटण (महेसाणा जनपद) के निकटवर्ती अनावड़ा गाँव से प्राप्त हुआ है। इसमें जयदेव के 'गीत–गोविन्द' का 'वेदानुद्धरते' प्रतीक का दशावतार से सम्बन्धित श्लोक उत्कीर्ण है। किन्तु इससे पूर्व दीर्घकाल से भागवत सम्प्रदाय (पांचरात्र अथवा सात्वत–मत) का इस प्रदेश में व्यापक प्रचार था, यह पाँचवीं शताब्दी में निर्मित चतुर्भुज विष्णु के देवालयों के प्राप्त

अवशेषों के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। जूनागढ़ के निकट पूर्व दिशा में गिरनार पर्वत की तलहटी में सोनरेखा नदी के दक्षिणी तट पर स्थित दामोदरजी के देवालय में राधा-दामोदर का प्रसिद्ध विग्रह प्रतिष्ठित है। इस मन्दिर का निर्माण गुप्त-सम्राट स्कंदगुप्त के समय में, उसके जूनागढ़ के अधिकारी चक्रपालि ने, सुदर्शन सरोवर के पूर्वभाग के ऊपर के स्थल पर, सन् 455 ई० में आरम्भ किया था तथा सन् 457 ई० में मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की थीं। इस मन्दिर में उस समय के दो स्वरूप हैं। उनमें बड़े स्वरूप की बायीं ओर, दीवार के दक्षिण पीठ देकर स्थित एक स्त्री-मूर्ति है। यह मूर्ति वस्तुत: लक्ष्मी की है, किन्तु गिरनार ब्राह्मण 'राधा-दामोदर' को अपना इष्टदेव मानते हैं। ये लोग विष्णु को दामोदर और उनकी प्रिया लक्ष्मी को राधा स्वीकार करते हैं। इसलिए यहाँ चतुर्भुज त्रिविक्रम विष्णु को 'दामोदर' और उस पुरानी स्त्री-मूर्ति को 'राधा' कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि दामोदर नाम तो भगवान् कृष्ण का ही है और यही नाम इस चतुर्भुज स्वरूप को दिया गया है। इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य एक और बात यह है कि राजस्थान में जोधपुर की उत्तर दिशा की ओर, कुछ किलोमीटर की दूरी पर स्थित मन्दिर के टीले पर खड़ी दीवार पर, श्रीकृष्ण की बाललीला से सम्बन्धित उत्कीर्ण चित्र पाँचवीं-छठी शताब्दी का माना जाता है। इससे यह प्रमाणित है कि पश्चिमी भारत में उस समय श्रीकृष्ण की भक्ति प्रचलित थी। उसका प्रसार सौराष्ट्र तक हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। सातवीं शताब्दी के आस-पास निर्मित 'स्कन्दपुराण' के 'प्रभासखण्ड' में प्रभासक्षेत्र के देवालयों के वर्णन मिलते हैं। इनमें भी अनेक देवालय चतुर्भुज विष्णु के थे, ऐसा अध्ययन से पता चलता है। प्रभास-पाटण (सौराष्ट्र का वर्तमान वेरावल) से पूर्व कुछ दूरी पर कदवार गाँव में वराह का एक जीर्ण देवालय है जो सम्भवत: आठवीं शताब्दी का है। उसमें मण्डप के स्तम्भों पर दशावतार की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनमें कृष्ण की मूर्ति भी हैं।

मांगरोल से पच्चीस किलोमीटर की दूरी पर पोरबंदर के समुद्री

किनारे पर श्रीमाधवरायजी तथा त्रिविक्रमरायजी (दोनों त्रिविक्रम विष्णु) की भव्य मूर्तियाँ हैं। प्रभासपाटण में दैत्यसूदन के देवालय की भी मूर्ति इसी प्रकार की है। इन तीनों मूर्तियों के हाथ ऊपर उठे हुए हैं, यही इनकी विशेषता है। ये तीनों मूर्तियाँ बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की हैं। इनमें माधवरायजी श्रीकृष्ण का ही नाम है जो मूलत: चतुर्भुज विष्णु को दिया गया है। बारहवीं शताब्दी के जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने 'सिद्धहेम-शब्दानुशासन' (संस्कृत-प्राकृत व्याकरण) के अंतिम अध्यायों में छह प्राकृत भाषाओं का व्याकरण दिया है। इसके अंतिम अध्याय के चौथे पाद में अपभ्रंश के स्वरूप को स्पष्ट के लिए दिये हुए अनेक पद्यों में राधा के नाम का निर्देश है। इन सबसे स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि 12वीं शताब्दी के पूर्व श्रीकृष्ण का माहात्म्य गुजरात, सौराष्ट्र तथा कच्छप्रदेश में व्यापक रूप से प्रसारित था।

नरसिंह मेहता (सन् 1410-1480 ई०) के पूर्व विरचित सुप्रसिद्ध जैनतीर्थंकर नेमिनाथ के संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश चरितों में श्रीकृष्ण का निर्देश, उनके काका (पितृव्य) के पुत्र के रूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त जैन-महाभारत में भी श्रीकृष्ण का एक प्रतापी राजा के रूप में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। तात्पर्य यह कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में इस भू-भाग के निवासी जैनों में भी श्रीकृष्ण की प्रसिद्धि थी। नरसिंह मेहता के पूर्व का भक्ति-साहित्य उपलब्ध नहीं है। किन्तु उसके सैकड़ों की संख्या में सुरक्षित पदों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण की भक्ति इस प्रदेश में बहुत पहले से प्रचार में थी।

मध्यकालीन गुजराती साहित्य में नरसिंह मेहता पहले व्यक्ति हैं जो दामोदर कृष्ण के उच्चकोटि के भक्त हैं। इन्होंने श्रीमद्भागवत और जयदेव के गीत-गोविन्द का भी अच्छा परिचय प्राप्त किया था तथा श्रीकृष्ण और राधा की लीला का वर्णन करते समय पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण और गर्गसंहिता का आधार लिया था, ऐसा उनके साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है। उनकी 'चातुरी-पचीसी' की प्रथम बारह

चातुरियों में गीत-गोविन्द के राधा-कृष्ण चरित का शृंखलाबद्ध निरूपण मिलता है, जबकि शेष तेरह स्वतन्त्र हैं। श्रीकृष्ण को लेकर रचे हुए पदों, राससहस्रपदी और शृंगारमाला के छन्दों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वे एक निष्ठावान् कृष्ण भक्त थे। उनके उत्तरकालीन कवि जनार्दन ने उषा-हरण (सन् 1492 ई०) काव्य की रचना की है। उनके निकट परवर्ती भीम, मांडण, भालण आदि कवियों ने भी श्रीकृष्ण विषयक उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं। नरसिंह मेहता से आरम्भ होने वाले इस युग में अन्य कवियों के भी कृतित्व का महत्त्वपूर्ण अंश कृष्ण विषयक है। इसीलिए गुजराती साहित्य के इतिहास में इस युग को 'आदि भक्तियुग' की संज्ञा दी गयी है। आयु में थोड़े-से बड़े नरसिंह मेहता के काका परबतदास (मांगरोल के सोरठ) भी कृष्ण भक्त थे। उनके रचे हुए भक्ति पद प्राप्त हुए हैं। भालण को छोड़कर शेष चारों भक्त कवियों ने द्वारका के श्री रणछोड़जी को सम्बोधित करते हुए पद-रचना की है। भालण के बालकृष्ण गोपालकृष्ण ही हैं। चरोतर के पाटीदार भक्तकवि कृष्णदास (श्री वल्लभाचार्यजी के तुरीय शिष्य तथा अष्ट सखाओं में से एक) ने अपनी सैकड़ों रचनाएँ ब्रजभूमि में रहकर ब्रजभाषा में की हैं। राजस्थान की मीरा (जो भालण की उत्तरकालीन थीं) के भी गुजरात में रहकर रचे हुए गुजराती पद विपुल संख्या में प्राप्त होते हैं। वह गिरिधरनागर कृष्ण को पति के रूप में मानती थीं। इस भावना का संकेत उनके पदों में मिलता है।

भीम कवि ने (जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है) 'हरिलीला-षोडशकला' (सन् 1485 ई०) में समग्र भागवत की कथा को शृंखलाबद्ध आख्यान-पद्धति से सोलह कलाओं में विभक्त करके रचा है। उनके 51 वर्षों बाद केशवराम कायस्थ द्वारा प्रभासपाटण में भागवत के दशम-स्कन्ध की लीला 'कृष्ण क्रीड़ाकाव्य' (सन् 1535 ई०) नाम से ऐसी ही आख्यान-पद्धति में लिखी गई थी। इन दो भक्त कवियों के बीच के वर्षों में 1500 ई० के आस-पास 'राहुलकान्त' नामक भक्तकवि ने शार्दूल

विक्रीडित छन्द में गुजराती श्लोकों में कृष्णचरित की रचना की है तो उनके समकालीन गणदेवी के एक 'काकु-वसही' नामक भक्त ने शृंखलाबद्ध आख्यान-पद्धति में 640 कड़ियों (चरणों) में कृष्णचरित्र गाया है। इन दोनों कवियों के समकालीन 'वासणदास' नामक भक्तकवि ने 'हरिचुआक्षरा' और 'कृष्ण-वृन्दावन-राधारास' की रचना की है, जिसमें एक सौ से अधिक शार्दूलविक्रीडित वृत्त प्रयुक्त हुए हैं।

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक दूसरे 'भीम' नामक पुष्टिमार्गीय वैष्णवकवि ने श्रीकृष्ण की लीला को विषय बनाकर 'रसिक-गीता' की रचना की है। सन् 1553 ई० ब्रेहेदेव नामक भक्तकवि ने 'भ्रमरगीत' की रचना आख्यान-पद्धति में की है जिसका विषय उद्धव का ब्रज की गोपियों को सांत्वना देना है।

श्री विट्ठलनाथ गुसांई के शिष्य रूपाल के गोपालदास की ऐतिहासिक कृति 'वल्लभाख्यान' श्रीकृष्ण और गुरु की भक्ति से ओत-प्रोत है।

सूरत के निवासी कायस्थ भगवानदास (सन् 1627-1690 ई०) पुष्टिमार्गीय वैष्णव थे। इन्होंने गुजराती एवं ब्रजभाषा दोनों में कृष्णभक्ति के पद भावपूर्ण बनाये हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के अहमदाबाद के कवि 'अखा' ने 'स्वयं श्रीनाथ व्यापी विलसी रहियो' टेक से कृष्णभक्तिपरक पद रचे हैं।

पश्चिम सौराष्ट्र के माधवरायजी त्रिविक्रमरायजी के देवालय में चार भक्तकवि हो गये हैं: लघु पीताम्बर (वल्लभाचार्यजी के 84 शिष्यों में से एक, जो लोहाणा क्षत्रिय थे) कृष्णदास, दासभवान या भोवन दास और विजयो। इनके भावपूर्ण भक्तिपद श्रीमाधवरायजी और रुक्मिणी के विवाहोत्सव के अवसर पर प्रतिवर्ष (कार्तिक सुदी 12 और चैत्र सुदी 12 के दिन) आज भी गाये जाते हैं। भालण की तरह प्रेमानन्द भट्ट ने भी दशम स्कन्ध की अपूर्ण रचना की है जिसमें उन्होंने कुछ भक्तिपरक पद भी बनाये हैं। ज्ञानी भक्तों में मध्य गुजरात के प्रीतम कवि (सन् 1718-

1794 ई०) ने भी कृष्ण की लीला के पद गाये हैं।

प्रेमानन्द के समय के साथ 'आख्यान-युग' पूरा होता है। यहीं से सन्धि-काल के रूप में 'उत्तर भक्ति-युग' का प्रारम्भ होता है जो दयाराम और स्वामिनारायण सम्प्रदाय के भक्त कवियों के समय में समाप्त होता है। इस युग के आरम्भ (सन् 1700 ई०) से जामनगर के 'प्रणामी' सम्प्रदाय के प्रवर्तक एवं गुरु श्री प्राणनाथजी ने 'इन्द्रावती' उपनाम से भगवान् श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं से सम्बद्ध भावपूर्ण पदों की रचना की है।

'सतपंथी' मुसलमान भक्तकवि राजे के रचे हुए 3246 पद प्राप्त होते हैं। अपनी रचनाओं की विशिष्टता के कारण वे नरसिंह और दयाराम से भी उच्चकोटि के कवि के रूप में मान्य हैं। अहमदाबाद के भक्तकवि पाटीदार रघुनाथ (जन्म सन् 1719 ई०) ने ब्रजभाषा के अष्टसखाओं (अष्टछापी भक्तों) के पदों का लालित्य गुजराती में उतारा है। उनके समकालीन रामकृष्ण भी उच्चकोटि के श्रीकृष्ण भक्त थे। इन्होंने प्रचुर संख्या में भक्तिमय पदों की रचना की है। इसी अठारहवीं शताब्दी में विरचित पोरबंदर के पुष्टिमार्गीय आचार्य की पत्नी श्री शोभा माँजी के सुन्दर 'गरबा' भी इधर प्रकाश में आये हैं। इन्होंने इन गरबा गीतों की रचना 'हरिदास' उपनाम से की है। श्रीकृष्ण की रासलीला को केन्द्र में रखकर बनाये गये ये गरबे नवरात्र में गाये जाने के निमित्त रचे गये हैं।

जूनागढ़ में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नरसिंह मेहता के काका परबतदास के वंशज गायकवाड़ी मजमूदार त्रिविक्रमदास-भवानीदास वैष्णवरसिक भाषाओं को जानने वाले अच्छे कवि हो गये हैं। इन्होंने गुजराती में अनेक और उर्दू की परिपाटी में कुछ पदों की रचना की है। इनके गुजराती पदों की अंतिम पंक्ति में 'त्रिविक्रमदास आशपरिपूरण' का उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट है कि ये कृष्णभक्ति में लीन होकर काव्यरचना करते थे।

जामनगर (सौराष्ट्र) के धाफा गाँव के निकटस्थ धानाणी

'आंवलडी' गाँव के ब्राह्मण रणछोड़ भक्त (जन्म सन् 1737 ई०) ने भी प्रचुर भक्तिगीतों धौल, ध्रुपद, धमार आदि की रचना की है। इनके विषय में इधर ही अनुसंधान हुआ है।

वल्लभ धोला (जन्म सन् 1700 ई० के आस-पास) मूलतः शक्ति के उपासक थे। इन्होंने माताजी के अनेक गरबे बनाये हैं, किन्तु 'व्रज-वियोग' शीर्षक एक गरबा भी रचा है, जिसमें गोपियों के कृष्ण-विरह का वर्णन है।

नर्मदातट-स्थित चाणोद के पार्श्ववर्ती डभोई में जाकर बसे हुए उच्चकोटि के पुष्टिमार्गीय भक्तकवि दयाराम ने अपने पदों और गरबा-गरबियों से मध्य गुजरात की जनता को भक्तिभाव से आप्लावित किया है। उसी समय स्वामिनारायण वैष्णव-सम्प्रदाय के संस्थापक श्री घनश्याम (सहजानन्द स्वामी) के आठ शिष्य भक्तकवियों ने भी अपनी भक्ति भरी कविताओं से जनता के चित्त को रसमय किया है। इन आठों में से दो प्रेमानन्द 'प्रेमसखी' और ब्रह्मानन्द मूर्धन्य भक्तकवि हैं, जिन्होंने श्री सहजानन्द स्वामी को साक्षात् अक्षर-पुरुषोत्तम के रूप में प्रस्तुत किया है तथा भगवान् श्रीकृष्ण की लीला के सैकड़ों पद बनाये हैं। ये दोनों कृष्णभक्ति से रंगे हुए भक्त हैं।

उत्तर भक्तियुग को सर्वोत्तम उज्ज्वलता प्रदान करने वाले चाणोद डभोई के भक्तकवि दयाराम ही हैं। इनके विषय में आगे विस्तार से चर्चा की जायेगी। शुद्धाद्वैत-तत्त्वज्ञान और भक्तिमार्ग से सम्बन्धित काव्यग्रन्थ, थोड़े-से आख्यान और सबल गद्य लिखने वाले इस कवि ने भी विपुल संख्या में पद तथा गरबा-गरबियों की रचना की है। इनके कुछ पद परलक्षी हैं तो कुछ आत्मलक्षी। इनके गरबा परलक्षी हैं, किन्तु गरबी आत्मलक्षी हैं। गोपीभाव से इन्होंने छोटी-सी गरबी गायी है जो गुजराती साहित्य में अप्रतिम है। ये दोनों प्रकार की कृतियाँ नृत्यात्मक, अभिनेय तथा अत्यन्त प्रभावपूर्ण हैं।

अन्त में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि गुजराती भक्ति

काव्य की प्रसिद्ध शैली 'गरबो' शब्द का इतिहास नरसिंह मेहता जितना ही प्राचीन है। उन्होंने अपने एक गरबा में इस शब्द का प्रयोग 'गोकुलनाथ गरबे रमे हते' कहकर किया है। भालण ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु उनके भावपूर्ण पदों में गरबा का प्रकार देखने को मिलता है। उनके बाद सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आविर्भूत भाणदास ने शक्तिमाता को केन्द्र में रखकर इकहत्तर गरबे लिखे हैं और 'माता गरबे रमे छे' इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग किया है। ये सब (गरबा) परलक्षी शैली के हैं। दयाराम के गरबा भी परलक्षी हैं, किन्तु कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण उनमें अनेक प्रकार के भाव मूर्त हुए हैं। इससे इनके ये 'गरबा' पूर्व के गरबा-गीतों से अलग पड़ जाते हैं।

(राधाकृष्ण भक्ति से साभार)

●●

कृष्ण–भक्ति और मराठी वैष्णव साहित्य

❀ डॉ० प्रभाकर माचवे

महाकवि सूरदास के समकालीन थे अनेक भारतीय भाषाओं के भक्त-कवि आसाम के शंकरदेव, बंगाल के चण्डीदास, गुजरात के नरसी मेहता, पंजाब के गुरुनानक, कर्नाटक के पुरन्दरदास, तेलुगु के वैभना, मलयालम के चैरूशशेरी, मराठी के एकनाथ। कुछ दशक इधर या उधर। इन सबकी कविताओं, पदों, गीतों, अभंगों और विविध छन्दों में एक ही भाव-प्रवाह भारतीय साहित्य में प्रकट हुआ। फिर भी अलग- अलग भाषाओं में उसी एक मूल भक्ति-भावना का अलग-अलग शाखा-स्वरूप दिखाई देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है–''मराठी कृष्ण-काव्य का अभीष्ट लोकहित है, जबकि हिन्दी कृष्ण-काव्य का लोकरंजन।''

हिन्दी और मराठी कृष्ण-काव्य का अन्तर पाँच बातों में स्पष्ट है; हिन्दी भक्त-कवि श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पर अपनी रचनाएँ करते हैं, तो मराठी कवि एकादश स्कन्ध पर। हिन्दी की कृष्णलीलाओं में बाललीला के साथ-साथ कैशोर्य, वय:संधि और यौवन की शृंगार-प्रधान रासलीला आदि का बड़ा विशद् वर्णन है। मराठी में कृष्ण का बालरूप है या फिर योगेश्वर गीता वाला रूप। हिन्दी में भ्रमरगीत और उद्धव-संवाद का वर्णन है; जो मराठी में नहीं है। हिन्दी में राधा का परकीया भाव भी बड़े परिमाण में है। मराठी में रुक्मिणी का वर्णन है, राधा का नहीं और हिन्दी में गेय पद, जैसे 'अष्टछाप' के कवियों के रचे हुए अधिक हैं, तो मराठी में ओंवी, अभंग, धवले, गोलण, श्लोक, आर्या आदि अनेक देशज-मात्रिक और संस्कृत-वार्णिक छन्द प्रयुक्त हैं। इस

अन्तर को समझने के लिए महाराष्ट्र और हिन्दी की भक्ति-काव्य परम्परा का इतिहास समझना होगा।

श्रीमद्भागवत के अनुवाद विभिन्न भाषाओं में कब और कैसे हुए? आन्ध्रप्रदेश में माडिकिसिंगन्न ने भागवत के दशम् स्कन्ध का अनुवाद 1375 ईसवी में किया। जिसके बाद पोतन्ना ने 1450 के बाद अपनी रचना की। तमिल में लोक देवता मायोन से कृष्ण का एकीकरण हो चुका था। वरदराज आयंगर ने भागवतानुवाद 1543 ईसवी में किया जो चैतचूड़ावार के अनुवाद पर टीका के रूप में था। मलयालय में चैरूशशेरी की कृष्णगाथा 15वीं शताब्दी की है। मराठी में एकादश स्कन्ध की भाषा टीका के पन्द्रह-बीस ग्रन्थ मिलते हैं। सबसे पुरानी रचना भास्कर भट्ट बोरोकर की 1308 ईसवी में लिखी 'उद्धवगीता' और बाद में सोलहवीं शती में काशी में रहकर एकनाथ महाराज द्वारा रचा हुआ 'भागवत' है। बाद में शिवकल्याण, कृष्णदयार्णव, शिवराम कवि, वामन पंडित का चतु:श्लोकी भागवत, मोरोपंत पराडकर का 'मन्त्र भागवत' आदि अनेक ग्रन्थ हैं।

'भक्ति' का मूल जो 'भज्' धातु है उसका प्रेममूल अर्थ पाणिनि के बाद शुरू हुआ। ऋग्वेद में विष्णु के स्तुतिपरक चार मन्त्र हैं, एक में विष्णु रुद्र एक साथ हैं। यास्क ने सूर्य को ही रश्मियों से व्याप्त होने से विष्णु माना। ब्राह्मण ग्रन्थों में, 'यज्ञौ वै विष्णु:'' रूप हुआ। ''भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द'' वाली पद्मपुराण पर आधारित उक्ति के समर्थन में 'दिनकर जी' ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में कहा: ''वैष्णवमत में भक्ति की जो प्रधानता है, वह मुख्यत: प्रकट हो चुकी थी और आर्यों का ध्यान उस ओर तब गया जब वे कर्मकाण्ड में कुछ थकने लगे।'' वैसे महाराष्ट्र पंचद्राविड़ों में से एक माना जाता है।

डॉ० रामकृष्ण भांडारकर वासुदेव और कृष्ण को दो भिन्न व्यक्ति मानते थे। हेमचन्द्र राय चौधरी ने सिद्ध किया कि वे छान्दोग्य के कृष्ण और आभीर गोत्र के कृष्ण को एक ही मानते हैं। सोलहवीं

शताब्दी में विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्तित शुद्धाद्वैतवाद से महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति क्षेत्र में वल्लभ-सम्प्रदाय और पुष्टिमार्ग की स्थापना की। भागवत के पोषण या भगवद्नुग्रह को ही 'पुष्टि' कहते थे। मराठी में 'भगवत्कृपा' चली तो सूरदास ने 'रागानुगा भक्ति' को अपनाया।

वात्सल्य-रस नवरसों में बहुत बाद में जोड़ा गया। 'मंदारकरन्द चंपू' के रचयिता ने कार्पण्य को वात्सल्य का स्थायी भाव माना है। सोमेश्वर ने काव्य प्रकाश की 'काव्यादर्श' टीका में लिखा है कि ''स्नेह, भक्ति और वात्सल्य रति के ही विशेष रूप हैं, उत्तम में अनुत्तम की रति भक्ति और अनुत्तम में उत्तम की रति वात्सल्य है।'' 'हरिऔध' के अनुसार यहाँ अनुत्तम उत्तम शब्द छोटे-बड़े के अर्थ में प्रयुक्त है।

वल्लभाचार्य ने भक्ति के सामान्य लक्षणों में प्रेम भक्ति के साथ भगवान के नित्य स्मरण ज्ञान और निरन्तर ध्यान का उल्लेख किया है। आदि भक्ति सूत्रों में एकादश आसक्तियाँ हैं, जिनमें गुणासक्ति और रूपासक्ति से आरम्भ होकर तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति तक का वर्णन है। पुष्टिमार्ग में दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य ये चार रूप वैष्णव भक्तों ने दिये हैं। मराठी सन्तों और भक्तों ने दास्य और वात्सल्य को अधिक अपनाया है परन्तु हिन्दी के अष्टछाप के कवियों ने सख्य और माधुर्य को।

मराठी की आदि कवयित्री महदाइसा ने रुक्मिणी स्वयंवर का वर्णन अपने धवले में किया है। महानुभाव कवियों ने अपने पंथ में पंचकृष्ण की उपासना वर्णित की। महानुभाव कवि नरेन्द्र ने 1267 ई० में 'रुक्मिणी स्वयंवर' लिखा। नृसिंह संतोष मुनि कृष्णदास महानुभाव वैष्णव भक्ति का ही निरूपण करते हैं। भास्कर भट्ट के 'शिशुपालवध' में और एकनाथ के 'रुक्मिणी स्वयंवर' में कृष्ण के अन्य रूपों का वर्णन है। केवल वामन पंडित ने 'राधा विलास' लिखा है।

वैष्णव भक्ति ने अन्य धार्मिक को भी प्रभावित किया है। सोलहवीं शती के शेख मुहम्मद मराठी संत हो गये जिन्होंने लिखा है—''ईश्वर के अनेक नाम उसी तरह हैं जैसे पानी के अनेक नाम।'' वैष्णव की यह

सर्वकषता उन्हीं के शब्दों में—''फारसी ने आब बियाद्। भागे मराठा नेणे भेद। तेणें प्रवर्तला अनुवाद। देखो समजेविण। तान्हेला कानडा म्हणे निर्कुड। मुसलमान म्हणे वेंव करता गडबड। दुभाषानें दोहींत काव्य मूढ। नीर पाजिले।....छप्पन्न भापेचो किली। कन्ठो असी अनिर्वाच्य बोलो। त्याचीज जाणा भ्रांत किटती। ईश्वर अभास भासे।'' इसका अर्थ है—

''फारसी में आब, मराठी में पाणी, कन्नड़ में निर्कुड माँगने पर मुसलमान दुभाषिये से सबको 'नीर' पिलाया। छप्पन भाषाओं की एक चाभी है और वह है अनिर्वाच्य बोली। परमेश्वर आखिर एक ही है। आभास अलग-अलग हैं।'' वैष्णव भक्ति कविता का एक बड़ा लक्षण सब धर्मों के प्रति एकात्मक का भाव था। मानवी करुणा का प्रधान स्वर था। नरसी मेहता ने कहा—

''वैष्णव जन तो तैणे कहये, जो पीर पराई जाणे रे।''

तुकाराम कहते हैं—

मऊ मेणाहून आम्हो विष्णुदास
कठिण वज्रास भेदू ऐसे।।
मेले जिते असों निजोनियाँ जागे।
जो-जो जें-जें मांगे तों-तें देई।
भले तरी देहुँ.....लंगोटी
नाठालाचे काठी देह मांधा।।
माया बापांहूनि बहू भायावंत।
वरू घातपात शत्रू हूनि।।
अमृत ते काय गोड आम्हापुढे।
विषते बापुड कडू किती।
तुका म्हणे आही अवधेचि गोड।
ज्याचे पुरे कोड त्याचे परी।

अर्थ : हम विष्णुदास मोम से भी चरम हैं,

कठिन वज्र को भी हम भेद सकते हैं।
मरे हुए, जीते हुए, सोते-जागते,
जो-जो जो कुछ मांगेगा वह हम देते हैं
अच्छे इतने हैं कि अपनी लंगोटी भी दे देंगे,
और हम बदमाश के सर लाठी मारेंगे।
माँ बाप से अधिक माया ममता वाले हैं,
और शत्रु से भी अधिक विश्वासघात करते वाले हैं।
अमृत हमारे आगे कितना मीठा होगा ?
विष भी बिचारा कितना कडुआ होगा ?
तुकाराम कहते हैं हम पूरे के पूरे मीठे हैं,
पर जिसकी इच्छा पूरी हो वह उसी के अनुसार है।

मराठी वैष्णव ''ये यथामांप्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्'' वाले हैं, यानी शठ के प्रति शाठ्य का भी कर्मयोग वह दिखाता है। विष्णु विश्वव्यापी हैं, हर चराचर में 'वह' हैं, इस भावना से, वह जैन या बौद्ध अहिंसा को इतना महत्त्व नहीं देता। यही कारण है कि महाराष्ट्र में मध्य-युगीन काल में जैन कवि और लेखक बहुत कम हुए हैं। शिव-शक्ति और देवी-भक्ति भी कई रचनाकार हैं जो कृष्णभक्ति या राम-भक्ति विषयक काव्य लिखते रहे हैं। महाराष्ट्र के अपने उपास्य विट्ठल के भक्त तो अनेक हैं। 'चक्रपाणि' ग्रन्थ में ढेरे ने शैव वैष्णव पर बड़ी अच्छी शोध सामग्री दी है।

महाराष्ट्र के सबसे बड़े संत और भक्त कवि ज्ञानेश्वर हो गये हैं, जिन्होंने बहुत छोटी उम्र में 'ज्ञानेश्वरी' और 'अमृतानुभव' की रचना की। वैष्णव वृत्ति का मूल है सर्व-भूतांतरात्मा ईश्वर को पहचानकर दया भाव रखना। मुक्ताबाई के प्रसिद्ध 'पद' ताटी उघड़ा ज्ञानेश्वरी में कहा गया है कि '' विश्व बहिन हो, पर संत को पानी होना चाहिये।''। अपने ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' में गीता के तेरहवें अध्याय ''अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जम्'' की व्याख्या करते हुए अहिंसा आर्जव, आचार्योपासन,

अर्जन, दात्य आदि वैष्णव गुणों का विवेचन किया है।

आपुलिया गुणांची तेलणी। करीन गुरु सेवे स्वामिणी।
हे अस्तो, होईन गवसणो। गुरुभक्ती सी।
गुरु स्नेहाचिये वृष्टो। भी पृथ्वी होईन तलवटी।
सोतिया मनोरथांचिया सृष्टी। अनेलासी।
म्हणे श्री गुरुचे भुवन। आपण भी होईन। आणि दास होइनि करीन।
दास्य तेविंचे। मी ताट काढीन।
वाट मी झाडीन। चरणसंवाहन। मीच करीन।

नामदेव ''रात्र काली धागर काली, यमुना जल ही काले हो माय,'' ''मैं काली, गोपी काली, मणियों की माला आदि काली हैं'' यह सांगरूपक प्रस्तुत किया। वही नामदेव कालियमर्दन प्रसंग में यशोदा की ''आतिं'' इन शब्दों में वर्णित करते हैं।

यशोदा व्याकूल होऊनिया म्हणे। सुखी आसो तान्हे कललयां
उठती तिडका स्तनी माझा फार। लवतसे नेत्र वे लोवेली।।
जीव तलमली दाटे माझा धसा। पाहीन पाडसा केह्ना हो आता।।
कपाल पीटीती यशोदा रोहिणी। आता चक्रपाणी कैंचा आता।।

जानाबाई नामदेव के घर की दासी थी वह देवी, विट्ठल, सबको एक मानकर कृष्ण को माता रूप से सम्बोधित करती है।

लो लो लागला आंबो या। विठाबाई आनंदीचा।।
आदिणणे पंटरपूर। नांदे कान्हाई सुन्दर।।

महानुभाव कवि पंडित दामोदर ने 'वच्छाहरण' काव्य में यमुना वर्णन किया है। अपभ्रंश के कवि पुष्पदन्त ने महापुराण में 85, 86 वीं संधि में कृष्ण-लीला दी है उसमें.....

''गरुसस्तु तोऊ स्तंबत। णं परिहई चुयकुसुभहिं कव्वस।।''

आदि का अर्थ है कि यमुना नदी कृष्ण के प्रति इतनी अधिक भक्ति-विभोर हो गई है कि वह गेरुए रंग के कपड़े पहने, पानी में गिरे

फूलों से अपनी कबरी संभाले, स्नान करती किन्नर वधुओं के स्तनों से अपना वात्सल्य प्रदर्शित करती, लहरों के विकास से विभ्रम पैदा कर, जल में रहने वाले नागराज की मणियों की किरणों से आलोक बिखेरती, कमल की आँखों से कृष्ण को देखती हुई, निर्मल जलकणों के चावलों से भी कमलिनी के पत्तों के थाल से आरती उतारती कलकल शब्दों से मंगल घोषणा करती हुई, कृष्ण शरीर बन पोषण करती है। इसी परम्परा में वैष्णव भक्तों में एकनाथी भागवत पर तो विस्तार से अलग वार्ता दी जा सकती है। एकनाथ और सूरदास पर तुलनात्मक शोध ग्रन्थ हिन्दी में मराठी शोधार्थियों ने प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार से मराठी कवि दामोदर यमुना वर्णन में कहते हैं–

कालिंदी जल निर्मल। श्रीकृष्णकांती श्यामल।
प्रतिबिंबसी मृणानी सुनील।
भक्तिभावे बोधगतां। कवि बर्जवो सायुज्यता।
जेयांचियां सन्तिघां सख्यता। जहाँ आसी।
देखोनि श्री चक्रपाणी। कैसी संभ्रमित जासी तरंगिणी।
कींआलिंगावे माँ श्रीकृष्ण। जिनतियां बहुति केलिया भुजा।
तैसे तरंग पठिय लागते मजो दासी दीलेगे।।

एकनाथ ने भागवत धर्म को अधिक मानवतावादी बताया। उन्हीं की परम्परा में दासोपंत, त्रयंबकराजख 'रासपंचाध्यायी' के लेखक के समान थे।

सातारा जिले के कोरेगाँवकुमरी के वामन पंडित जोशी मराठी वैष्णव भक्तों में सबसे मधुर रचना करने वाले कवि थे। वे सत्रहवीं शती में हुए। उनकी कृष्ण रचना में से वेणु-सुधा के कुछ श्लोक उद्धृत करता हूँ, जो स्वागता और उपजाति छन्दों में हैं–

अंग वक्र अधरी धरि पांवा। गोप वेषहरि तोचि जपावा।।
वाम बाहु वरि गालहि डावा। तो ठसा स्व-हृदयांत पडावा।
वेणुध्वनि तो सुर गायकांनी। त्यांच्या विभानांतहि बायकांनी।।

आश्चर्य कानीं पडताचे केसें। न तृप्त ज्यांचे मत है जुवेसे।।
मोहती ब्रज पशु मृग गाई। आमुचे नवल काय अगाई।।
स्तब्ध होति लिखिते जणुं चित्रे। वेणुच्या ध्वनि संचि निमित्ते।।

स्वामी समर्थ रामदास की भक्ति अधिक कर्म प्रधान थी। उनके यहाँ कृष्णलीला और गोपी श्रृंगार चेष्टाओं का वर्णन कहीं नहीं है। 'भक्ति परक अभंग' में रामदास ने पेट के पीछे लगे लोभियों की और मूर्खों की निन्दा की है। मुक्तेश्वर के महाभारत में कृष्ण का रूप और ही है। वह एक कुशल रणनीतिज्ञ हैं। श्रीधर कवि ने 'हरिविजय' ग्रन्थ 1702 ई० में रचा। इसमें कृष्ण की बाल-लीलाएँ, अक्रूरागमन आदि प्रसंग, बड़े मार्मिक ढंग से ओंवी छन्द में लिखे गये हैं।

तुकाराम की 'विराण्या' (विरहिनी ब्रजांगनाएँ) और कुछ अन्य कवियों की कृष्ण गोपी सम्बन्धों पर रचनाएँ विप्रलंभ और संयोग श्रृंगार के उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। 'रुक्मिणी स्वयंवर' कई मराठी मध्ययुगीन कवियों का प्रिय विषय रहा है। 1358 में नारी व्यास ने 'रुक्मिणी सैंवर' लिखा जो अब नहीं मिलता। सबसे पहला ग्रन्थ नृसिंह 1403 का इस विषय पर है। इसमें तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का वर्णन भी है। देश-देश के लोगों का वर्णन करते हुए कवि.....

फीरंग हायसाण खुरासणा। अब भरे मुसतान।
दीपे गोव आधेया तुरकाण वर्णवर्ण तेथ नारी।

हब्शियों के देश और तुर्किस्तान तक का उल्लेख करता है। सन्तोषीमुनी कृष्णदास, इसने तो सुदेव मुहसे कौंडिन्यूपुर की वेश्या बाम्बी का भी वर्णन कराया है। गोपा कवि, कविडिंभ, रोल्हण कवि जिसने 1500 ई० में 'बाल क्रीड़ा' पर लिखने वाले महानुभाव कवि येल्हण, मुरारीमल, अनन्तमुनि, कृष्ण आदि कई कवि हैं।

संक्षेप में सूरदास की ही तरह मराठी वैष्णव कवियों ने कृष्ण चरित को आधार माना है। पर उनकी प्रतिभा कृष्ण की बालक्रीड़ाओं में बहुत रमी है। यशोदा और गोपियों की वात्सल्य भावना का और आर्ति का

वर्णन है, पर अक्रूर गमन के बाद कृष्ण के अन्य रूपों, कालियमर्दन, मुष्टिकचाणूर वध, पूतना वध, कंसवध की बातें अधिक हैं। गीतगोविन्द वाली जयदेव परम्परा और विद्यापीठ वाली दूती और प्रणय लीलाओं का वर्णन कम है। बाद में महाभारत के साथी कृष्ण कई महाभारतोपाख्यानों में आते हैं। गीता पर पद्यबद्ध टीकाएँ हैं। (ठेठ विनोवा की गीताई तक) गीता की आरती भी एक मध्ययुगीन कवि ने लिखी है पर रूपवर्णन के स्थल मात्रा में कम हैं। मराठी कवियों की रचनाओं से तत्कालीन समाजस्थिति का पता चलता है। पर सूर और उनके परिसर के कवियों में ऐसे स्थल-कालबोध के चित्र कम मिलते हैं। मराठी कवि अधिक बहिर्मुखी हैं, दार्शनिक हैं और उनकी भक्ति में वैसी भावुकता और विह्वलता नहीं है, जैसी मीरा या सूर या बाद में रीतिकालीन हिन्दी कवियों में पायी जाती है। मराठी वैष्णव कवि की भावना संयत है, वह 'विवेकसिंधु' से शुरू होती है; 'सूरसागर' में समाप्त नहीं होती। भक्ति की धारा का उत्स संस्कृत में है पर वह प्राकृत, नागर, वैदर्भी रीति से मराठी में आ जुड़ता है। हिन्दी में देशी और मार्गी वृत्तियाँ अलग-अलग प्रचलित हैं। मराठी में वैसा कम है।

मराठी वैष्णव साहित्य धारा में हरिजन और पिछड़े वर्ग के संत कवियों का बड़ा योगदान है। विष्णु के रूप विट्ठल के पंडरपुर के मन्दिर में सब जाति के लोग भक्ति करने जा सकते हैं। विष्णुदास नाभा से लगाकर 'विष्णुपदी' के लेखक विष्णुपंत चिपलूणकर तक और विष्णुदास से लगाकर 'वैष्णव' के लेखक 'कुसुमाग्रज' तक, विष्णुवुवा ब्रह्मचारी से विष्णु सावाराम खांडेकर तक, मराठी में विष्णुओं और वैष्णव भावना के लेखकों की कमी कभी नहीं रही। पर सूरदास के पदों का पद्यबद्ध पूरा अनुवाद भी मराठी में चार सौ वर्षों में नहीं हुआ, यह भी सच है। सूरदास के पदों ने समकालीन संगीत क्षेत्र में वैष्णव संगीत की विशेष धारा प्रवाहित की। उसी तरह मराठी कृष्ण भक्ति काव्य ने उस समय के हरदास और कयैकरी लोगों को विपुल प्रेरणा, संगीत क्षेत्र में दी है। ●●

भारत का भाव–पुरुष श्रीकृष्ण
(कन्नड़ साहित्य के परिप्रेक्ष्य में)

❀ डॉ० ना० नागप्पा

श्रीराम और श्रीकृष्ण हमारी भारतभूमि के विराट पुरुष काव्यों में चिर नवीन नायक तथा हमारे विश्वासानुसार सारे विश्व के लोक-रक्षक एवं लोक-रंजक रहे हैं। भारतीय भाषाओं के साहित्य में प्रारम्भ में महाभारत, रामायण, महाभागवत तथा अन्य पुराणों से वस्तु-ग्रहण करके काव्य रचे गये। न केवल मौखिक (या लोक)साहित्य में यही परम्परा चली यानी श्रीराम और श्रीकृष्ण को नायक बनाकर काव्य, कथा, गीत कहने-लिखने की; वास्तु कला में इन्हीं देवताओं के मन्दिर सारे भारत में यत्र-तत्र सर्वत्र बने।

गोस्वामी तुलसीदासजी की कृपा से बजरंगबली की भी सर्वत्र पूजा होने लगी। हनुमानजी के मन्दिर भी सर्वत्र बने। भारत में कोई अखाड़ा नहीं है जिसमें बजरंगबली की तस्वीर, छवि या मूर्ति न लगी हो। 'बजरंगबली की जय' यह अखाड़ेबाजों का नारा रहा है। कर्नाटक में भी यही बात है।

कन्नड़ के लोक साहित्य में मैदानी नाटक का विशेष स्थान है। यह कथित कम-से-कम नाटक/रंग सज्जा के साथ रात-रात भर खेला जाता था और जन-मन-रंजन का माध्यम रहा। श्रीरामचन्द्र जी भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम ठहरे। पर श्रीकृष्णचन्द्र का लोकरंजक रूप जनता को इतना भाया, इतना भाया कि लोककथा, लोकगाथा, लोक गीत और लोकनाटक श्रीकृष्ण को लेकर चले।

प्राचीन लिखित कन्नड़ साहित्य में राधा का स्थान न रहा। पर लोकसाहित्य ने राधा के कृष्ण-प्रेम को पहचान लिया और राधा तथा

कृष्ण जन-मन को भा गये। अष्ट-महिषी स्वामी श्रीकृष्ण भगवान् के यहाँ क्या सौतिया डाह के लिए कोई जगह नहीं ? क्यों नहीं ? सत्यभामा और रुक्मिणी में श्रीकृष्ण भक्ति को लेकर होड़ चली। श्रीकृष्ण एक पलड़े पर आसीन हो गये। दूसरे पलड़े पर सत्यभामा बैठीं। श्रीकृष्ण वाला पलड़ा नीचे से उठा नहीं। रुक्मिणी ने देखा, सत्यभामा जिस पलड़े में आसीन थीं उसमें अपने हाथ से एक तुलसीदल (तुलसी का पत्ता) डाल दिया कि नहीं, पलड़े बराबर-बराबर हो गये। लीजिए, सत्यभामा की सूरत उतर गई। रुक्मिणी और सत्यभामा के बीच में इन्द्र के उद्यान से लाये गये पारिजात पुष्प एवं पारिजात-वृक्ष वाला झगड़ा लोक प्रसिद्ध है। इसी कथावस्तु को लेकर श्रीकृष्ण 'पारिजात' नामक कन्नड़ भाषा का रातभर चलने वाला मैदानी लोक-नाटक ने उत्तर कर्नाटक के जन-मन को मोह लिया है। इस नाटक में स्त्रियों का दिल लूटने वाला प्रेम, उनके मन को भाने वाली सौतिया डाह, श्रीकृष्ण के लोक-रंजन-रूप की सुन्दरता पर रुक्मिणी और सत्यभामा के तन-मन वार देने की प्रीति, भक्ति, सर्वत्र समर्पण की रीति-नीति के दायरे में चलती है। सारा नाटक गेय पदों के द्वारा गाये गीत-नाटक के रूप में चलता है। यह 'दोड्डाट' (बृहद् नाटक) कहलाता है। इसके अलावा छोटे-मोटे कई खेल 'सण्णाट' लघु नाटक चलते हैं। 'दोडडाट' के तार्किक को महाराष्ट्र वालों ने भी ग्रहण कर लिया है।

श्रीकृष्ण मन्दिर में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का उत्सव देखते ही बनता है। पहले यह उत्सव मैसूर के राजप्रासाद में सोलह दिन तक चलता था। एक-एक दिन श्रीकृष्ण भगवान् की एक-एक लीला को लेकर उसका पुतली प्रदर्शन उत्सव का अंग बना रहता। आज शकटासुर संहार, कल पूतना और कंस-वध, बकासुर-वध, तृणावर्त-वध इस तरह से श्रीकृष्ण भगवान् के लोक-रक्षक रूप को प्रस्तुत किया जाता। अन्य दिन श्रीकृष्ण के लोक-रंजक रूप को भी लेकर उत्सव चलता। गोपिका स्त्री, चीर अपहरण वाला प्रसंग, राधाकृष्ण-मिलन प्रसंग, रास-क्रीड़ा

प्रसंग आदि चलते थे। इतना ही नहीं बाल गोपाल की नाना लीलाएँ चलतीं। ओसली लीला नवनीत (चोरी) लीला गोप-बाल क्रीड़ा लीला आदि प्रस्तुत की जाती। श्रीकृष्णोत्सव की काफी धूम रहती। उत्सव के पीछे-पीछे 'ग्वाल' के वेशधारी पुरुष द्वारा बच्चों में दूध बँटता जाता। ये प्रसंग इन रूपों में लिखित साहित्य में कम देखने को मिलता है। यह कर्नाटक की विशेषता है।

दीवाली की रात में नरकासुर-संहार वाला प्रसंग प्रस्तुत किया जाता है। चार रास्ते चौक (बाजार) में जहाँ चार रास्ते मिले वहाँ नरकासुर का वृहद् चित्र जमीन पर लिख दिया जाता है। रात में श्रीकृष्ण भगवान् की मूर्ति लिये हुए वाहक लोग उस चित्र पर चलते हैं। चित्र कुचलकर बिखर जाता है। नरकासुर संहार सम्पन्न हुआ—यह माना जाता है। इधर श्रीकृष्ण मन्दिर में दीपोत्सव चलता है।

लिखित साहित्य में सर्वप्रथम कर्नाटक में महाभारत का स्थान है। सर्वप्रथम महाकाव्य ही 'पम्प-भारत' है। यह काव्य एक जैन कवि द्वारा लिखित है। काव्य का नाम है 'विक्रमार्जुन-विजय'। इसमें कवि पम्प ने अर्जुन को (अरिकेसरी राजा प्रसछन्न रूप से) नायक बनाया है। मूल-कथा में थोड़ी भिन्नता भी है। यह काव्य सन् 941-42 ई० में रचा गया। काव्य का प्रधान रस 'वीर' है। श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति नहीं दर्शायी गयी है जैसा कि संस्कृत भाषा के व्यासकृत भारत में है। यहाँ कृष्ण को एक चतुर, राजनीति-कुशल के रूप में चित्रित किया गया है।

श्रीकृष्ण कर्ण के पास जाकर उसे उसका जन्म-वृत्तान्त यों बताते हैं—

हे कर्ण! सुनो, ऐसा मत समझो कि मैं तुम लोगों में भेदोपाय से अलगाव पैदा करने आया हूँ। शान्तचित्त से बात सुनो—तुम्हें जन्म देने वाली माँ कुन्ती है। सूर्य तुम्हारे पिता हैं। पाण्डु-पुत्र तुम्हारे एकोदर भाई हैं। मैं हूँ तुम्हारा साला। बहुत बातों से क्या? सबसे बड़े तुम। यह राज्य वास्तव में तुम्हारा ही है। यह गद्दी तुम्हारी, तुम्हारे रहते दूसरा कोई राजा हो

कैसे सकता है?

पर कर्ण अडिग रहा। मछली जाल में फँसने वाली नहीं है—यह समझकर कृष्ण चुपचाप चले गये। कृष्ण के निर्गमन के पश्चात् कर्ण चिन्ता में, दुविधा में पड़ा कि 'भाइयों को मारे कैसे?' इधर अपने स्वामी को धोखा दे कैसे? युद्ध शुरू होने पर आत्माहुति देने का मन-ही-मन निश्चय किया पर यह मौका आया ही नहीं। युद्ध शुरू होते ही भीष्म को सेना-नायक बनाया गया। तब कर्ण ने दुर्योधन से कहा—'इस बूढ़े को सेनापति के पद पर आसीन करना केले के रेशे से मस्त हाथी को बाँधने की कोशिश जैसा है। उसके हाथ का धनुष ज्वार के डंठल के समान है। इस अंधे को सेनापति का पद क्यों? यदि शत्रुओं की हड्डी-पसली को चूर-चूर करना ही हो तो मुझे सेनापति बनाओ।' 'बूढ़े को रणक्षेत्र में तो जाकर खड़ा करके शत्रुओं की हँसी का पात्र बनने से तुम्हारा क्या लाभ सुयोधन?'

इस तरह से कर्ण का अभिमान, वीरत्व तथा स्वामिभक्ति प्रदर्शित है। पर कृष्ण का जो स्थान व्यास-भारत में प्राप्त है वह यहाँ नहीं है।

अर्जुन को वीर साहसी नायक, कर्ण को सत्यनिष्ठ प्रतिनायक, कृष्ण को केवल चतुर नीतिज्ञ, दुर्योधन को अभिमानी और हठी, पराक्रम में भीम, शूरता में शल्य, औद्धत्य में भीष्म, धनुर्विद्या में द्रोण और धार्मिकता में युधिष्ठिर—ऐसे महाकाव्य के अन्त में यही बस कहा गया है कि भारत में किसी का स्मरण करना हो तो केवल कर्ण का स्मरण करो।

१५वीं सदी में इस महाभारत की काव्य-कला से परिचित तथा व्यास-भारत के मर्मज्ञ विद्वान् नारणप्या ने एकाध बातें पम्प भारत से भी ली हैं—जब श्रीकृष्ण भगवान् सन्धि-सन्धान हेतु हस्तिनापुर जाते हैं तब राजा दुर्योधन के आतिथ्य को स्वीकार न करके दरिद्र पर कृष्ण-भक्त विदुर के घर जाता है। इससे दुर्योधन कुपित होता है और जब सन्धि सम्बन्धी प्रस्ताव उपस्थित होता है तब साफ इन्कार करते हुए कहता है- ''इस दासी पुत्र के घर का भोजन तुमसे ऐसी बातें कहलवा रहा है।'' यह

बात सुनकर वीर विदुर कुपित होकर कहता है-''क्रुद्ध भीम तुम पर झपटकर जब तुम्हारी जाँघों को तोड़ने का प्रयत्न करेगा-उस विषम परिस्थिति में तुम्हारी रक्षा करने हेतु इस धनुष को रखा था। अब इस धनुष को छूऊँगा तक नहीं।'' यों कहकर भरी सभा में अपने उस धनुष को विदुर तोड़ डालता है। पम्प भारत के इस प्रसंग को कुमार व्यास (नारायण कवि) ने सरस बनाकर कहा है—ऐसा लगता है। कौरव कृष्ण की बातों की हँसी उड़ाता हुआ कहता है—

''ई कृपन ई द्रोणनी गै
गा कुमारन मनय होगदबि
वेकि हात्तिन मगन मनयलि हसिन नूकिदिरि''
''.....निमगेके ई ढीनि?''

''कृपाचार्य, द्रोणाचर्य, यह गंगापुत्र आदि के रहते हुए-उनमें से किसी के यहाँ न जाकर अपनी क्षुधा मिटायी-राजा का ठाट (आपसे कभी निभेगा भी?) और औय!

कुरुराज की इन कटूक्तियों को सुनकर विदुर कहते हैं-'क्रुद्ध भीम जब तुम्हारी जाँघों को तोड़ने लगेगा उस वक्त तुम्हारी रक्षा करने के लिए इस धनुष को मैंने अपने हाथ में ले रखा था; तुम्हारे मुँह से ऐसी कड़वी बातें सुनकर मेरी वह इच्छा न रही; लो, इस धनुष को तोड़ दूँगा। यों कहते हुए विदुर ने भरी सभा में अपना धनुष तोड़ ही डाला।

पम्प कवि के इस छोटे से कंद पद्य (चतुष्पदी छन्द) की जगह कुमार व्यास ने डेढ़ भामिनी षट्पदी से काम लिया है। अर्थात् उसे पल्लवित किया है।

सन्धि सन्धान में असफल होने पर श्रीकृष्ण कर्ण से मिलते हैं और उनसे उनके जन्म-वृत्तान्त के बारे में कहते हैं। यह वृत्तान्त सुनने के बाद कर्ण अपनी माता कुन्ती देवी से गंगा किनारे मिलते हैं। उसी समय गंगा माता प्रत्यक्ष होकर पुत्र को माँ कुन्ती के सुपुर्द करती हैं। पिता सूर्य देव भी प्रत्यक्ष होते हैं। सूर्य भगवान् अपने बेटे (कर्ण) से कहते हैं—

"कृष्ण के आदेश के अनुसार माता कुन्ती तुमसे कुछ माँगने आयेंगी; तब माँ की बातों में न आना।"

व्यास महर्षि के 'महाभारत' में न दीखने वाला यह प्रसंग पम्प 'भारत' में है और कुमार व्यास भारत में भी है। लगता कि कुमार व्यास ने पम्प भारत को अवश्य ही पढ़ा होगा।

कुमार व्यास के भारत में कुघरी के प्रसंग भी हैं जो संस्कृत के महाभारत तथा अन्य कन्नड़ भारत काव्यों में नहीं हैं। सन्धि-सन्धान हेतु श्रीकृष्ण भगवान् कौरव सभा में प्रवेश करते हैं। तब कुमति दुर्योधन श्रीकृष्ण की तनिक परवाह न कर सिंहासन पर बैठे ही रहते हैं। तब–

"सणसु सेरद देवनिदिरलि
मणियदातन काणुनव धा.
रिणियनात्तिदनुंगुटद तुदियिदं नसुनगुन।"

"लापरवाही को बर्दाश्त न करने वाले, प्रत्यक्ष सभा में खड़े श्रीकृष्ण भगवान् ने दुर्योधन के इस उद्धत बर्ताव को देखकर मन-ही-मन कुपित पर ऊपर से मंदस्मित होकर अपने पाँव के अँगूठे से भूमि को तनिक-सा दबाया।"

इससे कौरव (सुयोधन) के सिंहासन का एक पाद टूटा। वीर ढीठ कौरव लुढ़ककर धड़ाम से श्रीकृष्ण भगवान् के पैरों पर गिर पड़ा।

(श्रीकृष्ण के इस महिमा-प्रदर्शन वाले प्रसंग में महाकवि व्यास के 'दूत वाक्य' का हाथ रहा होगा।)

कन्नड़ के आधुनिक कवि-वरेण्य कु.वें.पु. ने कुमार व्यास के बारे में कहा है–

"अगर कुमार व्यास गावेगा
कलियुग द्वापर बन जावेगा
आँखों में भारत नाचेगा
तन में विद्युत लहरावेगा।"
[कुमार व्यासनु हाडिदन दर

कलियुग द्वापर वा भु वु दु!
भारत कण्णालि कुणियुवुदु;
मै यलि मिंचिन होले तुलुकाडुवुदु।]

'कुमार व्यास अपनी कविता शक्ति के जाल में पाठक को फँसाकर आत्म-विस्मृत करके उसे द्वापर युग के वायुमण्डल में ले जाकर खड़ा कर देगा। महाभारत के सारे पात्र हमारे अन्तश्चक्षु के सामने सजीव होकर नाचेंगे। इस दिव्य झाँकी से हम रोमांचित होंगे। कुमार व्यास अपनी कविता शक्ति के प्रभाव से रस भावों की अमृतवाणी बहाकर द्वापर युग के जीव जगत् में एक नवीन चेतना भरेगा।'

कुमार व्यास का 'भारत' भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियों वाले पात्रों की चित्रशाला है। ऐसा कोई चरित्र नहीं है जो इस महाकाव्य में वर्णित न हो—देव, दानव, मानव, गन्धर्व। इस महाकाव्य में राजा से लेकर रंक तक हर स्तर के जीव चित्रित हैं। भीष्म-द्रोण जैसे महामहिमावान् कर्ण जैसा हतभाग्य पर उदार, शल्य और भीम जैसे वीर अर्जुन, अभिमन्यु और अश्वत्थामा जैसे साहसी, पराक्रमी, युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा, विदुर जैसे नीतिवान्, आचारशील एवं ज्ञानी, दुर्योधन जैसे अभिमानी (गर्वी) शूरवीर, कीचक जैसे नीच, शकुनि के जैसे कुतंत्री, उत्तर कुमार जैसे बातूनी, कुन्ती, गान्धारी एवं द्रौपदी जैसी शीलवती क्षत्राणियाँ—इस महाभारत में देखने को मिलेंगे। इन सभी पात्रों के सूत्रधार हैं श्रीकृष्ण भगवान्।

कवि ने अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण को केन्द्र बनाकर उनकी चारों ओर भारत के रमणीय पात्रों की लीला करायी है। कृष्ण भक्ति के आवेश में विस्मृत होकर कवि इस बात को भूल गया है कि वह जो कुछ लिख रहा है वह कुरुवंश की कथा है। 'कृष्ण कथा को समझाकर कहूँगा'-यों कहकर कुमार व्यास ने अपने काव्य का प्रारम्भ किया है। श्रीकृष्ण ही इस महाकाव्य का नायक है। वही समूचे भारत की प्रेरक शक्ति है। वही सर्वेसर्वा है। कुमार व्यास के महाभारत में द्रोपदी स्वयंवर वाले प्रकरण में सर्वप्रथम हमें श्री कृष्ण के दर्शन होते हैं। आगत सभी

नृपकुमारों का परिचय अपनी बहन द्रौपदी से कराते हुए दृष्टद्युम्न कहता है—यह है श्रीकृष्ण, यह साधारण पुरुष नहीं है। यहँ राक्षस रूपी कदली-वन हा मसा हाथी और वेद-वन्द्य स्वयं भगवान्। यह बात सुनते ही द्रौपदी ने श्री कृष्ण को मन ही मन नमस्कार किया।

उसी दिन मत्स्यवेधी बाण के सफल प्रयोग के पश्चात् द्रौपदी पाँचों पांडवों की पत्नी बनी। उस दिन रात को श्रीकृष्ण पांडवों से मिले। उनको अपना नाता बताया। माता कुन्ती ने उसी दिन अपने पाँचों बच्चों को श्रीकृष्ण के हाथों में सौंपा। उसी घड़ी से पाँचों पांडव कृष्ण के **"मम प्राणा ही पांडवा:"** बन गये।

यह बात महाभारत की समस्त घटनाओं में दीखती है। राजसूय-यज्ञ की सफलता के पीछे श्रीकृष्ण भगवान् का हांथ स्पष्ट है। यदि श्रीकृष्ण ने इशारा न किया होता तो भीम जरासन्ध को परास्त करने में सफल होता। एक सौ गालियाँ सुनने तक सब्र किये हुए श्रीकृष्ण का सुदर्शन चक्र चला नहीं कि शिशुपाल का सिर धड़ से अलग हो गया। सारे यज्ञ मण्डप में खलबली मच गई। राजसूय यज्ञ पूरा हुआ।

खाण्डव वन दाह में श्रीकृष्ण का हाथ, दुर्वासा के आतिथ्य में श्रीकृष्ण का छिपा हाथ, अर्जुन की विजय-यात्रा और सुभद्रा-विवाह में श्रीकृष्ण का हाथ और अज्ञातवास के पश्चात् सुयोधन के साथ सन्धि-सन्धान में श्रीकृष्ण की कूटनीतिज्ञता देखने में आती है। कुमार व्यास के महाभारत में दो ही प्रमुख घटनाएँ हैं—

(1) द्रौपदी वस्त्रहरण के प्रसंग में द्रौपदी ने कुररी-सी दीन होकर श्रीकृष्ण भगवान् की प्रार्थना की है। अपने पाँचों पांडव-पतियों के सम्मुख। यह भक्ति-प्रसंग का एक अत्यन्त हृदय-द्रावक प्रकरण है—"पतियों ने मुझे बेचकर धर्म स्थिति खरीदी। आगे मेरी क्या गति होगी, हे कृष्ण! मुझ अनाथिन का एकमात्र रक्षक तू ही है, हे श्रीकृष्ण।" इस संदर्भ में भक्तिरस की धारा ही बहा दी गयी है:

द्रौपदी का करुण क्रंदन रुक्मिणी के साथ शतरंज के खेल में

मग्न श्रीकृष्ण ने सुना कि नहीं तुरन्त ऐसा वरदान दिया कि वस्त्र अक्षय हो। इस तरह से द्रौपदी की मान-रक्षा हुई।

(2) जब कर्ण ने युद्ध क्षेत्र में अर्जुन पर पाशुपत अस्त्र का प्रयोग किया तब श्रीकृष्ण भगवान् ने रथ को धरती में एक फुट धँसा दिया। अर्जुन का किरीट मात्र अस्त्र उड़ा ले गया, सिर बच गया।

जयद्रथ-वध के समय श्रीकृष्ण चक्र ने सूर्य-मण्डल को आच्छादित कर दिया। इधर अर्जुन का बाण जयद्रथ का सिर लेकर गया, उधर श्रीकृष्ण चक्र सूर्य पर से हटा। अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी हुई।

श्रीकृष्ण के बिना भारत भारत नहीं है।

हरिदासों ने १३वीं-१४वीं सदियों से ही श्रीकृष्ण को आराध्य मानकर सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों के समान कन्नड़ भाषा में कृष्ण-भक्ति-सुधा गीतों के रूप में बहायी है। कथावस्तु भागवत पर आधारित है। प्रधान भाव है प्रेम व भक्ति। रस शृंगार। 'वात्सल्य के क्षेत्र में सूरदास ने कलम तोड़ दी है। पुरन्दरदास की जसोदा ने जगदोद्धारक श्रीकृष्ण को खेलाया। उसने उसे अपना बालक ही समझ लिया था। यह बालक है कौन ?—अणु से बढ़कर छोटा, महत् से बढ़कर महीयान्—ऐसे विश्व स्रष्टा भगवान् को जसोदा ने खिलाया।

श्रीमध्वाचार्य जी का जन्म उडुपि के पास १२वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। उन्होंने सारे भारत की यात्रा की और मध्व-मत (द्वैत-मत) की पुनः स्थापना की

द्वैत मत का सिद्धान्त यों है—

श्रीमन् मध्वमते हरि परतरः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भिन्ना जीवगणाः हरेरनुचराः नीचोन्द्रा भावंगताः।
मक्तिर्नैज सुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनं
ह्येषादित्रितयं प्रमाणमखिलम्रायैक वे द्यो हरिः।।

['मध्वमत में हरि सर्वोत्तम है। जगत् सत्य है। जीवों में तारतम्य है। समस्त जीव हरि के अनुचर हैं। सभी में तत्सम-भाव है। अलौकिक

सुख का अनुभव करना ही मुक्ति है। इस मुक्ति का साधन है भक्ति। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द—ये तीन प्रमाण हैं। हरि केवल वेद-वंद्य है।'] यह है द्वैत-मत का सिद्धान्त।

११वीं सदी में हुए वीर शैवों के समान मध्वाचार्यजी के अनुयायियों ने भी कन्नड़ भाषा में वैदिक धर्म के पुनरुद्धार हेतु सुश्राव्य सुन्दर सुमधुर गान गाये जिनको सुनकर श्रीकृष्ण की भक्ति में सारी कर्नाटक जनता लीन हो गई। आराध्य है—बाल-गोपाल, सेव्य दयालु शरणागत पालक, आर्ति-हर, सर्वफल दाता श्रीकृष्ण गोपीजन वल्लभ स्त्रियों का मुकुटमणि है। रास में वीर श्रीकृष्ण योद्धाओं का आदर्श है। युवक श्रीकृष्ण युवा लोगों के लिए पूज्य है।

कुछ कन्नड़ के सन्तों की वाणी सुनिये—

श्रीपादराय : (ई० सन् 1450)

सुबह-सुबह श्रीपादराय का नाम लीजिये आपको मृष्टान्न भोजन प्राप्त होगा।

'दासकूरा' के इतिहास में आपका नाम चिरस्मरणीय है। वे श्रीरंग (कावेरी-किनारे) कई दिन रहे। भक्ति-वैराग्य के प्रतिपादन में आपके गीत प्रसिद्ध हैं—

"भक्ति चाहिये, विरक्ति चाहिये, शक्ति चाहिये
—आगे मुक्ति चाहने वाले के लिये"

"मैं कुछ और नहीं माँगता; हे कृष्ण तू मेरे हृदय-मण्डप में निवास करो।"

मेरा सिर तेरे चरणों पर
मेरे नेत्र तेरे अंगों पर
मेरे कर्ण तेरे गीतों पर
मेरी नाक तेरे निर्माल्य पर

व्यासराय : आप विजय नगर साम्राज्य में राजगुरु थे। चक्रवर्ती कृष्णदेवराय को 'कुष्ठ' रोग से मुक्त किया। उस समय कुछ दिनों के

लिए आपको राजगद्दी पर आसीन किया गया था। उस वक्त उन्होंने कई धार्मिक कार्य सम्पन्न किये।

आपके गीत एकदम मधुर होते हैं-

''वेणुनिनाद चतुर कौन है-बता री सखी
आम्र पल्लव जैसे करों में मुरली
नाद मुरली का गोवर्धन गिरि भात्यापा
यादव कुल जन व खग कुल तल्लीन
कृष्ण को देखने वृन्दावन में अभी का वेला है
बता री सखी।''

पुरंदरदास (ई० सन् 1404-1564)—पुरंदरदास कंजूस सेठ थे। एक गरीब ब्राह्मण अपने पुत्र के उपनयन हेतु कृपा माँगने आया। श्रीनिवास इनका पुराना नाम है। ब्राह्मण ने श्रीनिवास के घर जाकर उनकी पत्नी से याचना की। उस बेचारी ने अपनी नथ उतारकर दान में दे दी। सेठ श्री निवास के यहाँ उसे बेचने जब वह दरिद्र ब्राह्मण आया तब वह पकड़ा गया। जब हकीकत मालूम हुई तब सेठजी ने घर जाकर पत्नी से नथ माँगी। पत्नी उसके लिए तैयार थी। वह विषपान करने पर उतारू थी। जैसे ही उसने विष का प्याला उठाया। उसमें नथ निकल आई। उसे पत्नी ने पति के हाथों में सौंप दिया। दुकान में जाकर सेठजी क्या देखते हैं कि जहाँ उन्होंने नथ रखी थी वहाँ वह नदारद थी। श्रीकृष्ण भगवान् ही इस ब्राह्मण वेश में आए थे।

तब से श्रीनिवास सारा घर-वार दान क साधु बन गये। उनके गीत सारे कर्नाटक में प्रसिद्ध हैं।

''दास बोले तो पुरंदरदास का जाय लो''

उनकी उक्ति प्रसिद्ध है—उन्होंने हजारों पद श्रीकृष्ण पर गाये।

इस तरह से श्रीकृष्ण कर्नाटक के वीर, सेव्य, गेय और आदर्श पुरुष योगीराज हैं।

●●

श्रीकृष्ण : तेलुगु साहित्य के संदर्भ में

❀ प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी

धर्म और दर्शन के द्वारा भारत की मनोभूमि में भावात्मक एकता के जो बीज बोये गये थे उनका सिंचन तथा पल्लवन साहित्य के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। इस प्रकार धर्मगुरु और दार्शनिक पारलौकिक संदेश के प्रवर्तक रहे हैं तो कवि तथा साहित्यकार उसके प्रचारक तथा उन्नायक। अत: भारत का जन-मानस दोनों के प्रति एक समान कृतज्ञ और श्रद्धालु रहा है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए रामायण, महाभारत एवं श्रीमद्भागवत को उदाहृत कर सकते हैं, जिनमें धर्म, दर्शन तथा साहित्य का चूडान्त समन्वय हुआ है। इनमें वर्णित चरित नायकों की प्रभाव-छाया में भौगोलिक तथा भाषिक सीमायें मिट-सी गयी थीं। राम तथा कृष्ण का नाम सुनकर कौन ऐसा भारतीय होगा जो श्रद्धालु और आनन्द-विभोर नहीं होगा, भारतीय जन-जीवन का कौन-सा ऐसा क्षेत्र है जो उन दोनों के आदर्श और उपदेशों से अछूता रह गया है।

मध्यकालीन सगुण भक्ति के आराध्य देवताओं में भगवान कृष्ण का स्थान सर्वोच्च है। कृष्ण के दैवत्य रूप का मूल स्रोत वैदिक ऋचाओं तक अन्वेषित किया जा सकता है। इनके उपरान्त कृष्ण के संदर्भ में महाभारत, गीता और पुराणों को उल्लिखित कर सकते हैं। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्यों में भी कृष्ण-लीलाओं का वर्णन पाया जाता है। परन्तु कृष्ण काव्य का प्राचुर्य 12वीं शती के पश्चात् ही देखने को मिलता है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार आधुनिक भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य का प्रारम्भ मैथिल कोकिल विद्यापति से माना जा सकता है। मध्य युग में तो भक्ति का प्रचार ब्रजमण्डल में बड़े उत्साह

तादात्म्य भावना के साथ हुआ। इसका बहुत-सा श्रेय वल्लभ, निम्बार्क, राधावल्लभ, हरिदासी और चैतन्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक को दिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य में कृष्ण-भक्ति की अजस्रधारा को प्रवाहित करने वाले सूरदास वल्लभ-सम्प्रदाय के मूर्धन्य कवि हैं।

जब हिन्दी और तेलुगु के कृष्ण साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न उठता है तो यह जानकर आश्चर्य ही होता है कि दोनों क्षेत्रों के बीच में पहले से ही एक अद्‌भुत साम्य और सम्बन्ध परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए, कृष्ण काव्य तथा सूर काव्य चेतना की दिशा में पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का नाम आदर से लिया जा सकता है। आप गोदावरी नदी तट पर स्थित खंभपाहु (काकरपाडु) के तेलंग ब्राह्मण तथा तेलुगुभाषी थे। आप स्वयं ब्रजभाषा के उद्‌भट पण्डित थे। इतिहास में इसका साक्ष्य है कि आपकी ही सत्प्रेरणा से महाकवि सूरदास जी ने कृष्ण साहित्य का प्रणयन किया था। अत: कहा जा सकता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य जी हिन्दी और तेलुगु की कृष्ण-काव्य परम्परा के तुलनात्मक अध्ययन के आद्‌य स्रोत तथा प्रेरक हैं।

वैसे तो तेलुगु में भी कृष्ण भक्ति सम्बन्धी साहित्य का अपार भण्डार है। लगभग पिछले सहस्र वर्षों से तेलुगु जन-मानस को कृष्ण काव्य-धारा अनुरंजित करते-करते पल्लवित होती आयी। तेलुगु साहित्य के इतिहास में उपलब्ध प्रथम महाकाव्य 'आन्ध्र महाभागवत' है जिसमें श्रीकृष्ण का चरित वर्णित है। इसमें कृष्ण के लौकिक तथा अलौकिक गुणों का सुन्दर समन्वय हुआ है। यत्र-तत्र श्रीकृष्ण के अवतार-रहस्य का उल्लेख भी किया गया था।

एर्राप्रगह कृत हरिवंश काव्य में गोकुल-वर्णन तथा ग्रामीण चेतना का जीता-जागता चित्रण मिलता है। इसके उपरान्त नाचन सोमन कृत उत्तर हरिवंश उल्लेख्य प्रबन्ध काव्य है। कवि ने कृष्ण को साक्षात् विष्णु विश्व के स्वामी, दुष्ट-संहारक के रूप में प्रस्तुत किया था। तेलुगु साहित्य तथा लोक-जीवन में कृष्ण को अधिक सरस, मनमोहक तथा

जनरंजक के रूप में प्रस्तुत करने वाले महान तेलुगु कवि हैं भक्त पोतना। आपका आन्ध्र महाभागवत धर्म, दर्शन, साहित्य आदि दृष्टियों में सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य माना जा सकता है। इस काव्य की विशिष्टता यह है कि इसमें श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का मनमोहक वर्णन सरस एवं प्रांजल शैली में सम्पन्न हुआ है और इसकी तुलना सूरदास कृत् बालकृष्ण लीलाओं के साथ नि:सन्देह की जा सकती है। जिस प्रकार सूर के बालकृष्ण-पद अत्यन्त सरस, सरल, मनोवैज्ञानिक तथा वात्सल्य रस की अनुपम उपलब्धियाँ हैं, वैसे ही पोतना के बालकृष्ण पद भी। भक्ति-भावना, काव्य-शैली दोनों दृष्टियों से पोतना तेलुगु कृष्ण काव्य के प्रतिनिधि कवि माने जा सकते हैं। पाठक पोतना की काव्य-प्रतिभा पर मुग्ध होते हैं, धार्मिक लोग आपकी भक्ति-पद्धति पर विभोर हो जाते हैं तो ग्रामीण जनता पोतना की पवित्र जीवन-शैली पर रीझ जाते हैं। सारे संसार में ऐसे कवि विरले ही होंगे जो सीधा-सादा और स्वाभिमानपूर्वक जीवन बिताते हुए अमर साहित्य की सृष्टि कर सके हों। पोतना गृहस्थी चलाने के लिए और इहलौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हाथ से स्वयं हल चलाते थे और मानते थे कि हल चलाकर खुद श्रम करके जीवन बिताने वाले कवियों का जीवन ही, काव्य-कन्या को दुष्ट राजाओं को बेचकर भोग-विलास का जीवन बिताने वालों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। आपका कथन है—

बाल रसाल साल नवपल्लव कोमल काव्यकन्यकम्
गूलत किच्यि यप्पडुपुकूडु भुजिंचुटकंटे सत्कवुल्
हालिकुलैननेमि गहनांतर सोमल कंदमूल कौ
दूधालिकुलैननेमि निजदार सुतोदरपोषणार्थमै।।

(बाल रसालसाल पल्लव के समान वाली कोमल काव्य-कन्या को दुष्ट राजाओं को अर्पित कर बदले में प्राप्त अपवित्र भोजन करने के स्थान पर सत्कवियों को पत्नी, पुत्र, परिवार के पालन-पोषण के लिए किसान बने। घने जंगल में रहकर कंद, मूल, फल खाकर जीवन बितावें,

यही उचित है।) एक हाथ से हल और दूसरे हाथ से लेखनी बराबर चलाने वाले पोतना जैसे स्वाभिमानी एवं प्रखर प्रतिभासम्पन्न कवि भारत के ही नहीं अपितु विश्व साहित्य में विरले ही मिलते हैं।

15वीं शती के मध्यकाल में राजदरबार के आश्रय को ठुकराकर किसान के रूप में जीवन बिताकर ऐसे श्रेष्ठ साहित्य का प्रणयन करना सचमुच एक अद्‌भुत भावना ही मानी जायेगी। जब राजा का निमंत्रण आया था, जब बहनोई पोतना को दरबार में जाकर सुखी जीवन बिताने की सलाह देने श्रीनाथ कवि आये थे तो पोतना का आत्मसम्मान ठेस खा चुका था, इतना ही नहीं उसकी काव्य-कन्या भीगे नेत्रों से खड़ी होकर भयभीत होने लगी कि अब पोतना भी दूसरे साधारण राजाओं के हाथों में मुझे अर्पित करने वाले हैं, तब पोतना बाँह उठाकर प्रतिज्ञा करके काव्य-कन्या को यों ढाढस बाँधते हैं–

काटुक कंटिनीरू चनुकट्टु पायिंबड नेलयेह्चेदो
कैटम दैतय मर्दनुनि गादिल कोडल, योमदंब, यो
हाटक गर्भुराणि, निनु नाकटिकिंगोनिपोयि यल्ल कर्नाट
किराट कीचकुल कम्म त्रिशुद्धिधमग नम्मु भारती।

(हे भारत! अश्रुधारा से छाती को भिगोते हुए क्यों विलाप करती हो, त्रिकरण शुद्धि से विश्वास करो कि मैं तुम्हें लेकर कर्नाटक कीचकों के हाथ में धन के लोभ में पड़कर नहीं बेचूँगा।) सारांश यह है कि वैयक्तिक जीवन में उच्च आदर्श तथा काव्य-जगत में ऐसा अनुपम प्रतिमा का मणि-कांचन संयोग अन्यत्र विरले ही पाया जाता है। अतः आज भी तेलुगुभाषी भक्ताग्रेसर महाकवि पोतना का नाम सुनते ही श्रद्धा और आनन्द से पुलकित हो जाते हैं और डॉ० दक्षिणामूर्ति जी के शब्दों में–तेलुगु में भागवत की रचना करना पोतनाजी तो अपना सौभाग्य मानते हैं, यह पोतना ही का सौभाग्य नहीं है, आन्ध्र की जनता का भी सौभाग्य है। इस दिशा में भी अर्थात् स्थिति तथा प्रवृत्ति के क्षेत्र में भी सूरदास और पोतना के बीच में अपूर्ण साम्य परिलक्षित होता है; क्योंकि जैसे श्रद्धेय

लाला भगवानदीन 'दीन' के शब्दों में सूरदास जी भी प्रकृति की गोद में पले थे। बचपन से कुशाग्रबुद्धि तो थे ही, प्रतिभा की भी उनमें कमी नहीं थी। प्रतिभा के विकास के लिए सर्वप्रधान कारण है, शारीरिक और मानसिक स्वतन्त्रता। सूरदास जी भगवद्भक्त थे और भगवान् के अतिरिक्त अपने को किसी का आश्रित समझते ही नहीं थे, वे निश्चिन्त थे, निर्द्वन्द्व थे, भगवान् ही उनके सब कुछ थे, भय उनको किसी का भी नहीं था। पोतना तत्कालीन राजा-महाराजाओं की भर्त्सना कर सके थे तो इसी निर्भीक प्रवृत्ति के कारण। यही कारण है कि सूरदास तथा पोतना की कविता में ऐसी संजीवनी शक्ति पायी जाती है जिसका हिन्दी तथा तेलुगु पाठकों पर प्रचुर प्रभाव पड़ा है। उनकी कविता पढ़ते ही, कोई भी भावुक गद्गद् हुए बिना नहीं रह सकता। इसी कारण दोनों कवियों का साहित्य कालजयी सिद्ध हुआ है। यद्यपि आज का समाज नवीनता तड़क-भड़क और तात्कालिक मनोरंजन के पीछे पड़ गया है, फिर भी सूरदास और पोतना के पद कानों में पड़ते ही उनका तन-मन झट उस ओर आकर्षित हो जाता है। आज भी तेलुगु के ग्रामीण प्रान्तों में यहाँ तक चरवाहे भी, पोतना के कुछ छन्दों को गुनगुनाते पाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों कवि समान रूप से लोकप्रिय और अमर भक्तकवि प्रमाणित हुए हैं। दोनों की रचनाओं में कवियों का यह विशिष्ट व्यक्तित्व झलकता रहता है। विनय, बालकृष्ण, भ्रमरगीत आदि के मार्मिक प्रसंगों में सूर की विनय भावना, भक्ति-विह्वलता तथा अनन्य प्रीति-भावना मूर्तरूप धारण कर चुकी है तो बालकृंष्ण, 'गजेन्द्र-मोक्ष', प्रह्लाद चरित, वामन चरित, अंबरीषोपाख्यान, सुदामा चरित आदि प्रसंगों में पोतना की सृष्टि- प्रतिभा, भक्ति-भावना आदि पूर्णरूपेण रमती परिलक्षित होती है। पोतना की अनन्य भक्ति भावना की बानगी देखें—

नीपाद कमल सेवयु
नीपादार्चकुलतोडि नेय्यमुने नितां
तापार भूतदय युनु
दापस मंदार नाकु दय सेयंगदे

(हे करुणाकर! अपने चरण-कमलों की सेवा, भागवत-भक्तों का संग तथा भूत-दया मुझे प्रदान करें।)

''करुणाकरन दयालु दयानिधि निज भय दी हरें
यहि कलिकाल व्यालमुख सूर सरन उतरै''

कहकर सूरदास जी अपनी दैन्य भावना व्यक्त करते हुए भगवान से करुणा की भीख माँगते हैं।

जब जब भीर परी भगतन पै चक्र सुदरसन तडौ संभार्‌यो
करी कृपा प्रह्लाद भगत पै खंभ-फारि उर नखन बिदार्‌यो
ग्राहग्रसित गज को जल बूड़त नामलेत तरतै टार्‌यो

इस पद को पढ़ते ही तेलुगु पाठकों को अंबरीषोपाख्यान, प्रह्लाद चरित्र तथा गजेन्द्रमोक्ष आदि आन्ध्र भागवत के कथा-प्रसंग तुरन्त स्मरण आ जाते हैं। अन्तर तो इतना ही है कि गीतकार सूरदास ने एक पद में सभी प्रसंगों का स्मरण करके भगवान की भक्तवत्सलता पर प्रकाश डाला है तो पोतना ने इन प्रसंगों को श्रीमद्‌भागवत के आधार पर सरस, सरल एवं प्रांजल तेलुगु भाषा में कथाओं के रूप में प्रस्तुत किया है। तेलुगु प्रान्त में पोतना के ये कथा-वर्णन बच्चों से लेकर बूढ़ों तक अधिक चाव के साथ कंठाग्र करके गुनगुनाते अनजाने ही पोतना की भक्ति-भावना के रंग में रँग जाते हैं।

इसी प्रकार के और कई प्रसंग दोनों कवियों की काव्य-चेतना की मार्मिकता से अवगत होने के लिए उदधृत किये जा सकते हैं।

जैसे शुक्ल जी मानते हैं, बाल्य-काल और यौवन-काल के बीच की भी नाना मनोरम परिस्थितियों के विश्व-चित्रण द्वारा सूरदास ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी, उससे गिरे हुए हृदय नाच उठे। वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्‌घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आये। जिसने विस्तृत विशद् रूप में बाल्य-जीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं

किया। आपने भी सूरदास के समान कृष्ण के जन्मोत्सव, अवस्था के विकास के साथ-साथ बालकों की जो सहज-स्वाभाविक लीलाएँ हुआ करती हैं उनका भी विशद् एवं प्रभावात्मक वर्णन किया। जब गोपिकाओं के कानों में श्रीकृष्ण-जन्म का शुभ समाचार पड़ता है तो वे आनन्द विभोर होकर कहती हैं—

''एमि नोमु फुलमो इंत प्रोद्दोकवार्त
विंदि मबललार वीनुललर,
मन यशोदा चिन्न भगवानिनट,
चूचि वत्तभम्म सुदतुलार।।''

पता नहीं, हमने कैसा सुकृत किया था कि सबेरे होते-होते ही श्रवण-सुखद समाचार सुना है। चलो, देखें कि यशोदा ने छोटे बच्चे को जन्म दिया है और वहाँ नन्हे शिशु के सिर पर नोन-तेल लगाकर हल्दी का लेपन कर स्नान करवाती और पालने में सुलाकर आशीष के स्वरों में कैसी मधुर लोरियाँ गाती हैं—

जो जो कमल दलेक्ष्ण,
जो जो मृगराज मध्य जो जो कृष्णा,
जो जो पल्लव कर पद
जो जो पूर्णेन्दुवदन जो जो चनुचुनु—

कमल पंखुरियों के समान नेत्र वाले हैं कृष्ण, सो जा, मृग-राज मध्य श्रीविग्रह कृष्ण, कोमल कोंपलें के से चरणों वाला, पूर्णेन्दु वदन हे कृष्ण! सो जाना! -इस प्रकार सूरदास की काव्य-चेतना भी पालने में झूलते बालकृष्ण को देखकर जागृत हो उठती है। सूरदास लिखते हैं—

जसोदा हरि पालने झुलावै,
हलरावै, दुलराइ, मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै
मेरे लला को आउ निंदरिया, काहे न आनि सुबावै।।

सूरदास जी की गोपिकायें भी पोतना की गोपिकाओं के समान कृष्ण-जन्म की वार्ता सुनकर अतीव प्रसन्नता का अनुभव करती और

यशोदा के द्वार पर भीड़ की भीड़ जमा हो जाती–

हौं एक बात नयी सुनि आई।
महरि जसोदा ढोटा जायौ घर घर होत बधाई,
द्वारे भीर गोप गोपिन की महिमा बरनि न आई।
अति अनंद होत गोकुल में रतन भूमि तब छाई
नाचन तरन वृद्ध, अरु बालक में रतन भूमि तब छाई
नाचन तरन वृद्ध, अरु बालक गोरस कीच मचाई।

तात्पर्य यह है कि दोनों भक्त कवि एक समान अपने इष्टदेव की लीलाओं का वर्णन करने में रम गये और भक्तों को भी वात्सल्य रस में आप्लावित करने में सफल हुए हैं।

सूरसागर तथा आन्ध्र महाभागवत में तो प्रधानत: श्रीकृष्ण के दो रूप वर्णित हैं–मानव रूप तथा अवतार रूप। आलोच्य कवि-युग्म कृष्ण के दोनों रूपों का भव्य तथा मनोहारी चित्रण प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। बालकृष्ण की लीलाओं के वर्णन में तो दोनों कवियों ने अनुपम प्रतिभा का प्रदर्शन किया था। दोनों का बालकृष्ण चित्रण में अपूर्व साम्य भी परिलक्षित होता है। जिस प्रकार सूरदास ने बाललीलाओं के वर्णन करते समय बचपन की सभी अवस्थाओं का ध्यान रखा था वैसे ही पोतना ने भी सूर तथा पोतना दोनों की गोपियाँ कृष्ण के जन्म की वार्ता सुन समान रूप से प्रसन्न हैं और धीरे-धीरे जब उनके दैनिक जीवन में कृष्ण का प्रवेश होता गया तो वे किसी-न-किसी बहाने यशोदा के घर जाया करती हैं और नन्द-यशोदा के भाग्य की प्रशंसा करतीं। लेकिन जब कृष्ण बड़ा होता है और माखनचोर बनता है तब सूरसागर तथा आन्ध्र महाभागवत की गोपियाँ एक समान परेशान होकर उसके विरुद्ध यशोदा से शिकायत करती हैं–

पोतना की गोपियाँ कहती हैं–

ओयम्म नीकुमारुडु
माइंइलनु पालु-वेरुगु मन

नीछम्मा, पोवेद मेच्चटिकैननु
या यन्नल सुरभुलान मंजुलवाणी-

(हे मंजुलवाणी यशोदा, तेरा बेटा कृष्ण हमारे घर में दूध-दही रखने नहीं देता। सुनो, हम कहीं दूसरे गाँव में जाने वाली हैं।) ठीक सूर की गोपियाँ भी इसी प्रकार की शिकायत लेकर यशोदा के घर आती हैं–

जसोदा कहा लौं कीजे कानि।
बिन-पति कैसे सही जाति है दूध दही की हानि।
अपने या बालक की करनी जो तुम देखो आनि।
गोरस, खाइ ढूँढ़ि सब वासन भली करी यह बानि।
मैं अपने मंदिर के कोने माखन राख्यो जानि।
सोई जाइ तिहारे लरिका लीनो है पहिचानि।
बूझी ग्वालिनि घर में आयो नेकु न संका मानी।
'सूर' श्याम यह उतर बनायौ, चींटी काढ़त पानी।

इसी प्रकार गोपियों के मन में कृष्ण के प्रति स्वाभाविक प्रीति बढ़ने लगी और उसकी मुरली के मधुर तान पर वे मंत्रमुग्ध होती हैं। इस तथ्य का भी दोनों कवियों ने विशद् तथा मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। शरद ऋतु की एक रात में कृष्ण का मुरलीनाद सुनकर गोपियाँ जिस प्रकार उनके सान्निध्य में अवश्य ही चली जाती हैं। इसका भी स्वाभाविक एवं मार्मिक वर्णन पोतना एवं सूर ने समान रूप से किया था।

श्रीकृष्ण रसिक शिरोमणि हैं और उन्होंने नाना प्रकार की रास-क्रीड़ाएँ खेलीं। इसका चित्ताकर्षक वर्णन तेलुगु और हिन्दी साहित्य में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इसके उपरान्त अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण गोपियों को जो वियोग-वेदना को सहना पड़ता है, इसका भी मनमोहक वर्णन दोनों साहित्यों में उपलब्ध हुआ है। और सूरदास कृष्ण को यत्र-तत्र लोकनायक के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। राक्षसी पूतना की हत्या, शकटासुर, तृणावर्त आदि असुरों का संहार, माता यशोदा को मुँह में ब्रह्माण्ड को दर्शित कराना, नन्द को वरुण-पाश

से मुक्त करना आदि घटनाएँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण की सभी अवस्थाओं एवं कथाओं का सूरदास और पोतना ने अत्यन्त प्रभावपूर्ण शैली में चित्रण किया था। यद्यपि दोनों के लिए कृष्ण-लीलाओं का चित्रण उनकी अपनी भक्ति-साधना के लिए माध्यम ही रहा हो फिर भी भावपक्ष एवं कलापक्ष-दोनों दृष्टियों से कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में दोनों की रचनायें अमूल्य काव्य निधियाँ हैं।

दोनों कवियों का प्रधान प्रेरणास्रोत श्रीमद्भागवत है। पोतना ने तो स्वयं स्वीकार कर लिया था कि उन्होंने रामचन्द्र की प्रेरणा से भागवत की तेलुगु में रचना की है। उनका कथन है—

पलिकेडिदि भागवतमट
पलिकिंचेडि विभुडु रामभुटुंटडट, ने
पलिकिन भवहर मगुनट
पलिलेइ बेरोंडुमाथ पलुकगनेला।।

(मैं जिसके बारे में बोलने वाला हूँ वह भागवत कथा है और उसकी प्रेरणा मुझे भगवान् रामचन्द्र से मिली है और कहा कि भागवत की रचना करने से भवबन्धनों से मुक्ति मिलेगी। अतः उस कथा को छोड़कर अन्य गाथाओं के बारे में सोचना क्यों?) इसी प्रेरणा और विश्वास के कारण भागवत के प्रत्येक प्रसंग में पोतना का अटल आत्मविश्वास, अनन्य भक्ति भावना, अद्भुत काव्य-सृष्टि तथा निर्भीक व्यक्तिगत स्पष्टतया झलक पड़ता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण पोतना के आन्ध्र महाभागवत मौलिक ग्रन्थ के समान ही तेलुगु पाठकों में समादृत हो चुका है।

हिन्दी में सूरदास जी को भी वल्लभाचार्य जी से प्रेरणा मिली थी। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में 'पुष्टि-सम्प्रदाय' में पहले दोनों कवियों के लिए श्रीमद्भागवत मूलस्रोत रहा था फिर भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि दोनों रस सिद्ध कवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में प्रतिभा एवं मौलिकता का यथेष्ट परिचय दिया था, दोनों की रचना का

प्रधान उद्देश्य भक्ति साधना और मानव कल्याण है और दोनों ने तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर भक्ति के स्वरूप की सुन्दर, सरल तथा सोदाहरण व्याख्या की है। हिन्दी और तेलुगु के कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में दोनों कवि इतने लोकप्रिय हुए हैं कि आगे का कृष्ण-काव्य इन दोनों की कृतियों की तुलना में साधारण-सा लगता है।

पोतना के पश्चात् भी तेलुगु साहित्य कृष्ण-काव्य परम्परा अविच्छिन्न रूप में चली थी परन्तु प्रसिद्धि और प्रभाव की दृष्टि से पोतना ही कृष्ण-काव्य के प्रतिनिधि कवि माने जा सकते हैं, जैसे हिन्दी में सूरदास। अत: परवर्ती कवियों के कृष्ण-काव्यों में किसी-न-किसी रूप में इन दोनों रससिद्ध कवियों की प्रभाव-रश्मि पायी जाती है।

तेलुगु में पोतना के महाभागवत से जो कवि प्रभावित हुए थे उनमें महिकि सिंगना एक हैं। आपने भागवत का द्विपद छन्द में प्रणयन किया था जिसमें मथुरा काण्ड, कल्याण काण्ड और जगद्भराम काण्ड उल्लेखनीय हैं। इसके पश्चात् पिल्ललमर्रि घिनवौ का 'जैमिनीभारत' उल्लेखनीय है जिसमें श्रीकृष्ण की महिमा का ही वर्णन है। वेन्नल सूरन ने तो संस्कृत विष्णु पुराण के आधार पर 16वीं शती में रसपूर्ण प्रसंगों का सरल वर्णन किया था। सप्तम तथा अष्टम अध्याय तो श्रीकृष्ण के वर्णन के कारण उल्लेख्य माने जा सकते हैं। यद्यपि कवि ने श्रीकृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में ग्रहण किया, परन्तु फिर भी कई मानव-सुलभ गुणों का समावेश भी किया। अत: तेलुगु कृष्ण-काव्य परम्परा में इसे भी सशक्त कुण्डी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसके पश्चात् राधा-माधव शीर्षक प्रबन्ध काव्य की गणना की जा सकती है। कवि थे वल्लभार्वण। इसमें कवि ने राधा को स्वकीया बनाने की सफल चेष्टा की थी और राधाकृष्ण पर आदर्श दाम्पत्य प्रेम का सरस वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया था।

सरस और सौन्दर्य-प्रेमी पति के रूप में प्रतिष्ठित कर तेलुगु कृष्ण-काव्य में लोकप्रिय कवि हुए हैं 'पारिजातापहरण' के प्रबन्धकार

नंदि तिम्मन्ना। आपका कृष्ण मानिनी एवं प्रिय पत्नी सत्यभामा को मनाने के लिए उसके पादताड़न भी सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। दाम्पत्य-जीवन को सरस और प्रेम को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रमाणित करने के लिए सूरदास के कृष्ण के समान नंदि तिम्मना के श्रीकृष्ण भी लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर देते हैं। इस प्रवृत्ति तथा चरित्रगत विशिष्टता के कारण तेलुगु कृष्ण-काव्य परम्परा में यह प्रबन्ध काव्य उत्तम स्थान रखता है। इसी समय का एक और प्रबन्ध काव्य है 'पाण्डुरंग-माहात्म्य' जिसमें गोवर्धन गिरिधारी और रास-क्रीड़ाकार के रूप में कृष्ण का मनोज्ञ वर्णन प्रस्तुत किया गया था। कवि हैं आन्ध्रों के अतिप्रिय कवि 'सेनालि रामकृष्ण' कवि ने कृष्ण के चरित्र-चित्रण में प्रादेशिक विशिष्टता और वैयक्तिक रुचि-रूपानों का सफल समावेश कराया था। अत: काव्य में कृष्ण के साथ कवि का व्यक्तिगत भी सर्वत्र प्रतिबिम्बित होता रहता है, जैसे सूरसागर का व्यक्तित्व।

संजावूर के राजाकृत पारिजातापहरण, गजेन्द्रमोक्ष तथा रुक्मिणी-कृष्ण विवाह शीर्षक काव्य उल्लेख्य है। इसी प्रकार विजयराघव नरेश के 'गोपीगीत' एवं 'भ्रमरगीत' खण्डकाव्य भी पठनीय कृष्णकाव्य हैं। कवयित्रियों में रंगाजम्मा और मुद्दुपलपि का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। संग्रह महाभागवत और 'राधिका-स्वांतनमु' उपर्युक्त दोनों कवत्रियों के विशिष्ट कृष्ण काव्य हैं। कवयित्री होने के कारण मुद्दुपलिनि जी को राधा के चरित्र-चित्रण में विशेष सफलता प्राप्त हुई थी। राधा को नन्द की बहिन (कृष्ण की मामी) के रूप में चित्रित कर राधा-कृष्ण के प्रणय-व्यापार में एक विचित्र गाथा के रूप में कवयित्री ने वर्णित किया। तेलुगु साहित्य में प्रबन्धकारों के समान कतिपय श्रेष्ठ गेयकार भी हुए हैं, जिनमें सर्वप्रथम ताल्लपाक अन्नमाचार्य जी का नाम उल्लेख्य है। आप बड़े भक्त एवं संगीतज्ञ थे। आपके पदों में भक्ति-भावना की महिमा का मनोज्ञ वर्णन उपलब्ध हुआ है। इसी प्रकार के सरस तथा लोकप्रिय आन्ध्र गेयकार हैं क्षेत्रय्या तथा त्यागराजस्वामी। क्षेत्रय्बाजी जयदेव के

गीतगोविन्द की शैली में शृंगार प्रधान पद रचे थे, जिनका लालित्य एवं मनोहारिता पढ़ते ही बनती है। इसमें वर्णित मधुर रूप सूर साहित्य का स्मरण सहज ही दिलाता है।

त्यागराज स्वामी तो कर्नाटक के संगीतत्रय में एक हैं। आप संगीत-ब्रह्म एवं राम के अनन्य भक्त के रूप में तेलुगु साहित्य में प्रतिष्ठित हो गये। आपके कतिपय पदों में श्रीकृष्ण की अवतार-लीला का चित्रण सम्पन्न हुआ है। इसी प्रकार तेलुगु में शतक-शैली, गेय-प्रबन्ध शैली, गद्य-गीत, दृश्य-काव्य आदि कई रूपों एवं दिशाओं में कृष्ण साहित्य की समृद्ध धारा सम्पन्न हुई है। हिन्दी और तेलुगु साहित्यों में उपलब्ध कृष्ण साहित्य का अध्ययन करने से विदित होगा कि सूर काव्य की चेतना को स्मरण दिलाने वाले कई श्रीकृष्ण के प्रसंग तेलुगु साहित्य में भरे पड़े हैं।

●●

केरल और मलयालम साहित्य और श्रीकृष्ण भाव

❀ डॉ० एन०ई० विश्वनाथ अय्यर

श्रीकृष्णजन्माष्टमी का उत्सव था। उत्सव के दिन शाम को तिरुअनंतपुरम् नगर के राजपथ से बड़ी भव्य शोभायात्रा निकली। करीब दो-तीन हजार बच्चों-युवकों की भीड़ थी। नन्हे-मुन्ने और कोमल किशोर-किशोरियाँ नन्दलाल, मित्रगण, सुदामा, बलराम, गोपियाँ, राधा और गोकुल के अन्य पात्रों की वेशभूषा धारण किये थे। कृष्णलीला के विविध प्रसंगों के निश्छल हृदय भी थे। बहुमत नन्हें बालगोपाल का पीला वसन, मोरपंख का मुकुट और हरी बाँसुरी लिये चल रहे थे। कभी हल्की और कभी जोर की वारिश से शायद प्रभु इन बच्चों की हिम्मत आजमा रहे थे। बच्चे तो बड़े जोश से नाम संकीर्तन करते आगे बढ़ते रहे। आर्थिक या वर्णगत उच्चनीचता ने इन्हें छुआ नहीं था। दर्शकगणों में बड़ी श्रद्धा थी। केरल की राजधानी तिरुअनंतपुरम् में 1981 का यह दृश्य प्रतीकात्मक भी है। वह इस प्रदेश की संस्कृति में कृष्ण भक्ति की चेतना के योग का इतिहास दिखा रहा था।

केरल में कृष्ण भक्ति की चेतना कब शुरू हुई? इसका ऐतिहासिक अनुसन्धान किसी निश्चत दिन या वर्ष तक हमें नहीं ले जाता। फिर भी कुछ सूचनाएँ तो मिलती हैं। केरल पहले चेरदेश कहलाता था। भारत के प्रमुख 109 वैष्णव मन्दिरों में तेरह चेर देश में थे। इन्हें 'मलैनाट्ड तिरुप्पतिकल' अभिहित किया गया है। इन मन्दिरों और देवताओं का वर्णन उनके नालायिरम दिव्य प्रबन्ध में 'नम्मावव्वार' नामक भक्त कवि ने किया है। इन मन्दिरों के स्थान हैं—तिरुवेण् परिशारं, तिरुवट्टार, तिरुअनंतपुरम्, विरुवारन्किला, तिरुचेंकुन्रूर, तिरुक्कटित्तानं

तिरुवल्लवाष, तिरुवन्वंडूर, तिरुप्पुलियूर, तृक्काक्करै, तिरुमूविक्कुलम, तिरुविन्तुवक्कोड और तिरुनावाय—इनमें दो वर्तमान तमिलनाडु में हैं। बाकी केरल ही में हैं। इनमें भी एकाध मन्दिरों में अन्य मूर्ति हैं। शेष विष्णु के। केरल में वैष्णव धर्म का कोई मठ या सम्प्रदाय नहीं बना था। प्राय: वैष्णव मन्दिर को कृष्ण मन्दिर-सा माना जाता है। चूँकि वैष्णव अवतारों में कथा, काव्य, नृत्य व उत्सव के माध्यम से कृष्ण ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इसलिए हर वैष्णव मन्दिर कृष्ण मन्दिर-सा है। हाँ, कुछ विष्णु मन्दिरों के अहाते में अलग से कृष्ण मन्दिर भी मिलता है।

केरल में औसतन हर नगर और बड़े गाँव में एक कृष्ण मन्दिर मिल सकता है। उत्तर भारत में ब्रजभूमि का जिस प्रकार कृष्ण लीला से सीधा सम्बन्ध था उसी प्रकार केरल के किसी स्थान से कृष्ण का सम्बन्ध जनश्रुति में भी नहीं है। यहाँ भक्तों पर कृष्ण की कृपा की कथाएँ मिल सकती हैं। अभी जो कृष्ण मन्दिर वाले स्थान केरल में हैं उनमें गुरुलायूर, तिरुनावाय, अंबलप्पुषा, मावेलिक्करा, नृच्चम्बरम, तिरुअनंतपुरम् आदि विख्यात हैं। गुरुवायूर वैसे श्रीकृष्ण का मन्दिर है। उस स्थान के नाम गुरुवायूर के पीछे देवता को गुरुवायूरप्पन (गुरुवायूर का प्रभु) पुकारते हैं। यहाँ प्रभु की झाँकी अधिकतर कृष्ण की लीलाओं के रूप में पाई जाती है। कृष्णावतार की मुख्य घटनाओं को उत्सव के रूप में यहाँ मनाया जाता है। कृष्णजन्माष्टमी का पर्व तो यहाँ धूमधाम से मनाते हैं। इस मन्दिर का एक मुख्य भोग 'सुदामा का चिड्डा' है। कृष्णनाट्टम नामक नृत्यनाट्य की महिमा भारत के चारों ओर व्याप्त है और भक्तगण हजारों की संख्या में यहाँ आया करते हैं।

अंबलप्पुषा का कृष्ण मन्दिर मलयालम साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध हो गया है। यहीं मलयालम नुक्कल् काव्यों का निर्माण तथा प्रथम प्रस्तुति हुई थी। यहाँ चेंपकक्कोरी नामक पुराने छोटे राज्य के प्रभु 'देवनारायण' के कुल देवता कृष्ण का मन्दिर है। सामान्यजन इस मन्दिर के भोग 'खीर' पर मोहित हैं और अभी तक वही खीर का मानक बना

हुआ है। तिरुनावाय प्राचीन केरलीय इतिहास में राजाओं के मामोक (महामख) मिलन के कारण प्रसिद्ध हुआ। यहाँ तिरुनावाय मुकुन्दमूर्ति है।

तिरुअनंतपुरम् वर्तमान केरल की राजधानी है। इसका नाम अनंतपुरी है और संस्कृत में अनंतशयनम् पुकारते थे। तिरुअनंतपुरम में श्रीपद्मनाभ मन्दिर काफी प्राचीन है। अनन्तशायी का अवतार श्रीकृष्ण भी हैं। किन्तु यहाँ विशाल अहाते में श्रीकृष्ण का अलग से मन्दिर भी है। आरन्मुला मध्य केरल का ग्राम है। यहाँ पार्थ सारथी की मूर्ति है। यों कृष्ण मन्दिरों की बड़ी संख्या केरल में प्राप्त हो सकती है।

केरल के पर्वों में ओणम सबसे प्रसिद्ध है। यह महाबलि की कथा से जुड़ा है और इस नाते वामनावतार का ओणम से सम्बन्ध है। तथापि श्रवण-नक्षत्र भगवान नारायण का जन्मदिन भी माना जाता है। इसलिए ओणम (श्रावण मास का श्रवण नक्षत्र) सारे वैष्णव मन्दिरों में कृष्ण मन्दिर में भी विशेष उत्सव के रूप में मनाया जाता है। तिरुओणम पर्व के सिलसिले में तिरुवारन्विला (आरन्मुला) के भगवान का नौकोत्सव सम्पन्न होता है।

कृष्ण जन्माष्टमी श्रीकृष्ण जयंती के नाम से धूमधाम से प्रत्येक कृष्ण मन्दिर एवं वैष्णव मन्दिर में भी मनाई जाती है। कीर्तन-भजन, गायन-नृत्य, तुक्कल आदि केरलीय सांस्कृतिक प्रस्तुतियों के साथ जन्माष्टमी का उत्सव चलाया जाता है। इस उत्सव के सिलसिले में कई नगरों व गाँवों में माखनचोरी की लीला का अभिनय भी किया जाता है। बालक और किशोर-किशोरियाँ गायन-नृत्य आदि में भाग लेते हैं। घर-घर पर भगवान का स्वागत किया जाता है।

मन्दिरों में चर्चा से हम जनता की ओर जब चलते हैं तब उनमें कृष्ण चेतना का प्रमाण प्रचुर मात्रा में पाते हैं। राजमहल से झोपड़ी तक सारे केरलीय हिन्दू समाज में श्रीकृष्ण और उनसे सम्बन्धित ब्रजवासी स्त्री-पुरुषों के नाम पाये जाते हैं। नागरिक पुरुष अपनी सन्तानों के नाम कृष्ण, बालकृष्ण, राधाकृष्ण, नन्दकुमार, गोपकुमार, नवनीतकृष्ण,

अण्णिकृष्ण, वासुदेव, श्याम, गोपालकृष्ण, मुरलीधर, पार्थसारथी, बलराम आदि रखते हैं तो कन्याओं के नाम राधा, देवकी, यशोदा, रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रखते हैं। ग्रामवासी नागरिक नामों के सद्भाव रूपों का प्रयोग करते हैं—कण्णन, किट्टन, किट्टु, उण्णिक्कुट्टन, कोवालन आदि। तेबू, एशोदा, रुक्कू आदि स्त्रियों के नाम होते हैं। श्रीकृष्ण मन्दिर के पास के स्थान का नामकरण तिरुअंपाटि किया जाता है। घरों का नाम तक 'अंपाटि' रखा जाता है।

केरल में श्रीकृष्ण कथा के प्रति श्रद्धा के फलस्वरूप भागवत पारायण की खासकर सप्ताह-पारायण की परम्परा भी है। इसके अलावा सन्ध्या समय मन्दिरों में आरती के समय भजन और नाम संकीर्तन की परम्परा है। इस प्रकार कथा श्रवण, कीर्तन, पर्व आदि से प्रत्येक केरलीय को किसी-न-किसी रूप में कृष्ण चेतना का ज्ञान प्राप्त होता है।

जो जन-जन के आराध्य हों, वे जनभाषा में वर्णित हों, वह बिल्कुल स्वाभाविक है। केरल की कृष्ण भक्ति उसके कृष्णपरक साहित्य में भी प्रकट हो सकी है। मलयालम साहित्य में कृष्ण कथा का संक्षिप्त परिचय देने के पहले निवेदन करना चाहता हूँ कि ब्रज-भाषा में जितना विस्तृत कृष्ण वाङ्मय मिलता है उतना मलयालम में नहीं मिलता। अगर मिलता है तो तमिल साहित्य के नालामिरम दिव्य प्रबन्ध में। आपको विदित ही होगा कि नालामिरम का सुन्दर अनुवाद परम वैष्णव और हिन्दी के विद्वान श्रीनिवास राघवन ने किया है। डॉ० रामसिंह तोमर जी ने विश्व भारती से यह प्रकाशित कराके कृष्ण भक्ति वाङ्मय की बड़ी सेवा की है। विश्वभारती का यह महाग्रन्थ वर्तमान मूल्य स्तर को देखते हुए सामान्य मूल्य का है। हिन्दी भक्तों को चाहिये कि उसकी प्रतियाँ अपने यहाँ मँगाकर उस प्रयास से उचित लाभ उठावें।

मलयालम साहित्य का उल्लेख जब हम करते हैं तब पहले उसका लोकसाहित्य हमें स्मरण आता है। लोककथा, लोकगीत—सबमें कृष्ण चर्चा है। लोकगीतों से विकसित 'पाट्टु' (गीत) नामक विधा

मलयालम के उपलब्ध साहित्य में सबसे प्राचीन है। पन्द्रहवीं सदी में कण्णश्श पणिक्कर द्वारा भगवद्गीता का अनुवाद तो हुआ था। अनुमानत: इसी शताब्दी का 'कृष्णप्फट्ड' (कृष्णगाथा) ही पूर्णरूप से कृष्णकाव्य और सूरदास का समकालीन काव्य तक कहा जा सकता है। इसके रचयिता चेरुरुश्शेरी नंपूतिरि ने भागवत दशम का कथानक कृष्णगाथा में प्रस्तुत किया। कहीं सीधे अनुवाद हैं तो कहीं भावानुवाद और कहीं सार। सरस कवि ने कहीं-कहीं केरलीयता का तत्त्व सम्भव रूप में जोड़ दिया है। इसकी भाषा सरल मधुर है और कविता धारावाही। इसलिए इतने वर्ष बाद भी कृष्णगाथा का आनन्द लिया जाता है। इसका परिचय देते हुए भूमिकाकार ने ठीक ही कहा है कि इस कवि ने महाभागवत की कथा का कमोवेश सूक्ष्म अनुकरण किया है। कथा व्याख्यान से भक्ति-प्रवाह की तरह कवित्व-रसिकता से भाव चमत्कार को भी लक्ष्य करके यह काव्य रचा गया है। भागवत के सारे स्वत-स्तोत्र और दार्शनिक विचार कृष्णगाथा में प्रस्तुत नहीं हो पाये हैं। तथापि रस-व्यंजना में कृष्णगाथा कहीं-कहीं भागवत को मात करती है। साहित्यिक-समीक्षकों की दृष्टि से इस काव्य के मनोरम प्रसंगों में बाललीला, गोपिका प्रसंग, सुभद्राहरण, रुक्मिणी स्वयंवर आदि साहित्यिक सौन्दर्य के अच्छे उदाहरण हैं। यद्यपि इन सबमें सरसता है तो भी कृष्णगाथा का बाललीला प्रसंग विशेष मधुर है और केरलीयों का मन हर लिया है। कृष्ण गाथाकार ने छोटी अर्द्धालियों में सरल भाषा एवं मोहक शब्दों का प्रयोग करते हुए अनेक शब्द-चित्र प्रस्तुत किये हैं। कृष्ण की बाललीलाओं के प्रसंग में मानवीय लीला का वर्णन है। उसमें त्रिवेणी में सरस्वती की धारा की तरह ईश्वरीयता की अन्तर्धारा भी सूचित होती है। सूर प्रतिपल इसका स्मरण करते हैं। किन्तु चेरुश्शेरी मानवीय लीला विनोद के पक्ष पर अधिक जोर देते हैं।

कृष्ण की बाललीला विनोद-व्यंग्य का भण्डार रही। इस पर नंपूतिरि कवि चेरुश्शेरी की सहज व्यंग्यप्रियता भी थी। इसके कई प्रसंग

मिलते हैं। एक है माखनचोरी का। मलयालम की प्राचीन कविता की झलक दिखाने के लिए मैं इस प्रसंग की चार-पाँच पंक्तियाँ सुनाकर भाव सुनाऊँगा।

स्नानत्ते चेयतु नीयागमिप्पोळनु
पालिच्चेननल्लोयि पाल् वेण्ण त्रान्
इ ङ नेयुळळनिक्कैतुमे ताराते
एंङु नी पोकुन्नूतेन्नम्मे! चोल्
कळ्ळनायुळ्ळोरु काकन्तान् वन्निट्टेन्
कैयिले वेण्णये कोण्डुपोयी

कन्हैया यशोदा माँ से कहता है—''ओ माँ! तुम स्नान करने गईं तो बहुत देर बाद लौटी हो। इतनी देर तक मैंने इस दूध-माखन का पहरा दिया तो उसके लिए कुछ भी दिये बिना जा रही हो! यह कहाँ तक उचित है।'' इतना कहकर लाल अपना होंठ बिचकाता है तो माँ उसकी कोमल दायीं हथेली पर मक्खन रख देती हैं। मक्खन देख चाँदनी को मात करती हँसी कृष्ण के गाल पर खिलती है। वह बोलता है—''हाय! माँ! जब तुम एक हथेली पर मक्खन रखती हो तब दूसरी हथेली रो उठती है। तुम बलदाऊ को जब मक्खन देती हो तब मैं रो उठता हूँ न? उसी तरह।'' हँसती हुई माँ फिर से मक्खन लाने भीतर चली जाती हैं। उसके मुड़ते ही गोपाल हथेली का मक्खन मुँह में डालकर रोने लगता है—''हाय! हाय! कौवा मक्खन लेकर उड़ गया।'' यह सुन यशोदा जोर से हँस पड़ती हैं और अधिक मात्रा में मक्खन लाकर लाल की दोनों हथेलियों में रखती हैं।

चेरुश्शेरी ने अपने काव्य के विषय में कहा—''मैं अच्युत के सच्चरित्रों को अज्ञ लोगों के ज्ञान के लिए पुनराख्यान करता हूँ। मैं यह आशा नहीं करता कि सज्जन इसकी बड़ी तारीफ करेंगे। अगर वे इसकी निन्दा भी करें तो कोई नुकसान नहीं होगा। अनिन्द्य वस्तु की निन्दा सज्जन कभी नहीं करते।''

कृष्णगाथा के युग में छपाई या कागज तक केरल में नहीं रहा।

ग्रन्थ ताड़ के पत्तों पर लिखे जाते थे। ऐसी दशा में अनेक घरों में, खासकर उत्तर केरल के परिवारों में कृष्णगाथा की पाण्डुलिपि ताड़पत्र में मिलना इस ग्रन्थ की लोकप्रियता सूचित करता है। कृष्णगाथाकार ने अपने काव्य के अलावा कृष्ण की नामावली का स्तोत्र लिखा है।

मकर मुखायित कुंडलने हरि!
मुकुर मनोहर गण्डकने हरि!
महित महा मुनि वंदितने हरि!
मणियणमंडित सुंदरने हरि!
मणमेषुं मालकळ् पूण्डवने हरि!
मंजुलशिंजित नूपुरने हरि!'' आदि

चेरुश्शेरी के बाद तुंचन्तु रामानुजन एषुन्तच्छन का नाम युग प्रवर्तक कवि के रूप में प्रसिद्ध है। उन्होंने अध्यात्मरामायण, भारत और भागवत लिखे। इनमें प्रथम दो ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं। भारत में भागवत के प्रसंग पर जो कृष्णवर्णन है वह शब्द-चित्र और बिम्बकल्पना की दृष्टि से तथा धारावाही शब्दयोजना से प्रसिद्ध है। एषुन्तच्छन ने भगवान के नाम स्मरण किये थे। भक्ति साहित्य में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा।

एषुन्तच्छन के समकालीन माने गये मेल्पन्तूर का नाम है। वे गुरुवायूर के देवता के भक्तोत्तम थे। उनकी सबसे प्रसिद्ध रचना नारायणीयम है। इनकी भाषा संस्कृत है। फिर भी केरलीय कृष्ण काव्य की चर्चा में इसका उल्लेख अनिवार्य है। नारायणीयम में दस-ग्यारह पद्य वाले सौ दशक हैं। इनमें भागवत का सार-रसायन भरा है। इसका हर दशक अनुपम है। फिर भी कृष्णलीला के दशक अधिक भावपूर्ण हैं। इस काव्य के दो प्रसंग उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं। एक कालियमर्दन का—

अथ दिक्षु विदिक्षु परिक्षुभित भ्रमितोदरवारि निनाद भरैः
उदवाडुडगादुरगाधिपतिस्त्वदुपान्तमशांतरुषांधमनाः।।
अधिसह्य ततः फणिराजफणान् ननृते भवना मृदुपादरुचा।
कलाशिणिलनूपुरमंजुमिलत्करकंकणसंकुलसंक्कणितम्।

दूसरा प्रसंग रासलीला का—

केशपाशंधृतपिंधिकावितनि संचलन्मकरकुंडलं
हारजालवनमालिकाकलितमंगरागधनसौरभम्
पीनचेलधृतकांचिकांचितमुदंचदंशुमणिनूपुरम्
शसकेलिपरिभूषितं नव हि रूपमीश कलयाम है।
वेणुनादकृततानदान कलगानरागगतियायोजना-
लोभनीय मृदुपादपातकृततालमेलन मनोहरं।
पाणिसंकवणितकंकणं च मुहुरंसलवितकरांबुजं
श्रोणिबिंबचलदंबरं भजत रासकेलिरसडंबरम्।।

नारायणभट्टनिरि के मित्र पून्तानम नंपूतिरि महान भक्त थे। उनकी रचनाएँ मलयालम में थीं। 'ज्ञनप्पना', सन्तानगोपालं, कृष्णकर्णामृत का अनुवाद तथा नूट्टेटटु हरि हैं। ये केरल में बड़े लोकप्रिय हैं।

मलयालम साहित्य में लोकप्रिय कृष्णकाव्य के प्रस्तोता कुंचन नंपियार थे। वही राम पाणिवाद भी पुकारे जाते थे। विद्वानों में मतभेद है कि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं या नहीं। नंपियार ने बारह सर्गों का कृष्णचरितं मणित्रवालकाव्य लिखा। तत्सम व द्राविड शब्दों की सम्मिलित शैली को मणित्रवाल पुकारा जाता है। इस काव्य की विशेषता इसकी लोकप्रियता है। गत पीढ़ी तक के सारे शिक्षित केरलीय श्रीकृष्ण चरितम् के पद्य याद करते थे। स्कूलों के पाठ्यग्रन्थों में इस काव्य के पद्य दिये जाते थे। इस काव्य के दो पद्य उद्धृत करूँ। रोहिणी के बालक जन्म के प्रसंग से—

रोहिणी तदनु मोहनीयगुणदेहकांतिमय चंद्रिका
मोहिताखिल चराचरं किल कुमारमाशु सुवुवे मुदा।
देहिकळ्कनिकुतूहलं मनसि रोहिणीसुतविलोकने
रोहिणीशवदनन मनोहर विलास मन्पोटुं विळङिनान्।।

कृष्णावतार का मंगलमुहूर्त—

कालोघमिट तिंङि विंङ बन भंगियेरुमिटिमिन्नलुं
मेळमनेटु जलधार मारिकळ,मेत्रयुं बहु मनोहरं

अर्धरात्रिसमयं सरागतं उदिच्चु चंद्रमहो तदा
सिद्चात्य चुरावलि स्तुतिकळध्दतं दिशि महोत्सवम्।।

प्राचीन मलयालम काव्यों की चर्चा में कथकलि और मुल्थ्लू नामक धाराओं का प्रसंग आता है। कथकलि का महत्व दो रूपों में है— साहित्य तथा नाटक। कृष्णभक्ति से कथकलि का सम्बन्ध कई प्रकार से है। एक तो यह कि कथकलि का विकास कृष्णनाट्टम नामक नाट्य-रूप से हुआ। यह कालिकट के राजा मानवेदन की रची 'कृष्णगीति' पर आधारित है। इसमें श्रीकृष्णावतार से लेकर स्वर्गारोहण तक की कथा आठ दिनों में विभाजित करके प्रस्तुत की जाती है। साहित्य की दृष्टि से यह संस्कृत में होने के कारण मलयालम साहित्य के छात्रों के लिए अधिक परिचित नहीं है। कला के रूप में इसकी चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है।

कथकलि से कृष्ण कथा का गहरा सम्बन्ध बना हुआ है। कथकल्लि के प्रत्येक मंच प्रयोग में नान्दी की तरह 'पुरप्पाट' नामक अंक होता है। पुरप्पाट का शब्दार्थ है प्रवेश। कथावस्तु कोई भी हो, पुरप्पाट में राधाकृष्ण की युगलमूर्ति का प्रवेश होता है। इस प्रसंग के लिए जयदेव के गीतगोविन्द का एक विशेष पद ही परम्परा से रूढ़ है—

मंजुतर कुंजतल केलिसदने
इह विलस रतिरभस हसिनवदने
प्रवशि राधे माधवसमीपं वाला

आश्चर्य की बात है कि उत्कल के कविश्रेष्ठ जयदेव का गीतगोविन्द शताब्दियों पहले ही केरल के मन्दिरों में पहुँच गया। वह अब भी ढक्के की संगत में केरलीय संगीत की सोपान शैली में मन्दिर में गर्भगृह के बाहर खड़े गायक-वादन से गाया जाता है। प्रभाती आरती व कहीं-कहीं शाम की आरती के समय भी यह गाया जाता है। इस प्रकार कथकलि के संगीत का कृष्णभक्ति से सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

कथकलि काव्यों में अनेक कृष्ण कथापरक हैं। पूतनामोक्ष,

कंसवध, केचुलवृत्त, रुक्मिणी स्वयंवर, पारिजात पुष्पाहरण आदि ऐसे ही कथकलि काव्य हैं। महाभारत सम्बन्धी कथाओं पर आश्रित कथकलि काव्यों में भी श्रीकृष्ण की भूमिका होती है। कथकलि के कृष्ण की वेशभूषा विशेष हृदयहारी है। वैसे कथकलि के सभी पात्रों की परम्परागत वेशभूषा आकर्षक होती है। मगर श्रीकृष्ण की वेशभूषा की सुन्दरता न्यारी है। मोरपंख का मुकुट, नीली पोशाक, रंगीन वस्त्र-मालाएँ, कटक-केयूर आदि मनमोहक हैं। श्रीकृष्ण की भूमिका के लिए प्रसिद्ध कुछ कथकलि अभिनेता भी हुए हैं। इनमें प्रमुख थे मांकुलम विष्णु नंपूतिरि।

कथकलि के बाद तुळ्ळक का युग आता है। यह भी साहित्य होने के साथ-साथ अभिनेय रूप है। श्रीकृष्णपरक तुळ्ळल काव्यों में स्यमंतकम, रुक्मिणी स्वयंवरम्, गोवर्धनचरितं, सन्तानगोपालम, कालियमर्दनम आदि प्रसिद्ध हैं। इन तुळ्ळल की भाषा जनसाधारण की थी। कई मनोरंजक केरलीय तत्व भी जोड़े जाते थे। गीत, ताल, नृत्य आदि के संयोग से यह प्रभावशाली काव्य रूप हजारों ग्रामवासियों को आकर्षित करता आया है।

केरल की अन्य परम्परागत 'क्न्तु' धारा भी कृष्ण कथा का आख्यान करने से धन्यता प्राप्त करती रही है। यह गद्यपद्यमय रूप कथाख्यान है। इसके कथावाचक वाग्विदग्ध होते हैं। पुराण कथा के बीच में व्यंग्य-हास्य का पुट जोड़ते हुए ये श्रोताओं के हृदयों को मुग्ध करते आये हैं। इनका आधार ग्रन्थ संस्कृत में लिखा 'प्रबन्धम्' विधा का होता है।

प्राचीन साहित्य-युग से आधुनिक युग तक आते-आते बीच में निकला सरस मलयालम खण्डकाव्य 'कुचेलवृत्तं' मलयालम कृष्ण-काव्य के अंग के रूप में स्मरणीय है। इसके रचयिता श्री रामपुरं वारियर थे। सुदामा 'कुचेल' नाम से केरल में प्रसिद्ध है। यह काव्य केरल की प्रसिद्ध लोकधुन वंचिप्पाटटु (नौकागीत) में लिखा है। इसकी कथा

वैसी भी रोचक है। इसकी धुन, भाषा, कथा-विन्यास आदि सभी बड़े मनोहारी निकले हैं। अतएव अभी तक इसके कई अंश अधिकांश शिक्षित केरलीयों को हृदिस्थ रहे हैं। कुचेलवृत्तं की सफलता के फलस्वरूप कई कवियों ने उस छन्द को अपनी अनेक कविताओं के लिए स्वीकार किया।

आधुनिक युग तक आते-आते अन्य सभी भारतीय भाषाओं की तरह लय, सुर के साहित्य का भी परिवेश सामाजिक हो जाता है। फिर भी कई आधुनिक काव्यों ने सांस्कृतिक परम्परा के कारण कृष्ण जीवन के कई प्रसंगों को काव्य-विषय बनाया है। राधा व कृष्ण के प्रेम की कथा सनातन और प्रतीकात्मक दोनों हैं। नवजागरण-युग के कवियों ने पौराणिक कथाओं को सामाजिक, राजनैतिक आदि प्रसंगों के लिए रोचक बना लिया है। जैसे वल्लत्तोल ने कालियदमन की कविता कांग्रेस के शासन में प्रवेश के प्रसंग पर लिखी। कवि का उपदेश था कि देश प्रेमियो! ब्रिटिश के कालिय के मुँह में न पड़ना!

कृष्ण कथा पर बिना प्रतीकात्मक के भक्तिपूर्ण साहित्य लिखने वाले भी कई हैं। कुट्टमन्तु कुरूप का छोटा नाटक 'बालगोपालन' अपने दिनों में बालकों द्वारा अभिनीत नाटक था। प्रायः सभी प्रतिष्ठित कवि कृष्ण पर कविता लिखते रहे हैं क्योंकि जो सहृदय हो वह नन्दलाल व राधा पर लिखे बिना कैसे रहे। पी. कुंजिरामन नायर की अक्कित्तम आदि कविताओं में कृष्णपरक रचनाएँ मिलती हैं।

शुद्ध कृष्णभक्त कवियों में औट्टूर उण्णिनेपूतिरिप्पाड का नाम सबसे मुख्य है। ये भक्तवर अब चौरासी वर्ष के हैं। अब भी इनकी लेखनी से भक्तिभरे छन्द निकलते रहते हैं। इन्होंने जीवनभर श्रीकृष्णस्तोत्रपरक रचनाएँ लिखी हैं। इन्हें प्राचीन कृष्ण भक्त कवियों की अंतिम कड़ी तक कहा जा सकता है। इनकी एक कविता उदाहरणार्थ उद्धृत है—

''मेरी अभिलाषा''
अगर मुझे फिर से मानव जन्म मिले तो
प्रशस्त गोकुल की पुण्य-भू में जन्म पाऊँ!
वहाँ नन्दलाल मक्खन-दूध चुराने और
गाय बछड़ों को चुगाने
जब पधारें तब
मैं उनके साथ छाया की तरह चल सकूँ!
X
यदि मुझे पत्थर का जन्म मिले तो
अच्युत का मोहन मुरली गीत सुनूँ
(जिसे शिवजी भी सुनने को अधीर है)
गीत सुनता मोद में आर्द्र व लीन हो
गलती शिला हो जाऊँ।

ये पंक्तियाँ सुनते समय अगर रसखान की प्रसिद्ध पंक्ति-''मानुस हौं तो वही रसखान'' सवैया याद आता है तो कोई अचरज नहीं।

मलयालम में इधर कविवर श्री वी.ए. केशवन नंपूतिरि ने बालकों के योग्य छन्दों में 'कृष्णकथा' नामक खण्डकाव्य लिखा है जिसकी सरलता व मधुरता सराही जाती है।

केरल के युवा समाज में एक नयी धार्मिक प्रवृत्ति उदय हुई है। कृष्ण कथा से प्रेम और नाम संकीर्तन में रुचि इसके अंग बने हैं। स्वामी चिन्मयानन्द, स्वामी अभेदानन्द आदि ज्ञानी सन्तों के भाषण, उनके मठों का संकीर्तन आदि लोकप्रिय हो गये हैं। इसी पृष्ठभूमि में केरल के ट्रिवेंड्रूस जैसे नगर में हरेकृष्ण वालों का मठ तक स्थापित हो सका है।

अपने लेख की समाप्ति मैं केरल की वर्तमान प्रसिद्ध कवयित्री सुगतकुमारी की एक सुन्दर कविता की कुछ पंक्तियों से करना चाहता हूँ। सुगतकुमारी भारतीय संस्कृति का समर्थन करती हैं। उनके काव्य की अन्य प्रवृत्तियों का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक नहीं है। उन्होंने जो कृष्णपरक

कविताएँ लिखी हैं उनमें एक भावपूर्ण कविता निम्न है– ''कृष्णा नी एन्ने अरियिल्ला (कृष्ण, तुम मुझे नहीं जानते)

कृष्णा नी एन्नेधरियिल्ला
इविटेयंपाटि तन्नोरुकोणिन्नरिय मण्-
कुटिलिल् त्रान् मेवुमोरु पावं
कृष्णा, नी एन्ने अरियिल्ला

- - - -

निन्हे कुपल्-पोरू वसंतमाय्'' एन्नेन्हे
अन्तरंगत्तिलल चेक्कर्केंट
त्रानेंटे पाव्क्कुटिलच्चु तवुतिट्टिरु
आनन्दबाष्पं पोविच्चू
आरोरुमरियाते निन्नेयेन्नुळ्ळल् वे..
च्चात्मावु कूहियर्चिच्चू....

अरियिल्ल एन्ने नीयेंकिलुं निन्रथं
एन्टे कुटिलिन्नु मुन्निल्, कृष्ण
ओरु मात्र निल्क्कुन्नु!
कण्णीर निरंओरा
मिषिकळन् नेक्कर्क्कु चायुन्नु!
करुणमिलाके तळन्नोंरा दिव्यमां
स्मितमेनिक्कायि नल्कुन्नू!
कृष्णा! नीयरियुमो एन्ने!
कृष्णा! नीयरियुमो एन्ने!

भाव–

यहाँ गोकुल के कोने में कच्ची मिट्टी की झोंपड़ी में रहती मैं एक बेचारी औरत हूँ। कृष्ण! तुम मुझे नहीं जानते।

तुम्हारी बाँसुरी जब बोली—''आओ! वसंत आ गया'' तब मेरा मन लहरा उठा।

मैंने अपनी झोंपड़ी के पट बन्द करके
आनन्द के आँसू बहाये!

किसी के जाने बिना मैंने अपनी आत्मा के अन्दर तुम्हारी प्रतिष्ठा की पूजा की।

तुम मुझे नहीं जानते। फिर भी तुम्हारा रथ मेरी झोंपड़ी के सामने रुक गया। कृष्ण! एक क्षण रुक गया। वे अश्रुभरे नयन मेरी तरफ झुके।

तुम करुणापूर्ण दिव्य मन्दहास
मुझे प्रदान करते हो।
कृष्ण! क्या तुम मुझे जानते हो?
कृष्ण! क्या तुम मुझे जानते हो?

●●

तमिल के राष्ट्रकवि भारती और श्रीकृष्ण

❀ डॉ० डी० श्रीनिवास वरदन्

नूतन जलधर रुचये
गोपवधूटी टुकूल चौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः
संसार महीरहस्य बीजाय।[1]

सुब्रह्मण्य भारती ने 39 वर्ष की अपनी अल्पायु में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इनकी पद्य रचनाओं को चार वृहत् भागों में विभक्त किया जाता है—

1. राष्ट्रीय गीत (देशीय गीतंगळ) जिसमें छह उपभाग हैं।
2. दैवीय गीत (दैवप्पाडलगळ) जिसमें दो उपभाग हैं।
3. विविध गीत (पलवगै-प्याडल्गळ) जिसमें छह उपभाग हैं।
4. तीन बृहत् गीत (मुप्परूपाडल्कळ) जिसमें तीन उपभाग हैं।

इनमें दैवीय गीत के स्तोत्र गीत (तोत्तिरप्पाडल्गळ) उपभाग में कवि ने बारह शीर्षकों में कृष्ण विषयक गीतों की रचना की है। तीन बृहत् गीतों में एक कृष्णगीत है, जिसमें तेईस भिन्न-भिन्न शीर्षकों में कृष्ण विषयक गीत रचे गए हैं। इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या भी की है। अन्य अनेक स्थलों में भी श्रीकृष्ण का उल्लेख है। अतः स्पष्ट है कि भारती के दैवीयगीतों में कृष्ण विषयक गीतों की संख्या अधिक है।

कृष्णगीत (कण्णन् पाटुटु)

1. **कृष्ण मेरे सखा (कण्णन् ऐन तोळन्)**

भारती ने कृष्ण को अनेक रूपों में देखा है—जैसे मित्र, माता,

पिता, सेवक, राजा, शिष्य, गुरु, पुत्री, नटखट बालक, प्रियतम एवं प्रेयसी। इस गीत में कवि का कथन है कि कृष्ण हमें सभी लाभ पहुँचाते हैं, जो सच्चे मित्रों से प्राप्त हो सकते हैं। कविता के प्रारम्भ में यह वर्णन है कि कृष्ण ने अपने मित्र अर्जुन को अपनी भगिनी सुभद्रा को पाने के लिए एक ही क्षण में क्या-क्या सुझाव दिये थे। साथ ही साथ इसमें उसके साथ तीर्थयात्रा करना, विविध कथाएँ सुनाना, उसका सारथी बनना आदि। तत्पश्चात् कृष्ण के समस्त मानव कल्याण के लिए मित्र रूप में सहायता करने का वर्णन है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

''यदि कोई प्रवंचना से बात करता है
तो उसे वह थूक लेता है।''

वेद-ऋषियों के निवासी हैं, वह जिसने गीतोपदेश देकर हमारी रक्षा की है।[2] तिरुवळळ्वर के द्वारा प्रतिपादित मित्र के लक्षण भारती के कृष्ण पर चरितार्थ होते हैं। उन्होंने कहा—मुखस्तुति करना ही सन्मित्रता का लक्षण नहीं, अपितु हृदयाह्लादकारी ही सन्मित्र है।[3]

2. कृष्ण मेरी माता (कण्णन् ऐन् ताय्)

प्रस्तुत गीत में कवि कहते हैं कि नाम्नी माता हमारे लिए स्तनपान कराती है। यह रूपकात्मक वर्णन है। जीवन ही माता का वक्षस्थल है जिसका दुग्ध चेतनता है। उसे पीने के लिए हमारी कामना सदैव बनी रहती है। वह माता कृष्ण अपने आकाशरूपी वक्षस्थल से मुझे लगाती है, धरती उसकी गोद है, जहाँ बिठाकर मुझे वह कहानी सुनाती है, वह मुझे चाँद, मेघ जैसे खिलौने दिखाती है और स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ बनाकर देती है। वह ज्येष्ठ भ्राता अर्जुन के समान हमें बनाने का यत्न करती है।

3. कृष्ण मेरे पिता (कण्णन् ऐन् तंदै)

प्रस्तुत गीत में कवि का कथन है कि कृष्ण ने समस्त विश्व की सृष्टि की है। अर्थात् वही चराचर वस्तुओं का जनक है। उसकी आज्ञा से ही समस्त विश्व चलता रहा है। कृष्ण को न जानने वाले उसे तीन नामों शिव, विष्णु, ब्रह्मा से पुकारकर आपस में लड़ते हैं। श्रीकृष्ण ही त्रिमूर्त स्वरूप हैं।

4. कृष्ण मेरा सेवक (कण्णन् ऐन सेवकन्)

कृष्ण को सेवक बनाना नयी बात है। प्रस्तुत गीत के प्रारम्भ में कवि ये वर्णन करते हैं—जैसे-सेवक की अनिवार्यता, एक दिन अकस्मात् सेवक के न आने दूसरे दिन उससे न आने का कारण पूछने पर उसका बहकाना आदि। उसी समय कृष्णरूपी सेवक कहीं से आ जाता है, वह अपने को यादव कुल का कहता है। कवि उससे पूछते हैं—"तुम्हें कितना वेतन चाहिए? वह उत्तर देता है—आर्य! मेरे कोई पत्नी-बच्चा नहीं है, मैं एकाकी हूँ, यद्यपि बुढ़ापे से मेरे बाल श्वेत नहीं हुए हैं, तथापि मेरी आयु कम नहीं है। यदि आप आदर दें तो वही पर्याप्त है। मुझे रुपये की चिन्ता नहीं है। कवि उसे पागल समझते हैं और सोचते हैं कि इससे बिना वेतन के अपने इच्छानुसार कार्य कराया जा सकता है। कवि आगे कहते हैं कि जब से कृष्ण सेवक बनकर घर में आया तब से घर में कोई कमी नहीं रही। वही झाड़ू लगाता है, दीप जलाता है, बच्चों की देख-भाल करता है, गाय-बछड़े चराता है। वही मेरे घर का वैद्य, गुरु, धाय, बच्चों का स्नेही, संगी, मित्र सभी कुछ बन गया है। अन्त में कवि कहते हैं कि मेरे पूर्व संचित सुकर्मों के फल से कृष्ण मेरा सेवक बना। मैंने कृष्ण को पा लिया और उसे मैंने पहचान लिया आदि। यह गीत श्रीवैष्णव के 'माजोर किशोर' न्याय के आधार पर रचित है।

5. कृष्ण मेरे राजा (कण्णन् ऐन् अरशन्)

पृथ्वी के नृपगण अपराधी को उसी क्षण दण्डित करते हैं, परन्तु कृष्ण ऐसे राजा हैं, जो अपराधी की पर्याप्त दिन, मास ही नहीं अपितु वर्षों तक की छूट दे देते हैं। यदि अपराधी उचित मार्ग पर आ जाता है, तो उसे दण्डित नहीं करते। कृष्ण की तितिक्षा के लिए कई दृष्टान्त हैं। शिशुपाल ने कृष्ण की घोर निन्दा की थी, तो भी कृष्ण ने अन्त तक सहन किया। कंस ने कृष्ण को मारने के उद्देश्य से भूत, प्रेत, पिशाच, असुरों को भेजा था, तो कृष्ण ने सबकी उपेक्षा की थी। वे गोपियों के वशीभूत होकर उन्हें आनन्द प्रदान करते रहे। कंस को और बढ़ने का समय दिया।

यदि कृष्ण ने चक्रायुध हाथ में उठा लिया तो उसी क्षण शत्रु संहार निश्चित है। धर्म की रक्षा हो गयी। अत: कृष्ण की नीतिमत्ता सिद्ध होती है। तमिल की कहावत है—''राजा तो उसी दिन मारता है, दैव पश्चादेव मारता है।'' ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'' मानकर तमिल कहावत के आधार पर भारती ने यह गीत रचा है—ऐसा हम मान सकते हैं।

6. कृष्ण मेरा शिष्य (कण्णन् ऐन शीडन्)

150 पंक्तियों वाली इस कविता में कवि ने कृष्ण को शिष्य के रूप में पाया। वे उसे सदुपदेश देना चाहते थे। कृष्ण तो नटखट बालक था ही। उसने गुरु-उपदेश की उपेक्षा की। जब अन्य लोग कृष्ण की निन्दा करते, तो कवि (गुरु) दु:खी होते थे। वे किसी प्रकार से कृष्ण को ठीक करना चाहते थे। कृष्ण तो बन्दर, भालू, पिशाच एवं अज्ञात प्राणी के समान खड़ा रहता है। कवि (गुरु) बेचैन होकर अदृश्य हो जाता है। कवि के मन में इस तरह के चिन्तन का उदय होता है—''बच्चा! सृष्टि, स्थिति, संहार तुम्हारी वृत्ति नहीं है। अपने मन के अनुसार ही सब कुछ कर नहीं सकोगे। जब तुम यह सोचते हो ''मैं हार गया हूँ'' तभी तुम्हारी विजय है। आशापाश से दूर होकर जिन्दा रहो। इसे सुनकर कवि कृष्ण की मंगलकामना करते हैं।

7. कृष्ण मेरे गुरु (कण्णन् ऐन सर्कुरु)

कवि एक सच्चे गुरु की खोज में निकले। वे यमुना नदी के तट पर एक वयोवृद्ध सज्जन से मिले। कवि का आशय समझकर उसने कहा—यदि तुम्हें सद्गुरु की आवश्यकता है, तो मथुरा जाकर श्रीकृष्ण से मिलो। कवि आगे कहते हैं—मैं कृष्ण-दर्शनार्थ मथुरा गया। कृष्ण स्त्रियों के नाट्य एवं सुमधुर संगीत में तल्लीन होकर घोर शृंगारी के रूप में बैठे थे। कवि सोचते हैं यह व्यक्ति मुझे कैसे उपदेश दे सकता है? इस भावना से कवि क्षुब्ध रह गये, तो कृष्ण-गुरु उन्हें एकान्त में ले जाकर सत्य का मर्म स्पष्ट करते हैं। प्रस्तुत कविता में प्रभु-कृपा से हृदय का

प्रकाशयुक्त हो जाना और सद्गुरु के माध्यम से प्राप्ति का संकेत प्राप्त होता है।

8. कृष्ण मेरी पुत्री (कण्णम्मा ऐन कुलन्दै)

कृष्ण को पुत्र के रूप में अनेक सन्तों ने गायन किया है। तमिल भाषा में पेरियाळ्वार और कुलशेखरर् आदि आळवारों ने कृष्ण की शैशवावस्था पर कविताएँ लिखी हैं। सूरदास के वात्सल्य पदों से अपरिचित कौन है। इस संसार में? भारती इनका ही अनुसरण करते हैं और एक कदम आगे बढ़कर कृष्ण को पुत्री बनाकर अपना वात्सल्य दिखाते हैं। यह गीत 'शिन्नंचिरू किळिये कण्णम्मा' तमिल प्रदेशीय प्रत्येक व्यक्ति के मुख से मुखरित होता है। इसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है–

''मेरी नन्हीं कण्णम्मा बिटिया मेरी प्यार की अपूर्व निधि है तू।''
बिटिया तेरी आँखों में डबडबा उठे यदि नीर
तो छूट चलती रक्तधार मेरे अन्तर को चीर।''[4]

बालकृष्ण लीला पर मोहित होकर कवि का हृदय द्रवित होता है, कवि का ही नहीं हमारा भी।

9. कृष्ण मेरा नटखट बालक (कण्णन् तीराद विळयाट्टु पिळ्ळै)

इस गीत में गोपियाँ कृष्ण की शरारतों को व्यक्त करती हैं। किशोर कृष्ण ऊधम मचाता है। उससे वीथी में चलने वाली वनिताओं को बड़ी परेशानी होती है। एक गोपी का कथन है–''कृष्ण बहुत सुन्दर फूल लाया और मुझसे कहा कि तुम आँखें बन्द कर लो, तुम्हारी वेणी को इससे अलंकृत करूँगा। जब मैंने आँखें बन्द कर दी थीं, तब उसने मुझे अन्धी बनाकर मेरे समीपस्थ सखी की वेणी में इसे पहना दिया।[5] यह गीत 'अमरुशतकम्' के एक श्लोक ''छद्मैकासन संगते प्रियतमे'' से सादृश्य रखता है।[6]

कृष्ण मुरली बजाता है, हम इसके वेणुनाद में एकाग्रचित्त होकर स्तब्ध रह गयीं। हमारे मुख खुले ही रह गये। कृष्ण ने हमारे मुख में छह-सात छींटे डाल दिये। ऐसे नटखट बालक को आपने कहीं देखा है?

यह भारती की कल्पना 'पेरिवाळ्वार' की उक्ति पर आधारित है।[7]

10. **कृष्ण मेरे पति (कण्णन् ऐन काढलन्) सात पृथक् शीर्षक**

भारत के साहित्य में ऐसा एक भी साहित्य नहीं मिल सकता जिसमें सन्त ने अपने (जीव) को प्रेयसी और भगवान् (ब्रह्म) को प्रेमी बनाकर गाया न हो। तमिल के आळवारों में 'नम्माळवार परांकुश नायकी' एवं तिरुमंगै आळवार परकाल नामकी कहलाते हैं, क्योंकि इन्होंने इसी दिशा में अनेक पद्य रचित किये हैं। सब सन्तों ने संयोग शृंगार की अपेक्षा वियोग शृंगार पर बल दिया है, क्योंकि न बिना विप्रलंभ मेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।''[8] इसी परम्परा में आकर भारती ने अपने को प्रेयसी एवं कृष्ण को प्रेमी बनाकर गीतों की रचना की जो आश्चर्य का विषय नहीं है। भारती (नायिका) का विरह वर्णन सुनिए–

मछुआरे की बंसी में फँसे कीट की तरह
तूफान में लपट की तरह
अनंत काल से
मेरा हृदय वेदना में काँपता रहा[9]

इसी के समान 'नींद और जागरण' 'वन में खोजना' आदि कविताओं में नायिका (कवि) के हृदय की आकुलता तथा नायक (कृष्ण) को प्राप्त करने की उत्कृष्ट अभिलाषा का चित्रण है।

11. **कृष्ण मेरी प्रेयसी (कृण्णम्मा ऐन कादलि) छह शीर्षक हैं–**

कवि ने कृष्ण को प्रेयसी के रूप में भी देखा है। नायक (कवि) नायिका (कृष्ण) के प्रत्येक अंग से आकृष्ट होता है और पूछता है कि ''हे कृष्ण! क्या तुम्हारी तेजस्विनी आँखें चन्द्र-सूर्य हैं?[10] इस तरह प्रत्येक अंग का उल्लेखपूर्वक वर्णन करने से यह ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म तत्त्व ही है। इसी संदर्भ में कवि दूसरे गीत में कहता है। ''मुखकमल को पर्दे के पीछे छिपाना दिल्ली के तुर्कों की प्रथा हैं, मुखकान्ति को छिपाना स्नेह नहीं है।

पर्दों से ढक देने से प्रेम का विकास कैसे होगा।[11]

दक्षिण भारत में सुहागिनी घूँघट नहीं करतीं। सम्भवतः इसी दाक्षिणिणात्य प्रथा से प्रभावित होकर भारती ने उपर्युक्त बात कही होगी। महाकवि कालिदास शकुन्तला को 'कास्विदवकुंठनवती' कहकर अवकुण्ठन की मुद्रा देता है।[12]

कवि भारती ने तुम और मैं शैली में कई कविताएँ लिखी हैं, जिन्हें विद्वान द्वैताभास अद्वैत मानते हैं।[13]

12. कृष्णा मेरी कुलदेवी (कण्णम्मा ऐन कुलदैवम्)

यह कृष्ण गीत का अन्तिम (तेईसवाँ) गीत है। प्रस्तुत भाग में कवि "तुम्हारी शरण में आया कृष्णा तुम्हारी शरण में आया"[14]—कहते हैं। यह गीत श्रीवैष्णवों की शरणागति मार्ग पर रचित है। इस गीत में 'प्रपत्ति' के समस्त अंगों के संकेत प्राप्त हैं।

2. स्तोत्र गीत (तोत्तिरप्पाडल्कळ्)

इस भाग में कवि ने 1. गोविन्द गीत, 2. कृष्ण से प्रार्थना, 3. आओ-आओ कन्हैया, 4. कृष्ण भगवान्, 5. नन्दलाल, 6. कृष्ण-जन्म, 7. कृष्ण-पाद, 8. वेणुगीत, 9. कृष्ण-प्रेम, 10. कृष्ण स्मरण, 11. मनपीठ, 12. कृष्ण सौन्दर्य शीर्षक गीत गाये हैं। शीर्षकों के नाम से ही तद्धीत के प्रतिपादित अर्थ का बोध होता है।

3. उपसंहार—भारती की कृष्ण भक्ति—

भारती की भाषा अतीव सरल एवं सरस है। उन्होंने सर्वोत्तम ईश्वर कृष्ण भक्ति को उपरिनिर्दिष्ट कृष्ण गीतों के माध्यम से सामान्य मानव की रागात्मिका वृत्तियों से जोड़ा है। भारती ने कृष्ण को नाना रूपों में देखा है और उस सर्वव्यापी के प्रत्येक स्वरूप का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कृष्ण की सभी रूपों-रुचियों में, सभी तत्त्वों में एक ही की व्याप्ति का अनुभव किया है और वह कवि का स्वत्व सर्वमयता में विलीन हो गया है।

भारती का श्रीकृष्ण विष्णु के दस अवतारों में एक नहीं है। वे जयदेव के दशाकृतिकृत्-देवरूपी परब्रह्म ही हैं। भारती ने कृष्ण की

भक्ति-गंगा में डूबकर अपनी अनुपम-रससिक्त, अमर कविताओं द्वारा समस्त मानव जाति को पवित्र कर दिया।

यत्र योगीश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः
तत्र श्रीः विजयः भूतिः ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।[15]

टिप्पणी

1. कालिकावलि - मंगलाचरण-श्लोक
2. नेंजिल्-कलळल्तैकोण्डुओरू वार्ते शोन्नल्-ओरू
   कारि उमिलन्दि हुवान्- 1-5
3. वेदमुणर्न्द मुनिवरुणविनिय् मेर्वुपरंपोरूळकाण्-नल्लं
   गीत उरैत्तेनै इन्पुरच्चेय्ढवन् कीर्तिकळ् वाळ्तिहुवेन- 1-10
4. मुहनह नट्पटु नट्पन्रू-नेंजन्तु
   अहनह नट्पदु नट्पु-तिरुक्कुलळ्- 79-6
5. अरशन् अन्रू कोल्लुम्, दैवम् निन्रूकोल्लुम
6. "शिन्नंचिरू किळिये कण्णम्मा-एन शैल्वक्लळजियमे-
   "उन्कण्णिन्न् नीर् वछिन्दाल्-ऐन्नेजिल् उदिरम् कोट्टुदडि" 8/17
7. "अलगुळ्ळ मलर् कांण्डुवन्दे-एन्नै अळ-अळशंमदु पिन
   कण्णैभूडिक्कोत्व् कुळलिलं शूट्टुवेन् एन्ब्रान-एन्नैकुरूडाक्कि
   मलरिनै तोकिक्लु वैप्पन 9-3
8. "दृष्टैवकासन संगतेप्रियतमे पश्चाटुपेत्यादरात्
   एकस्मा नयने निमील्य विहित क्रीडानुबन्धच्छलः।
   ईषद्वक्रित कन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसं।
   अन्तर्हास लसत्कपोल फलकं: धूर्तोडपरां चुम्बति।।"
   काव्यालंकार सूत्राणि 3.2.-4
9. कन्रुकळ् ओड शवियिल् कटटेरूम्बु पिडित्तिट्टाल्"
   पेरियाळ्वार तिरूमांळि 2/4/2

10. काव्यादर्श अच्छावास 1, श्लोक, 16 की व्याख्या
11. तूण्डिल वुऴविनैप्पोल् वेलिये
शुडर् वळक्किनैप्पोल्
नीण्ड पोऴदाक एन् नेंजम्
तुडिक्कुदडि-कण्णन्पाट्टु 10-1
12. शुट्टुम् शुडर विळिठम् सूरिय चन्दिरो'' 16-1
13. तिल्लित्तुरूक्कर् शेय्द वळक्कमडि-पेण्कळ्
तिरैयिट्टु मुखमलर मरैन्तु वैत्तल्
वल्लिबेडैयिनैयुम् ओंगि-मुन्निर्कुम्-इन्द
मार्बेयुम् मूडुवटु शान्तिरं कण्डाम्
मुखच्योति मसैन्तुम् इंगु ओरू कादिलिंगुण्डो ?
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 5-13
15. डॉ० पी०जयरामन-महाकवि सुब्रह्मण्य भारती तथा महाकवि
सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला-तुलनात्मक अध्ययन पृ०-191
16. निन्नैच्चरणडैन्देन्-कण्णम्मा-निन्तैवरेणसैन्देन् 23-1
17. आनुकूल्यस्च संकल्प: प्रातिकूल्पस्य वर्णनम्
रक्षिष्यतीति विश्वास: गोप्तृत्ववरणं तथा
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये वड्विधाशरणागति:।।
श्रीमद्रहस्यत्रयसार: पृ० 170

'आत्मनिक्षेप' शरणागति ही है। अत: आनुकूल्यसंकल्प आदि पाँच ही शरणागति के अंग कहते हैं।

18. श्रीमद्भगवद्गीता- 18/78

●●

सिंधी साहित्य में श्रीकृष्ण

❀ डॉ० मोतीलाल जोतवाणी

यह सही है तसव्वुफ (सूफीवाद) की पुण्यभूमि सिंध प्रदेश (अब पाकिस्तान) में सगुण भक्ति पनप नहीं सकी। सिंध प्रदेश तसव्वुफ की सरजमीन क्योंकर हो गया? यहाँ यह ध्यातव्य है कि सिंध का तसव्वुफ केवल मात्र नाम से इस्लामी है। परन्तु उसका चरित्र इस्लामी नहीं है। यह पूरी तरह से वेदांत से प्रभावित है। वैसे भी इस्लाम का बंदे और खुदा के बीच द्वैत का पक्षधर होने से वह तसव्वुफ को अपनी मुख्य धारा का हिस्सा कभी नहीं बना सका। 'अना अल्हक' का नारा बुलंद करने वाले सूफियों को मौत के घाट उतारा जाता था। इसीलिए सिंध प्रदेश में तसव्वुफ नाम से इस्लामी होते हुए भी अपने काम से अद्वैतवादी रहा और मुसलमान समुदाय के वह्दत अल्वुजूदी वर्ग का प्रतिनिधि बन गया।

सिंधु नदी के तट पर वेदों की रचना हुई और सिंधी जन-मानस में वैदिक विचारधारा का और तदनन्तर वेदांती मनीषा का मुख्य स्थान बना रहा। शंकराचार्य का अद्वैतवाद अपने प्रत्यक्ष रूप में सामी, दलपत और असूराम सिंधी संत कवियों में और अपने परोक्ष रूप में काजी कादन, शाह करीम, शाह लतीफ और सचल सरमस्त सूफी कवियों में प्रगट हुआ है।

लेकिन जैसे शंकराचार्य ने भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, भज गोविन्दं मूढ़मते गाकर ज्ञानयोग और भक्तियोग के बीच तथाकथित अलगाव को स्वयं दूर कर दिया था, वैसे हमारे मूल ज्ञानमार्गी कवियों ने भी ज्ञान के गीत गाकर भक्तिपरक गीति-रचनाओं का प्रणयन किया।

शायद ही कोई ऐसा सिंधी कंवि होगा, जो विशुद्ध रूप से सगुण

भक्त कवि हो। यह बात सिंधी साहित्य के इतिहास के आधार पर सिद्ध है कि विशुद्ध रूप से कृष्ण भक्त सिंधी कवि एक भी नहीं है। मुख्यतः वेदान्ती कवि सामी 1743-1850 ने अपने कुछ श्लोकों में मुरलीधर श्री कृष्ण का भी मधुर वर्णन किया है। वे एक श्लोक में कहते हैं-

मधुर मधुर मुरली, कान्ह बजाई मुख सां,
बधी गोपी ग्वाल जी, सागी सुरत भुली,
अविधा ग्रंदि खुली, डिसी महबूब जो।

अर्थात् कान्हे ने मधुर-मधुर मुरली बजाई और मुरली की तान सुनकर गोपियों तथा ग्वालों की सुध-बधु खो गई। उन्होंने मुरलीधर का मुख देखा तो उनका अविधा की गाँठ खुल गई।

सिंधी कवि जी बितासिंह (1831-1891) भी मूलतः ज्ञानमार्गी कवि हैं। परंतु उनकी कुछ रचनाएँ उनके श्रीकृष्ण प्रेम को दर्शाती हैं। वे कहते हैं-

जिति-किधि कृष्ण साँवरो,
मां बियो नधी जाणां।

अर्थात्-यहाँ-वहाँ साँवला कृष्ण हैं मैं दूसरा कोई नहीं जानती। सूफी कवियों की तरह यहाँ इस कृष्ण भक्त कवि ने अपने को नारी-रूप में प्रस्तुत किया है। यही नहीं, यहाँ-वहाँ सब जगह श्रीकृष्ण को देखकर अद्वैतवादी रहस्यवादिता का निर्वाह किया है। एक और स्थान पर वे कहते हैं-

मनमोहन का मुरली बजाई थे!
अनहद जो आलाप सुणाई थे।
मुरली तुंहिंजीअ मनडो मोहियो,
शकु सारो अंदर जो खोहियो।

अर्थात् मनमोहन श्रीकृष्ण ने मुरली क्या बजाई, उसने अनहद अलाप सुनाया तुम्हारी मुरली ने मन मोहित कर दिया है और मेरा समूचा संदेह दूर कर दिया है।

भाई ईसरलाल (1835-1890) ने सिंधी की सराइकी उपभाषा और हिन्दी में कुछ पदों की रचना की है। उनमें से दो पद उनकी भक्ति भावना की अभिव्यक्ति करते हैं। उनमें श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के उपालम्भ व्यक्त किये गए हैं। एक पद में वे कहते हैं–

डाढी डोर फिराक थी, धियो मोहन मुंझाए,
सजर सूर चीर में, कियो ईर्ष्या दुराए,
जिंद कुर्बान तिनि हूं ऊधो। नेको हनमिलाए,
ईसर अर्सो आहे, गोपियुनि हे गोकुल में।

अर्थात् गोपियाँ कहती हैं, श्रीकृष्ण हमें विरह-डोर में बाँधकर (मथुरा) चले गए हैं। समस्त शरीर में पीड़ा के धुएँ उठ रहे हैं। उद्धव! जो उनसे मिलाएगा उस पर हम अपनी जान न्यौछावर कर देंगी। ईसर कवि कहते हैं गोपियों को गोकुल में विरह वेदना सहे हुए एक लम्बा अर्सा बीत गया है।

दूसरे पद में वे कहते हैं–

जे हुथइ मथुरा श्याम ब्रण जी, त छो वत्रीं मार्यूं,
जे बंसुरी हुई बननि में, तो असां गायूं गडू चार्यूं,
ईसर अर्से बेचार्यूं, अहिनि गोपियूं गोकुल गांव जूं।

अर्थात् हे श्याम! यदि तुम्हें मथुरा जाना ही था तो तुमने हमें अपने प्रेम का शिकार क्यों बनाया? यदि तुम्हारी बाँसुरी को यों बनों में यूँ निकम्मा पड़ा रहना था, तो तुमने वह बाँसुरी क्यों बजाई थी? तुमने और हमने एक साथ मिलकर गायें चराई थीं। ईसर कवि कहते हैं कि गोकुल की गोपियाँ वियोगावधि की मारी हैं।

ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों का वर्णन भाई कलाचंद (1867-1911) की कविता में हुआ है। वे कृष्ण के अनन्य उपासक थे। उस उपासना और भक्ति भावना में दास्यभाव का अनूठा परिपाक हुआ है। उनका एक पद देखिये–

रे अमां, मुंडिजो कृष्ण कनयो लिव लाए वियो,
कृष्ण कनयो लिंव लाए दियो,
मूंसां डाढी जार लगाए दियो।
खइणु-पीअणु सुम्हणु-विहणु,
सभुई मूंखा भुलाए दियो।
कल्याण बान्ही अर्ज करे थी,
गुंडिणो मोहन मूंखे मिलाए हियो।

अर्थात् हे माँ, मुझे कृष्ण कन्हैया प्रेमभाव से ओतप्रोत कर मथुरा चला गया। अब मुझसे खाना, पीना, सोना, बैठना सब भूलसा गया है। अब यह दासी प्रार्थना करती है कि मेरा मोहन मुझसे किसी तरह मिलवा दो।

ठाकुरदास शर्मा (1868-1906) एक साथ निर्गुण-सगुण भक्ति के और सगुण भक्ति के अन्तर्गत भी श्रीराम तथा श्रीकृष्ण दोनों की भक्ति के कवि थे। 'भजन-कल्पतरु' में संगृहीत उनके भजनों में से एक हैं—

मोर-मुकुट मकराकृति कुण्डल,
ओढे पीताम्बरी पटंदी,
कुस्तभमणि वैजयन्तीमाला,
बंसी बूले ते पेई लगुंदी,

पिपासा मुसलमान सूफी कवियों द्वारा अद्वैतवाद या वहदह अल्बुजूद के आधार पर रचित सूफी काव्य से, शान्त हो जाती थी।

दूसरी बात यह है कि बीसवीं शती में श्रीकृष्ण रचित गीता के कई सिंधी अनुवाद गद्य तथा पद्य में हुए हैं। वे बड़े ही कलात्मक हो पाए हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के इतने प्रचार-प्रसार का कारण गीता के मूल स्वर के रूप में उसका अद्वैतवाद है, जो सिंधी-प्रकृति से मेल खाता है। गीता का अद्यतन सिंधी पद्य अनुवाद लब्ध प्रतिष्ठित कवि हरि दिलगीर ने किया है।

●●

श्रीकृष्ण : कश्मीरी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

❀ डॉ० ओंकार नाथ कौल

कश्मीर में कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ 11वीं शती में क्षेमेन्द्र की संस्कृत रचना 'दशावतार चरित' से माना जा सकता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने दशावतार चरित में श्रीकृष्ण की भूमिभारहरक का निमित्त माना है। परन्तु कश्मीरी भाषा में 17वीं शती के प्रारम्भ तक कृष्ण से सम्बन्धित काव्य रचना उपलब्ध नहीं होती। इसका मुख्य कारण यह है कि कश्मीर मुख्यत: शैवमत का प्रमुख केन्द्र रहा है। कश्मीरी काव्य प्रारम्भ से ही शैवमत से प्रभावित रहा है। कल्हण की राजतरंगिणी में इस बात का संकेत मिलता है। कश्मीर नरेश गोनन्द की मगध नरेश जरासंध से घनिष्ट मैत्री थी। इस कारण गोनन्द ने महाभारत में कौरवों की ओर से युद्ध में भाग लिया और मारा भी गया। गोनन्द के पुत्र दामोदर ने गांधार के युद्ध में सम्मिलित होकर यादवों से अपने पिता का प्रतिशोध लेना चाहा किन्तु वह भी युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी अन्तर्वत्नी पत्नी का श्रीकृष्ण ने यहाँ के ब्राह्मणों से राज्याभिषेक कराया, जो बाद में संगर्भा रानी यशोधरा के नाम से प्रसिद्ध हुई। राज्याभिषेक के समय कृष्ण ने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा था :

कश्मीरः पार्वती तत्र राजा ज्ञेयो हराशजः।
नामज्ञेयः दुष्टोऽपि विदुषा मूर्तिमिच्छता।।

अर्थात् कश्मीर देश स्वयं पार्वती का स्वरूप है और यहाँ का राजा शंकर का अंश है। यदि यहाँ का राजा दुष्ट भी हो तो भी समृद्धि चाहने वाले व्यक्ति को उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। कश्मीरी की आदि कवियित्री लल्लेश्वरी में ही एक-दूसरे प्रमुख सूफी कवि नन्द

ऋषि की काव्य-रचनाओं में भी दिखाई देता हैं। शैवमत के पश्चात् छठवीं से आठवीं शताब्दी तक यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार रहा। सूफियों और सन्तों की वाणी मुख्यत: परमात्मा के निर्गुण रूप के बखान और धार्मिक एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना तक ही सीमित रही। इन विषम परिस्थितियों में भी वैष्णव धर्म की धारा बहती रही। कर्कोटवंशीय राजा दुर्लभ वर्धन ने श्रीनगर में विष्णु की एक मूर्ति 'दुर्लभस्वामी' के नाम से स्थापित की।

पन्द्रहवीं शताब्दी में कवि भट्ट अवतार ने 'हरिवंश पुराण' के आधार पर 'बाणासुर कथा' की रचना की। मुगलों के शासनकाल में साहिब कौल ने 'कृष्णावतार' का कश्मीरी में निरूपण किया। अन्य समीपवर्ती भाषाओं की भाँति कश्मीरी में सगुणात्मक भक्ति काव्य की रचना 16वीं शती से ही प्रारम्भ हुई। कश्मीरी में राम तथा कृष्ण काव्य की रचना विभिन्न रूपों में हुई। राम और कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकारा तो गया, पर शिव की प्रतिष्ठा बराबर बनी रही। कई स्थलों पर विष्णु के अवतार राम और कृष्ण शिव की बढ़ाई स्वीकार करते हैं, उन्हें पूजते हैं और तमाम कठिनाइयों में उनकी शरण में चले जाते हैं। इस तरह अवतारवाद को प्रतिष्ठा तो मिली पर वे अवतार रूप भी मानवीय संवेदनाओं और आशा-आकांक्षाओं से मुक्त नहीं हुए।

कश्मीरी में कृष्ण-काव्य के विभिन्न रूप मिलते हैं। परम्परागत कृष्ण कथा प्रसंगों, कृष्ण के अवतार रूप, कृष्ण की बाल क्रीड़ाओं और कृष्ण के गीता-उपदेश का दर्शन विभिन्न रूपों में हुआ है कथा प्रसंगों का मुख्याधार संस्कृत भागवत, दशावतार चरित, उपनिषद् और पौराणिक संदर्भ रहे हैं।

कश्मीरी में कृष्ण-काव्य की रचनाओं का प्रारम्भ कश्मीरी साहित्य के गीत-काल के अन्तर्गत हुआ। साहिब कौल इस काल के एक प्रमुख कवि थे। 16वीं शती के उत्तरार्ध में जन्मे इस कवि ने कई रचनाएँ लिखीं, इनमें 'कल्प वृक्ष, 'जन्म चरित' तथा 'श्रीकृष्ण अवतार

लीला' प्रमुख हैं। 'श्रीकृष्ण अवतार लीला' मुख्यत: भागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित है। ग्रियर्सन ने इस कवि का सम्पादन किया है और इसे रचित एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ने 1926 ई० में प्रकाशित किया है। इस कृति की एक पाण्डुलिपि रिसर्च लाइब्रेरी श्रीनगर में सुरक्षित है। इसमें कुछ पाठान्तर भी मिलते हैं। कथा-वस्तु के गठन तथा चरित्र-निर्माण में आधारित स्रोत से इसमें अधिक भिन्नता नहीं है। हाँ, भाषा-शैली की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कृति है। साहिब कौल ने इसमें प्रगीतात्मक शैली का प्रयोग किया है। इसका छन्द विधान चार पंक्तियों पर आधारित है, जिसमें चौथी पंक्ति प्रगीतात्मक शैली के अनुरूप टेक की पंक्ति है।

यह प्रगीतात्मक शैली इस काल में पनपी और फिर बाद में लीला-शैली में परिवर्तित हुई। भाषा संस्कृतनिष्ठ कश्मीरी है जिसमें फारसी के कुछ शब्दों का प्रयोग भी हुआ है।

कृष्ण काव्य सम्बन्धी फुटकर रचनाएँ अधिकतर लीलाओं या भक्ति गीतों के रूप में और कवियों ने भी लिखीं, पर साहिब कौल के पश्चात् कृष्ण-भक्त कवियों में परमानन्द (1791-1885) का नाम प्रमुख है।

परमानन्द 'लीला काव्य' शैली के एक उच्चस्तरीय कवि माने जाते हैं। इनकी इसी शैली में रचित नैतिक मूल्यों, उपदेशों तथा स्तुतिपरक कई रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इन भक्तिपरक गीतों के अतिरिक्त इन्होंने तीन प्रबन्ध काव्य-कृतियाँ-'राधा स्वयंवर', 'सुदामा चरित' और 'शिव लग्न' की रचना की, इनमें पहली दो रचनाएँ कृष्ण काव्य से सम्बन्धित हैं।

परमानन्द ने कृष्ण कथा सम्बन्धित प्रसंगों और घटनाओं का निरा कथानक की रोचकता दर्शाने के लिए बखान नहीं किया, बल्कि अनेक स्थलों पर इनका प्रयोग अन्योक्ति और रूपक के माध्यम से सामान्य से गहरे अर्थ प्रकट करने के लिए किया है। वे विभिन्न घटनात्मक प्रसंगों को सांकेतिकता के द्वारा आध्यात्मिक या दार्शनिक आयामों की

अभिव्यक्ति करते हैं। सांकेतिकता प्राय: किसी विशिष्ट शब्द वाक्यांश, वाक्य, अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा या उपमा अथवा रूपक के प्रयोग के माध्यम से परिलक्षित होती है। सांकेतिकता के विशिष्ट प्रयोगों द्वारा कृष्ण और गोपबालाओं का रति-सम्बन्ध प्रेम भक्ति के रूप को प्रकट करता है, रास-विलास आध्यात्मिक दिव्य आनन्द को परिलक्षित करता है और मुरली ध्वनि अनहद नाद को। इसी भाँति चीर-हरण माया के आवरण को हटाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है—

'राधा स्वयंवर' कृति के प्रारम्भ में ही राधा-कृष्ण केलि-क्रीड़ा के प्रसंग में आत्मा और परमात्मा के राग-सम्बन्धों की व्याख्या इस प्रकार हुई है—

गोकुल मेरा हृदय है प्रभु।
जहाँ विचरती हैं तुम्हारी गायें
मेरे मन की वृत्तियाँ हैं गोपियाँ
तुम्हारे पीछे पगलायी दौड़ती हैं
बांसुरी के वद से उन्मत्त हुई सी
सुध-बुध बिसारे हुए
अपने-पराये का भेद-भाव भूलकर
ओ चित-विमर्श दीप्तिमान भगवान!

'राधा-स्वयंवर' कृति भागवत आदि आधार ग्रन्थों से प्रेरित है, पर इसमें कई मौलिक प्रसंग जुड़े हैं और अभिव्यक्ति के धरातल पर इनकी नई अभिव्यंजना हुई है। कृति का प्रारम्भ राधा के जन्म और बाल-क्रीड़ाओं के वर्णन से होता है और परिणति कृष्ण-राधा के प्रणय और परिणय में। इस कथानक में कई घटनाओं जैसे कुंज बिहार, मुरलीवादन, रास-क्रीड़ा, गोपिका चीरहरण, रुक्मिणी मान-हरण, अक्रूर के साथ मथुरा-गमन, असुर-वध, कंस-वध आदि प्रसंगों का भी समावेश हुआ है। इसमें कृष्ण द्वारा राधा का चीर-हरण जैसे कुछ मौलिक प्रसंग भी हैं। प्रसंगों के वर्णन में सांकेतिकता यत्र-तत्र परिलक्षित होती है।

बालिका राधा की जन्म कुण्डली देखकर नारद अवाक् रह जाते हैं। बालिका राधा के प्रति यशोदा का स्नेह दिखाया गया है। राधा और कृष्ण की बढ़ी प्रीति देखकर वृषभानु का पुरोहित के हाथ विवाह प्रस्ताव भेजना तथा कृष्ण का 'मोती के बीज बोकर' मोतियों की फसल को पुरोहित और राधा के परिजनों को उपहारस्वरूप भेजना कुछ नये प्रसंग जोड़े गये हैं। राधा और कृष्ण के विवाह के अवसर पर प्रकृति और पुरुष के मिलन का सुन्दर बिम्ब चित्रित हुआ है—

लोकपाल वायु पथ बुहार रहा था
स्वयं इन्द्र लिपाई करा रहा था
बिछा रहा था फूल वसन्त
सूर्य-चन्द्रमा दीपावली किए हुए थे
बादलों का छत्र लिए हुइ थी बिजली
पाखी आकाश के अपने पंखों से पंख झल रहे थे
गानरत थे गन्धर्व
नृत्य-निरत थी सुन्दर अप्सराएँ।.....

परमानन्द ने कृष्ण और राधा के प्रेम का अंकन बहुत ही सुन्दर और संयत ढंग से किया है। अन्त में राधा कृष्ण की बाँहों में यों लीन होती दिखाई गई है कि कृष्ण ही कृष्ण रह जाते हैं। रीति-राग के चित्रण के माध्यम से कवि अहं का बहुत ही रोचक दृश्य प्रस्तुत करते हैं। राधा प्रेम की मूर्ति सरल स्नेहमयी है। उनका प्रेम समर्पणाकुल है। राधा के रूप का वर्णन भी सुन्दर और संयत है। सद्यः स्नाता राधा के रूप का चित्रण देखिये:—

राधा का तन गन्धमाता चन्दन है
उनके काले केश इस चन्दन विटप से
लिपटे भुजंग
पर केशव को उनके डँसने का भय नहीं.....

कृष्ण के चरित्र का चित्रण भी कवि ने केवल रति-राग में लिप्त

नायक के रूप में न करके उन्हें धीर-शान्त-दिव्य पुरुष, भगवान के अवतार के रूप में किया है। उनकी सारी गतिविधियों को लीला के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। इस कृति में जहाँ उनके मुरली वादक, लोकरंजक और रास-विलासी रूप का चित्रण हुआ है वहाँ उनके अतिमानवीय, असुर-संहारक और भू-रक्षक अवतारी बिम्ब की भी प्रतिष्ठा हुई है।

भाषा-शैली की दृष्टि से यह कृति महत्त्वपूर्ण है। भाषा संस्कृतनिष्ठ कश्मीरी होने पर भी इसमें फारसी-अरबी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। लीला-शैली में रचित इस कृति में संगीतात्मकता बराबर बनी रहती है। लीला-शैली के अनुरूप प्रथम पंक्ति की टेक पर तीसरी पंक्ति के पश्चात् दोहराई जाती है। इस कृति में कुछ गीत बहुत ही प्रसिद्ध हैं जो विवाह के अवसर पर आज भी बड़ी उत्सुकता से गाए जाते हैं।

कृष्ण-कथा से सम्बन्धित परमानन्द की दूसरी काव्य-कृति है 'सुदामा चरित'। कश्मीरी साहित्य में इस काव्य-कृति को भी एक ऊँचा स्थान प्राप्त है। जहाँ राधा स्वयंवर रचना का प्रारम्भ चित्त-विमर्श दीप्तिमान् भगवान के प्रति वन्दना-गान से होता है, वहाँ सुदामा चरित में देवकीनन्दन के जय-गान से, जिनके जन्म से अन्धकार में प्रकाश हो जाता है। इस कृति का कथानक भागवत आदि के आधार पर कृष्ण और सुदामा की मैत्री का प्रसिद्ध प्रसंग है। परमानन्द इस कथानक को सांकेतिकता के परिवेश में मनुष्य और ईश्वर के पारस्परिक नैकट्य या मैत्री-सम्बन्ध को प्रस्तुत करते हैं। कवि के अनुसार मनुष्य और परमात्मा की दूरी का कारण जीव का अहंभाव है। इस अहंभाव के न रहने पर जीव परमात्मा से अभिन्न है। बचपन में सुदामा का अपने मित्र कृष्ण से छिपाकर चावल खाने को जीव के अहंबोध के अर्थ में समझा जाता है। जिसके कारण उसे यातना सहनी पड़ती है। लेकिन फिर सद्बुद्धि (सुशीला) की प्रेरणा से, जीव फिर ईश्वर की ओर अपनी यात्रा आरम्भ करता है और उसके सारे दु:ख मिट जाते हैं। परमानन्द ने यह कथा-रूपक बड़ी सुन्दरता से

प्रस्तुत किया है।

'सुदामा-चरित' का प्रारम्भ बाल-चरित के वर्णन से होता है। कृष्ण को बाल-क्रीड़ाओं, ग्वालिनों के मटके फोड़ने और दही मक्खन चुराने का वर्णन सरस है। गोपियाँ यशोदा के पास शिकायतें लेकर जाती हैं। शिकायतें सुन-सुनकर तंग आने पर यशोदा कृष्ण को रस्सी से बाँधती हैं। सुदामा-कृष्ण प्रसंग की बाल-लीलाओं के प्रसंग में आता है। कवि के शब्दों में सुदामा कृष्ण के मित्र ही नहीं स्वयं उनके बालभाव थे। सुदामा अहंभाव के शिकार हुए। द्वैत की भावना जागी (सुदामा का छिपाकर चावल खाना) दोनों अलग हुए और सुदामा को दरिद्रता का जीवन व्यतीत करना पड़ा। फिर पत्नी की प्रेरणा से वे कृष्ण से मिलने द्वारका की ओर चल पड़ते हैं तो सारी स्थिति ही बदल जाती है। सुदामा के द्वारका पहुँचने से पूर्व ही कृष्ण स्नेह-अधीर होकर उससे मिलने के लिए महल से बाहर आते हैं। जीवात्मा और परमात्मा का यह मैत्री-भाव पारस्परिक प्रेम है। सुदामा ईश्वर की कृपा के सामने पूरी तरह समर्पित हो जाते हैं और उनके सारे दु:ख एकदम मिट जाते हैं। द्वारका जाते हुए सुदामा की स्थिति का वर्णन इस तरह हुआ है।

अविरल अश्रुधार बहाते हुए
वह मानो समुद्र की थाह लेने को निकल चला
जिसका कोई नाम नहीं, रूप नहीं
कोई दिशा नहीं
उसका संतरण छोटी-सी नाव से करने को
एक ब्रह्मभाव उस नाव का माँझी बना
और उसे किनारा दिखा गया.....

परमानन्द की शैली की एक विशिष्टता यह है कि उनकी रूपक-रचना या अन्योक्ति कभी भी कथा का प्रवाह रोक नहीं पाती है। कथा प्रवाह सरस ढंग से निर्बाध आगे चलता रहता है। हाँ, रूपक रचना से कथानक का वर्णन अधिक सार्थक हो जाता है।

'राधा स्वयंवर' की भाँति 'सुदामा चरित' की भाषा शैली भी सुगठित और सरस है। इसमें भी 'लीला-शैली' ही अपनाई गई है। इस कृति के कुछ गीत भी प्रसिद्ध हैं। इन दो प्रबन्ध काव्य-कृतियों के अतिरिक्त परमानन्द ने कृष्ण-कवि भावना से ओत-प्रोत कई भक्ति गीत लीला शैली में लिखे हैं।

परमानन्द के पश्चात् कृष्ण-काव्य के संदर्भ में परमानन्द के ही एक शिष्य लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' (मृत्यु 1898) का नाम लिया जाता है। 'बुलबुल' ने 'सामनामा' तथा 'नलदमन' नामक प्रसिद्ध मसनवियों के अतिरिक्त परमानन्द की प्रेरणा से कृष्ण कथा से सम्बन्धित 'मोहिनी प्रसंग' की रचना की और अनेक भक्तिपरक रचनाएँ लिखीं।

'मोहिनी प्रसंग' की कल्पना मौलिक है। इसमें कृष्ण राधा से मिलने के लिए स्त्री वेष में 'चूड़ियाँ बेचने वाली' का रूप धारण करते हैं। उन्हें देखकर राधा की माँ उन पर मुग्ध होती हैं और राधा को चूड़ियाँ पहनाने के लिए उनके कक्ष में भेजती हैं। 'चूड़ियाँ बेचने वाली' राधा को चूड़ियाँ पहनाते हुए कृष्ण के बारे में कुछ अप्रिय बातें कह देती हैं, जिन्हें राधा सह नहीं पातीं। वह 'चूड़ियाँ बेचने वाली' पर गुस्सा हो जाती हैं तो उसके गुस्से की पराकाष्ठा देखकर कृष्ण अपने वास्तविक रूप में प्रकट होते हैं। वे उन्हें अपनी बाँहों में कस लेते हैं, जिससे वह कृष्ण में लीन हो जाती हैं। इस कृति में विरहाकुल में कृष्ण और राधा की मनोदशा का बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है। परमानन्द अपने शिष्य लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' द्वारा लिखित 'मोहिनी प्रसंग' से इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने इससे अपने 'राधा स्वयंवर' में जोड़ दिया।

कश्मीरी में कृष्ण काव्य की परम्परा को आगे चलाने में एक अन्य प्रतिष्ठित कवि कृष्ण राजदान (1848-1927) को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने 'शिव लग्न' नामक प्रबन्ध काव्य की रचना करने के अतिरिक्त, राधा-कृष्ण प्रीति प्रसंग और रास-विलास विषयों पर सुन्दर काव्य रचना की। कृष्ण राजदान भक्ति-भावना से प्रेरित होकर

शिवजी की उपासना तथा कृष्ण अवतार की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं, राधा और गोप-बालाओं के साथ रचे रास-विलास का सुन्दर चित्रण किया है।

कुछ कृष्ण भक्तिपरक गीतों की रचनाएँ उनके 'शिव लग्न' में भी सम्मिलित हैं। प्रसंग यह है कि शिव-विवाह में विष्णु वर के पिता बनकर आते हैं और इस बहाने कवि को विष्णु-अवतार कृष्ण के रास-विलास के वर्णन का अवसर मिलता है। स्वतन्त्र रूप से कृष्ण राजदान ने कृष्ण-राधा और गोप-बालाओं के रास-विलास का चित्रण किया है। कृष्ण राजदान द्वारा लिखित कुछ रास-गीत बहुत ही प्रसिद्ध हुए हैं। उन्हीं गीतों में एक है 'मन वृन्दावन' जिसमें उन्होंने कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति प्रदान की है।

मन मेरा वृन्दावन रे
आत्मरूप नारायण रे.....

गोप बालाओं द्वारा गाए गीत सुन्दर भाव-बिम्ब प्रस्तुत करते हैं।

आधी आधी रात आँखों में नींद लिए
पगला गयी हम कृष्ण को ढूँढ़ते ढूँढ़ते
नाचते नाचते गाती हैं

रास में निमग्न कृष्ण और राधा अंतर्ध्यान हो जाते हैं। गोपबालाएं हताश होकर गली-गली, कुंज-कुंज पगलायी-सी उन्हें ढूँढ़ती फिरती हैं।

कृष्ण को खोजते खोजते
चला गया उजाला आँखों का

एक और रास-गीत गीतात्मकता की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर है।

आओ मिलकर सब हाथ पकड़ लें
चलो रास खेलने को चलें!
गोपीनाथ साथ नाचने लगे जो
बीते छः मास मास बनकर एक रात
वर्ष बने एक दिन-सा, बने पहर एक मास

कभी सुनती मुरली धुनि यहाँ, कभी वहाँ
हैं यहाँ-वहाँ सब कहीं बस कृष्ण और राधा साथ
पकड़े वे हम सब का हाथ.....

गोप-बालाएँ कृष्ण के दर्शन के लिए सदैव आतुर दिखाई देती हैं—

तुम्हारे प्रेम में बहती आँसुओं की धारा
पहुँच गयी है तारा-मण्डल तक
लिए हुए चन्द्रमा अमृत का प्याला
जागो श्याम हुआ उजाला रे!

कवि ने कृष्ण को एक और गीत में साकार वसन्त के रूप में चित्रित किया है।

पहनकर आए वासन्ती वसन श्याम सुन्दर
हो गया हरा संसार सारा
सखि, वसन्त आया है, वसन्त!

कश्मीरी में कृष्ण काव्य से सम्बन्धित मान जू अत्तार द्वारा रचित दो और काव्य कृतियाँ मिलती हैं। 'कृष्णावतार' तथा 'रुक्मिणी मंगल' मानजू अत्तार ने इनकी रचना 20वीं शती के पूर्वार्द्ध में की है। दोनों कृतियाँ अप्रकाशित हैं। इनका आधार भागवत ही है। इन दो कृतियों में भी लीला-शैली को अपनाया गया है। कथानक में कोई विशेष मौलिक प्रसंग नहीं मिलते। कश्मीरी में कृष्ण-काव्य दोनों प्रबन्धात्मक तथा फुटकर स्वतन्त्र लीलाओं या गीतों के रूप में मिलता है। पृथ्वीनाथ कौल जैसे आधुनिक कवियों की भक्तिपूर्ण रचनाओं से कश्मीरी साहित्य समृद्ध हो रहा है। बहुत-सी रचनाएँ अप्रकाशित होने के कारण अनुपलब्ध हैं।

डोगरी का कृष्ण काव्य

❀ डॉ० बीना गुप्ता

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में भावरूप श्रीकृष्ण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली रहा है। भारतीय संस्कृति का परिचायक कोई भी भाषा समाज ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जो श्रीकृष्ण की नानाविध लीलाओं तथा धार्मिक और दार्शनिक विचारधारा से सम्बद्ध न हो। डोगरी, जो जम्मू-कश्मीर राज्य की शीतकालीन राजधानी जम्मू प्रान्त की मातृभाषा है, अपने साहित्य में आदिकालीन कवियों की रचनाओं से ही श्रीकृष्ण काव्यधारा को लेखनीबद्ध करती चली आ रही है। सत्य तो यह है कि इस काव्यधारा का मूल स्रोत और भी प्राचीन है, जो इसके जन साहित्य अर्थात् लोकसाहित्य में निहित प्रतीत होता है। इस भाषा के कवियों और लोककवियों ने बहुधा ईश्वर के विष्णु अवतारों में राम और कृष्ण को ही अपनी प्रेम भावना समर्पित करते हुए अपना उपास्य इष्ट माना। लोक गीतों में राम की मर्यादा और कृष्ण की लीलाएँ बहुचर्चित हैं, किन्तु यह बात स्मरणीय है कि यहाँ पर 'राम' और 'दाशराथराम' दोनों एक नहीं। राम निर्गुण, निराकार, निर्विकार; अजर, अमर उस पारलौकिक शक्ति का प्रतीक है, जबकि दाशरथ राम का वर्णन वेद और लोक की मर्यादा का पालन करने वाले, परिवार, समाज और लोक में मर्यादा का पालन करने वाले, परिवार, समाज और लोक में सद्भावना, सद्व्यवहार और आदर्श के प्रतीक के रूप में हुआ है। जहाँ तक डोगरी काव्य में श्रीकृष्ण-कथा का सम्बन्ध है, उसके कथ्य और गेय तत्त्व अपने इन्द्र-धनुषी रंगों में अंकित एवं चित्रित हुए मिलते हैं। इन कवियों ने श्रीकृष्ण के बाल्य रूप से लेकर इसके निराकार, निर्विकार, अन्तर्यामी,

भाव-सागर से पारकर्ता आदि अनेक रूपों का बखान किया है। आदि-कालीन कवि चूँकि स्वयं रास किया करते थे अत: उनकी विचारधारा भगवान के 'लीलापुरुषोत्तम रूप' में अधिक आस्थावान थी। इस विचारधारा के अनुसरणकर्ताओं की धारणा है कि कृष्ण परमात्मा स्वरूप हैं और संसार की अन्य सभी मनुष्य शरीरधारी आत्माएँ उनकी गोपियाँ हैं। आत्मा परमात्मा के बीच का अन्तर अज्ञान रूप माया के कारण है और यह माया भी ईश्वर द्वारा ही रची गई है। आत्मा की उन्नति के लिए प्रभु रास रचाते हैं ताकि गोपियाँ प्रभु से सायुज्य बना सकें और साकार ईश्वर द्वारा निराकार से सामीप्य सम्बन्ध स्थापित कर सकें। महाभारत द्वारा कृष्ण अपने 'परमात्म रूप' के दर्शन करवाते हैं। प्रसिद्ध डोगरी लोकनाटक 'भगता' भी रास का ही विकसित रूप है। प्रारम्भ में यह नाटक कृष्ण-लीला और कृष्ण-गोपी नृत्य के रूप में प्रचलित हुआ था। कृष्ण का मित्र ऊधो भी इस लीला का पात्र हुआ था। शुरू-शुरू में इस भगता नाटक को 'रास' ही कहा जाता थ तथा रास रचाने वालों को गाँव-स्थानों पर 'रासूं' और नगरों में 'रासधारिये'। बाद में देहातों में रास नामक इस लीला को 'भगतां' की संज्ञा दी गई और रास करने वालों का 'भगतिए' नाम से अभिच्छित किया गया, क्योंकि एक तो इस 'भगत' भगवद् श्रीकृष्ण की साकार लीला होती थी, दूसरे अपनी स्थानीय बोली में होने के कारण दर्शकों की समझ में भली-भाँति बैठती थी और लोग रसानन्दित होते थे।

लीला पुरुषोत्तम सभी इस कृष्णपंथी परम्परा में डोगरी के तीन आदि कवि हुए हैं—मयादास, रघुवीरदास और शांगदास। मयादास 1685 ई० से 1700 ई० के बीच महाराज रणजीत देव के शासनकाल में हुए हैं। ये डफरबास के रहने वाले थे। इन्होंने वृन्दावन आकर रासलीला सीखी और लौटकर डफरबाल में रासलीला का प्रचार किया। ये वैरागी परम्परा के कृष्ण-उपासक थे। लोक-प्रसिद्ध है कि मयादास की रासलीला में भगवान श्रीकृष्ण का रूप ग्रहण कर स्वयं रास नाचे हैं। इस विषय में

कई कथाएँ प्रचलित हैं।[1] डुग्गर में पहले तो कई वृन्दावनी रास मण्डलियाँ आती थीं किन्तु मयादास से इस प्रदेश में अपनी रास-परम्परा का शुभारम्भ हुआ और कई एक मण्डलियाँ तैयार हुईं जो गाँव-गाँव, कस्बों-कस्बों में जाकर लीला दिखाती थीं। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और उपदेश के कठिन कार्य से कृष्ण-लीला द्वारा सगुण ब्रह्म के प्रचार का कार्य बहुत सहज एवं सरस हो गया। डुग्गर की रास-मण्डलियाँ आज भी मंगलाचरण के रूप में इस प्रकार गाती हैं–

डफरवाल डफ बाजें, होली खेले अनूप,
धन्न-धन्न मयादास भगत, जिन दरशयो हरि का सत्य।

मयादास ने डोगरी और ब्रजभाषा दोनों में काव्य सृजन किया। पंजाब के कुछ भक्तों ने उनके डोगरी पदों को अपनी भाषा में सुर देने के यत्न भी किए। इन आदिकवियों की पूरी रचनाएँ उपलब्ध न होकर इक्की-दुक्की रचनाएँ ही मिल पाई हैं। उपलब्ध रचनाओं में बालकृष्ण के नाटक रूप का वर्णन अत्यन्त मनोहर एवं सहज है–

पंज सन्त नारियाँ, जशोदे जाइ पुकारियाँ।
काहून करदा खुआरियाँ, नेई पन्द पैहन दिन्दा ऐ।

उपरोक्त इस पद में पाँच-सात स्त्रियाँ माता यशोदा को उलाहना देते हुए बता रही हैं कि कृष्ण हमें बहुत सताता है। हम दूध बेचने जा रही थीं कि हमें अकेला देखा हमारा सारा दूध छीन लिया और हमारे देखते ही देखते पी भी लिया और ऊपर से दाँत, दिखा, नकलें लगाकर हमें चिढ़ाता है।

दूसरे आदि कवि रघुवीरदास हुए हैं जो मयादास के शिष्य थे और कृष्ण के अनन्य भक्त भी। ये कृष्णलीला के लिए कृष्ण का पहनावा धोती और मुकुट बगैरा अपने हाथों से सजाते थे। ये नियमानुसार प्रतिदिन एक डोगरी कविता की रचना करने के पश्चात् भोजन किया करते थे। इनकी कविता में कृष्ण विरह का वर्णन इस प्रकार पीड़ित

1. आजादी पैड्ले दी डोगरी कविता; पृष्ठ 11; सम्दा. ओम गोस्वामी।

करने वाला दिखाया गया है कि श्याम के वियोग में सृष्टि की कोई भी नेमत कवि के मन नहीं भाती। कविता इस प्रकार है—

शाम बाबू शैल मिकी लग्गै नेई बिन्दराबन,
जमुना दा नीर म्हाड़े मनै गी जलांदा ओ।

कवि शामदास रघुवीरदास के शिष्य और मयादास के पोता शिष्य थे। ये सखी बनकर नाचते थे और बचपन से वुढ़ापे तक सखी-भाव में मग्न रहे। वृद्धावस्था में भी ये सखीरूप धारण कर कृष्ण मग्न हुए नाचते और गाते रहते थे। किन्तु दुर्भाग्य से इनका इस भाव से सम्बन्धित कोई भी पद उपलब्ध नहीं हो सका।

आनन्द, प्रेम और सौन्दर्य के आदर्श, गो, गोप और गोपीजन के वल्लभ लोक के रंजक नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण हैं। ये दोनों रूप एक ही व्यक्ति के जीवन के दो पहलू हैं। मन स्वभावत: आनन्द और सौन्दर्य का प्रेमी होता है। मानसिक एकाग्रता भी सौन्दर्यानुभूति में अधिक मात्रा में तथा सहज रूप से होती है, अत: अधिकतर कवियों ने रूप और सौन्दर्य के आकर्षण द्वारा रसरूप ब्रह्म कृष्ण की उपासना की है। मानव जीवन में बाल्य और यौवन आनन्द सौन्दर्य और प्रेम की भावना से ओतप्रोत रहते हैं। इसलिये डोगरी कवियों ने भी कृष्ण जीवन के इन दो पक्षों का चित्रण अधिक सजीवता से किया है। डुग्गर के हर घर में बाल जन्म के अवतार पर 'बिहाई' नामक लोकगीत गूँजते सुनाई पड़ते हैं—

घर नन्द दे बज्जन बधाइयाँ
घर नन्द दे जी''

इन गीतों के द्वारा प्रत्येक नवजात बालक को श्रीकृष्ण और बालक के पिता को नन्द कहा जाता है। विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले सुहागों (लड़की के विवाह पर गाए जाने वाले लोकगीत) एवं घाड़ियों (लड़के के विवाह पर गाए जाने वाले लोकगीत) में भी लड़की को राधा तथा वर को कृष्ण की संज्ञा दी जाती है। एक सुहाग के बोल हैं-

नीं तू आंगन आ रानी राधके,
तुगी काहन कृष्ण बलामदे।

अथवा एक दूसरे गीत में-

कन्या ते साढ़ी राधके,
तुम ओ कृष्ण मुरार
लेई जानी रथै पर चाढ़ियै।।

डोगरी काव्य में कृष्ण की किशोरावस्था का चित्रण अत्यन्त मर्म-स्पर्शी है। यह वर्णन जहाँ एक ओर लौकिक प्रेम की विरह वेदना एवं तड़पन-सुलगन से सहृदयों के हृदयों को आहत करता है वहाँ दूसरी ओर पारलौकिक प्रेम का मार्ग दिखाकर उस निराकार-निर्विकार परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति का मार्ग सहज बना देता है। इस संदर्भ में कृष्ण मीरा और गोपी-ग्वालिनों के विरह वर्णन सहसा सजीव हुए लगते हैं। मीरा-हरि प्रेम की छवि कवि रामधन की कविता में बहुत ही निराली एवं न्यारी है। कृष्ण-प्रेम में दीवानी डुग्गर की कोई मीरा दिन-प्रतिदिन क्षीण होती हुई अपनी सुधबुध खो बैठी है। घर-परिवार के लोग इस उपचारहीन रोग से चिन्तित होकर जादू-टोने के द्वारा उपचार का कोई साधन ढूँढ़ रहे हैं, किन्तु मीत रूपी श्रीकृष्ण मिलन की प्यासी यह मीरा सब तमाशा देख-देखकर उकता गई हैं, अब उससे और मूर्ख नहीं बना जाता, सहसा बोल पड़ती हैं:-

कैसी जे पुच्छना जड़ियां?
कैसी जे पुच्छना ठौगरद्वारा!
नेई मेरे बिच्च भूत मसउन ऐ
नां गै मेरे बिच्च खुट्ट खटला।

कृष्ण प्रेम का अमृतपान करने वाली मीरा को घर-गृहस्थी की कोई सुध-बुध नहीं रहती और जोगन बन साधु-सन्तों के साथ वन-वन भटकती फिरती है। इस प्रकार के चित्रण भी डोगरी लोक-काव्य में हुए हैं। एक लोकगीत में मीरा की यही अवस्था चित्रित हुई है:-

तुस आयूं जानी जान प्रभु,

केह् भेत छपैले कोई।
मीरां जोगन होई।।

मीरा की सास को उसके ये आचरण भले नहीं भाते। वह कई बार उसे रोकती-टोकती हैं, परन्तु मीरा पर कोई बात असर नहीं करती वह सास की हर बात का प्रत्युत्तर देते हुए अपनी स्थिति स्पष्ट करती हैं—

मीरा लगी ऐ शाम भजन को,
सस्स जे आखदी सुन मेरी मीरां
एह् केह् लाज तूं लाई
छोड़ी छित्ते सब मैह्ल-चपारे
जंगल जा कुटिया पाई।।....

इसी भाँति रेशमी कपड़ा, कण्ठे-आभूषण आदि पहनना छोड़ भगवा लिवास और तुलसी की माला तथा साधु कड़े धारण करने पर भी मीरा की सास को आपत्ति होती है, परन्तु मीरा को उनमें से किसी भी चीज की चिन्ता या चेष्टा नहीं, वह केवल श्याम-मिलन को ही अपना जीवन-सार समझती हैं।

डोगरी काव्य में गोपियों का विरह-वर्णन भी भक्ति की सरसता के साथ किया गया है। विप्रलम्भ शृंगार के माध्यम से जीवात्मा और परमात्मा के वियोग का चित्रण अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। एक गीत में इस विरह का चित्र इस प्रकार है—

अडज मथरा शाम चले
सखियें दी अक्खी दा नीर बगै
तेरा नां ऐ रघुनन्दन,.....

प्रस्तुत गीत में सखियाँ रूपी जीवात्माएँ मोहनरूपी परमात्मा के दर्शन एवं प्राप्ति के लिये अत्युत्कंठित प्रतीत होती हैं।

डोगरी काव्य में चित्रित सम्पूर्ण होली चित्र भगवान श्रीकृष्ण के प्रति विभिन्न भावों से ओतप्रोत है। कहीं यह कान्ह-गोपियों के प्रीत रंगों से रंजित होली अत्यन्त सुखद वातावरण प्रदान करती है तो कहीं

वियोगावस्था में होली के अवसर पर बनने वाली स्थिति हृदय विदारने लगती है। डोगरी कवयित्री सन्तोष खजूरिया की कविता में तो सुखद वर्णन का चित्र प्रेम, सद्भाव और सद्व्यवहार का उदाहरण प्रस्तुत करता है–

खेढ़ी गे काह्न गोपियाँ होली गी
रंगे दे बहाने ओ प्रीत खलारी गे...

किन्तु दूसरी ओर होली से सम्बन्धित एक लोकगीत में कृष्ण के वियोग में सृष्टि की प्रत्येक वस्तु आकुल हुई दिखाई पड़ती है। गाय-बछड़े तो क्या वन-उपवन, नदी-नाले, चाँद-चकोर, जीव-जगत के साथ-साथ प्रकृति भी इस अवसर पर विरह शोक से पीड़ित है–

होली खेढो रे द्वारका वाले
गवां बी कलपन, बछड़े बी कलपन
कलपन बाल गोआले
होली खेढो.....

विरह की आकुलता इतनी प्रचण्ड होती है कि सहज नहीं होती। इस आतुरता से छुटकारा पाने एवं इसकी कंटीली सेज को पुष्पों-पल्लवों की सेज में परिणत करने की इच्छा से सखियाँ कृष्ण के मित्र ऊधो को अपना संदेश सुनाती हैं। कवि हरदत्त द्वारा रचित यह डोगरी भजन इस प्रकार है–

ऊधो सनेहा लेई जायां, लेई जायां ओ।
मेरियां गल्लां सरियां समझायां, सरियां समझाया
ओ सनेहा लेई जायां.....

डोगरी काव्य में भगवान श्रीकृष्ण के निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अन्तर्यामी, तारनहार, भवसागर को पार कराने वाले, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आदि अनेक गुणों का बखान करते हुए ''ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'' के चरम बिन्दु की ओर संकेत किया गया है–

बांगे दे फुल्ल भौरें दे जुठे,
सच्चा कृष्ण दा नां हरि।...

इस भजन में भावरूप श्रीकृष्ण को ही परम सत्य मानकर संसार की अन्य सभी वस्तुओं को मिथ्या कहा गया है। एक अन्य भजन का भी यही भाव है—

कृष्ण मैहल बनाया सुहामा,
आपूं रौंहन्दा सुरगपुरी।....

अर्थात् हरि का ही बस एक नाम सच्चा है बाकी सारा संसार मायाजाल अथवा दृष्टि का धोखा है।

भगवान 'बांसुरी वाला' तो सर्वव्यापी है। यह हमारा भ्रम है कि हम उसे मन्दिरों, मस्जिदों आदि अन्य धार्मिक स्थानों पर ढूँढ़ते हैं। किसी लोक कवयित्री की वाणी इस विषय में कितनी स्पष्ट है—

तेरा मेरा कुसै निं पाया भगवान बौंसरी वाले
खुएं पर तुप्पी आई
झीरी गी पुच्छी आई
डोक्लें च छप्पी रेह, भगवान बौसरी वाले।....

हे भगवान तेरी माया तो अपरम्पार है, इसका भेद जानने वाला कोई नहीं यह सत्य भी डोगरी काव्य में अत्यन्त सहज रूप में निहित है। कुटिया के स्थान पर सुन्दर महल खड़ा देख सुदामा चकित रह गए और फिर भगवान की लीला जान मन-ही-मन कृतज्ञ हो गए। एक लोकभजन में इस घटना का वर्णन भगवान की अपार महिमा का गायन हुआ मिलता है—

सुदामा सोच करे मन माहि
ए घर मेरा नाई
मैं निर्धन अति निर्धन बामन
चरजनिं समझा आई।.....

भगवान श्रीकृष्ण के इसी वास्तविक भाव को पहचानते हुए डोगरी कवियों, गीतकारों ने अपनी रचनाओं के द्वारा उसे श्रद्धा-पुष्प अर्पित करते हुए उसकी शरण ग्रहण की है। डॉ० कर्ण सिंह द्वारा एक भजन से प्रभु के प्रति उनकी आस्था का अनुमान किया जा सकता है—

कृष्ण कन्हैया, आया मैं तेरे द्वारा-2
मिक्की वर दे सागर पार
दरस दिखाई जावां देवा ओ.....

एक अन्य कवि श्री जगदीश चन्द्र शर्मा ने भी इस मनुष्य जन्म को सार्थक बनाने के लिये हरिभजन का मार्ग ही मुक्ति का परमसाधन माना है–

हरि ओम दा नां जपदे खो सियाराम दा नां जयदेखो
बड़े भागें कन्नै तूं एका देह पाया.....

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत.....युगे युगे...की अवतरित होने की भावना भी डोगरी कविता में चित्रित की गई है। कवि हरदत्त की कविता 'भारत माता दी श्रीकृष्ण अग्गें प्रार्थना' इस तथ्य की पुष्टि करती हुई लगती है। भारत-भू भगवान श्रीकृष्ण से विनती करते हुए कह रही हैं–

मेरे कैसे गी जगाई करी जाना महाराज
बिगड़ी बनाई करी जाना महाराज
दुखै कन्नै रुली गेइयां ओ मोहना, मेरे देसैं.....

अर्थात् हे प्रभु दु:खों-विपत्तियों से मैं हाल से बेहाल हो गई हूँ, इसलिये आओ और मेरी बिगड़ी बना जाओ, मेरे सोए हुए देश को जगा जाओ।

इसी प्रकार–

होई गेई आं मांदी आइयै दिक्खी जाएयां हाल,
टब्बरै गी गेइयों मेरा जरा बी ख्याल,
मिट्टी बांमू बुली गेइयां ओ मोहन।।....

कहने का भाव यह है कि मेरी धरती पर वेदोचित कोई मर्यादा अब नहीं रही जिसके कारण सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो अवनति की ओर चला जा रहा है, अत: हे मोहन एक बार आकर मेरा हाल देख जाओ और फिर मर्यादा का संचार कर मेरी रक्षा करो। एक लोकगीत में भी कृष्ण

को अवतार रूप देते हुए लोककवि ने कहा है—

कृष्ण जदूं नेभा अवतार,
कम्बेआ कैंस दा दरबार।।

डोगरी कवयित्री पद्मा सचदेव को खेद है कि इस कलियुग में चीरहरण की जाती द्रोपदियों की लाज बचाने वाला कोई कृष्ण नहीं मिलता....

औं बिन्दराबन होई आई, मी लब्यै नेईशाम कुतै।
तेरे बस्स मेरी लज्जेआ ऐ।
में ए सारा जग तज्जेआ ऐ।।

अन्ततः यह कहना अनुचित न होगा कि भारत भावरूप श्रीकृष्ण के कथा-तत्त्व ने भारत को विभिन्न संस्कृतियों और भाषा-समाजों को इस भाँति एकसूत्रता में अनुस्यूत किया हुआ है कि अन्यथा कई भाँति के अन्तर-भेद होने पर भी सभी में से अनेकता में एकता की गन्ध निरन्तर आती रहती है।

●●

उर्दू साहित्य में श्रीकृष्ण

❀ डॉ० नजीर मुहम्मद

भारत के मानसरोवर में भाषाओं, विचारधाराओं, भौगोलिक क्षेत्रों और विविध प्रकार की असमानताओं के नीचे एकता, समन्वय तथा राष्ट्रीयता की जो लहरें प्रवाहित हो रही हैं, वे प्राय: आँखों से ओझल रह जाती हैं, क्योंकि हम भाषा तथा लिपि की विभिन्नता को देख लेते हैं, लेकिन साहित्यिक समानताओं की आधार-भूमि पर विचार नहीं करते। कतिपय मनोरम दृश्य, सुन्दर वस्तुएँ तथा मानवीय भावनाएँ ऐसी हैं, जो सदा-सर्वदा से ही जन-जन को आकर्षित करती आई हैं।

ब्रजभूमि और ब्रज-संस्कृति सदा से ही मानव-मन को मोहित करती रही हैं। ब्रजभूमि की परम सौभाग्यप्रदायिनी घटना है—कृष्णावतार। भगवान कृष्ण केवल भक्ति के ही नहीं, विविध ललित कलाओं के आलम्बन बने। उनके पावन चरित्र से स्थापत्य कला, मूर्तिकला, संगीत एवं काव्य सभी को जीवन प्राप्त हुआ।

भक्तों ने ईश्वर के विष्णु अवतारों में प्राय: राम और कृष्ण को ही अपने प्रेमभाव का उपास्य और इष्ट माना। राम और कृष्ण में ईश्वरत्व की भावना कब से प्रारम्भ हुई, यह प्राचीन भारतीय धार्मिक इतिहास का एक स्वतन्त्र विषय है, जिसके सम्बन्ध में कुछ खोजें हुई हैं और कुछ होनी हैं।

हिन्दी के निर्गुण भक्तों ने अव्यक्त, अगोचर राम को लिया है, राम को विष्णु के अवतार रूप में स्वीकार नहीं किया। सगुण भक्तों के लिए राम और दशरथ पुत्र राम दोनों एक हैं। अवतरित मानव रूप राम ने वेद और लोक मर्यादा का पालन किया। वे परिवार, समाज और लोक में

सद्भावना, सद्व्यवहार के आदर्श प्रतीक बने। समस्त ईश्वरीय सद्गुणों के वे आगार हैं। हिन्दी के रामभक्त कवियों ने विशेष रूप से तुलसीदास ने राम के उदात्त, भव्य और आदर्श चरित्र को बड़े सरस ढंग से 'रामचरित-मानस' में विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है।

कृष्ण के दो रूप मान्य हुए। एक राजनीतिक, योगीश्वर, लोक-पालक, धर्म-रक्षक, विष्णु के अवतार, गीता के उपदेशक वासुदेव कृष्ण हैं। द्वितीय आनन्द, प्रेम और सौन्दर्य के आदर्श गो० गोप, गोपीजन वल्लभ, लोक-रंजक, नन्दनन्दन कृष्ण। ये दोनों एक ही व्यक्ति के जीवन के दो पहलू हैं। मन स्वभावत: आनन्द और सौन्दर्य का प्रेमी होता है और मानसिक एकाग्रता, सौन्दर्यानुभूति में अधिक मात्रा में और सहज रूप में होता है। कृष्ण-भक्तों ने रूप और गुण के सौन्दर्य के द्वारा रस-रूप-ब्रह्म कृष्ण को उपसिक्त किया है। राधा और गोपी रस रूप भगवान की आनन्द अथवा रस की श्रुतियाँ हैं। राधाकृष्ण में बाल्य और यौवन— ये दो काल आनन्द, सौन्दर्य और प्रेम की भावना से ओत-प्रोत रहते हैं। इसीलिए कृष्ण-भक्तों ने कृष्ण जीवन के इन दो पक्षों को ही अधिक ग्रहण किया है। इन्होंने लोक को समस्त मानसिक वृत्तियों को समेटकर कृष्णार्पित किया है।

भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में भगवान राम और कृष्ण के चरित्र का चित्रण हुआ है। लेकिन कवियों की कला-कोकिला कृष्ण कथा का कलकल निनाद करने में आनन्दित होती रही है। अन्य भाषाओं के समान ही उर्दू भाषा में राम और कृष्ण दोनों के सम्बन्ध में रचनाएँ तो हुई हैं, लेकिन कृष्ण-चरित्र का वर्णन राम के बजाय अधिक हुआ है।

सैयद इंशा अल्लाह खाँ ने कृष्ण-भक्तिपरक रचनाएँ की हैं, कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

जब छांडि करील की कुंजन को,
वहीं द्वारका में हरि जाय ठये।
कठधौरा के धाम बनाय घने,

मतराजन के महराज भये।
तज मोर के पंख और कामरिया
कछु औरहिं नाते हैं तोड़ लिये।
धीर रूप नये लिये नेह नये,
अब गइयाँ चराइया भूलि गये।

और भी—

राधिका को चैन क्या आवे

×

कर्म अगर वाकई काफूर उड़ जाए।

उर्दू के कवियों में श्रीकृष्ण जी की विविध लीलाओं का सरस वर्णन मियाँ नजीर अकबरावादी ने किया है। उन्होंने कृष्ण चरित्र तथा रास-लीलाओं के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर पदों की रचना की है। वे कृष्ण जन्म के सम्बन्ध में कहते हैं—

था नेक महीना भादों का अरु दिन बुध गिनती आठन की।
फिर आधी रात हुई जिस दम और हुआ नक्षतर रोहिणी भी।
सुभ साइतनेक महूरत से वां जन्मे आकर कृष्ण जभी।
उस मन्दिर की अंधियारी में चहुँ ओर उजाली आन भरी।।

कंस के कारावास में उत्पन्न हुए बालक कृष्ण को लेकर वासुदेव गोकुल को जाते हैं। वे कंस के भय से बहुत भयभीत हैं। कारावास के सभी फाटक खुल जाते हैं। पहरेदार सो जाते हैं और वासुदेव कृष्ण को गोकुल में नन्द को दे आते हैं। इस समस्त वातावरण का सुन्दर चित्र 'उफक' लखनवी ने इस शब्दों में उपस्थित किया है—

बाप को खौफ है मज्जिस के खबरगीरों का।
खुश्क खुं भरता है डर कंस की तकदीरों का।।
रास्ता खोल दिया कृष्ण ने तदबीरों का।
दर खुले टूट गया सिलसिला जंजीरों का।।

कंस से भयभीत वसुदेव बालक को गोकुल ले जाते और यमुना

की बहती हुई धार एवं कृष्ण के पद-स्पर्श से जमुना के शान्त मुद्रा में बहने का वर्णन उर्दू के प्रख्यात शायर 'सागर' निजामी ने अपनी कविता जमुना में अत्यन्त मोहक रूप में किया है। वे जमुना को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

तेरे साहिल पर कभी आया परेशां वसदेव
कंस का मारा हुआ मकहूर-ओ-कहरां वसदेव
कंस के जुल्म-ओ-सितम की सख्त हैबत दिल पै थी
मोरधन पर इक नजर थी और इक साहिल पे थी
याद है अब तक तेरा तूफाँ उठाना याद है
मोरधन को देखकर मौजों पे आना याद है
किस कदर जादू भरा था शोक-ए-पाबोसी तेरा
तेरी बेताबी पर आखिर कृष्ण को रहम आ गया
कृष्ण ने अपना कदम बहर-ए-रवां पर रख दिया।
बोसे देकर कृष्ण के कदमों को तू बहने लगी
माइल-ए-मकसूद-ओ महब-ए-जुम्तज् बहने लगी।

कृष्ण जी का बचपन साधारण बच्चों का सा न था। वे ग्वालबालों के साथ गायें चराते, खेल-कूद और रासलीला करते और बाँसुरी बजाते हुए सबके हृदय को मोह लेते थे। कृष्ण की बंसी बजाने का मोहक वर्णन बहुत से उर्दू कवियों ने किया है। एहसान बिनदानिशा कृष्ण की बाँसुरी बजाने की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

ब्रजवासियों में श्याम बांसुरी बजाए जा।
मस्तियाँ उबल पड़े, मद भरी सदाओं से।
प्रेम रस-बरस पड़े, मनचली हवाओं से।
मुसकुरा रही है शाम, श्याम मुस्कराए जा।।

वृन्दावन में ही गोपियों और राधा के साथ कृष्ण की उस कथा की कल्पना की गई जो अद्यावधि भक्तों और गायकों की जिह्वा पर नृत्य करती रहती है। आज हमारे विचारकों की यह विशेषता हो गई है कि वे

प्रत्येक बात को प्राचीनतम और आदर्श रूप में उपस्थित करना चाहते हैं। प्रचलित कृष्ण-कथा में रास-विलास, हास-परिहास, गोप-गोपी आदि में भी वे औचित्य निरखते हैं और राधा-नाम, कृष्ण-क्रीड़ा का प्रसंग अधिक प्राचीन पोथियों में प्राप्त न होने के कारण उन्हें आज अस्वीकार्य-सा है। वे कृष्ण के इस मनमोहक चरित्र को आधुनिकता में उड़ेल देना चाहते हैं।

वे कृष्ण को महान वीर, योगी, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ आदि बना देने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हैं। उन्हें अब कृष्ण-चरित्र के सरस अंशों पर शर्म आने लगी है। लेकिन वे यह नहीं सोच पा रहे हैं कि कृष्ण का व्यापकत्व, महत्व एवं श्रेय दार्शनिक होने में नहीं है। वे दार्शनिक होने के कारण जन-जन की जिह्वा पर विराजमान नहीं हैं। वे वीर होने के कारण भयभीत नहीं हैं। वे राजनीतिज्ञ होने के कारण पूज्य नहीं बने हैं। इस भारत-भूमि पर न जाने कितने दार्शनिक वीर एवं राजनीतिज्ञ हुए लेकिन धरती की धूल ने सबको आत्मसात् कर लिया। आज इतिहास भी उनका नाम नहीं जानता। कृष्ण भी यदि यदुकुल के अधिपति, वीर, राजा या कंसारि ही होते तो कदाचित् भारत की जनता के हृदय-हार न बन पाते। 'गोपीजन बल्लभ', 'राधाधर सुधापान', 'शालि बनमालि' और 'गोपीजनप्रिय' होने के कारण ही वे समस्त भारतवर्ष में व्याप्त होकर न जाने कितने आर्तजनों के हृदय के सहारे बने हुए हैं। विद्वान विचारकों के ऐसे शुष्क निर्णय न जाने कितने भाव-विभोर भक्त हृदयों को चूर-चूर कर देंगे, अब तो कृष्ण-कन्हैया ही रक्षक हैं। कृष्ण की रास-लीला, वंशी-वादन आदि के अनेक चित्र उर्दू कवियों ने उपस्थित किये हैं। कृष्ण की वंशी की ध्वनि चराचर जगत् को रसलीन कर देने वाली थी—

गवालों में नन्दलाल बजाते वह जिस घड़ी।
गायें धुन उसकी सुनने को रह जातीं सब खड़ी।

गलियों में जब बजाते तो वह उसकी धुन बड़ी।
लै लै के अपनी लहर जहाँ कान में पड़ी।
सब सुनने वाले कह उठे जय-जय हरी-हरी।
ऐसी बजाई किशन कन्हैया ने बाँसुरी।।

कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन उर्दू के अनेक कवियों ने किया है। कालिय दमन लीला, रुक्मिणी लीला, सुदामा-चरित्र का सरस वर्णन मियां नजीर अकबराबादी ने किया है। नजीर बनारसी की कृष्ण जी के सम्बन्ध में लिखी हुई पद्य आधुनिक विचारधाराओं से प्रभावित है। वे कृष्ण जी को देश की रक्षा करने वाले महान पुरुष के रूप में देखते हुए अपने शब्दों में कहते हैं—

दौड़ा दी मुहब्बत नस-नस में, वंशी के बजाने वाले ने।
संकट में लिया है छुप के जनम, संकट से छुड़ाने वाले ने।
संसार के मन को मोह लिया, इक गाय चराने वाले ने।
फिर चीर-हरन के बाद कोई, नंगी नहीं उतरी जमुना में।
हर एक का परदा रखा है, उस परदा उठाने वाले ने।
घनश्याम तुम्हारे बल पर, हम सब अब भी गरज कर कहते हैं।
आजाद किया इन्सानों को, इक जेल में आने वाले ने।

नजीर अकबराबादी ने रुक्मिणी हरण लीला का वर्णन किया है जबकि कृष्ण रुक्मिणी को लेकर चले जाते हैं—

ज्यूँ ज्यूँ हरि को आने में देर होती थी।
कोठे पर अपने रुक्मिणी वाँ चढ़ के रोती थी।।
तकती थी हरि की राह न जगती थी न सोती थी।
बेकल की तरह फिरती थी और होश खोती थी।।
ले रुक्मिणी को हरि हुए फिर द्वारका-रवाँ
जब आन पहुँचे खुश हुए सब नर औ नारियाँ।।

महाभारत के मैदान में अपने ही सगे-सम्बन्धी, वयोवृद्ध और गुरुजनों को सामने युद्ध करने के लिए खड़े देखकर अर्जुन का हृदय

काँप उठा, वह ''सादन्ति मे गात्राणि मुखं परिशुष्यति'' की दशा में प्राप्त हो गया। उस समय भगवान कृष्ण ने गीता का जो ज्ञानोपदेश दिया वह आज भी संसार के लिए अद्वितीय आदर्शन बना हुआ है। गीता-ज्ञान से प्रभावित होकर अर्जुन ने महाभारत का भयानक युद्ध लड़ा जिसमें कृष्ण जी की बुद्धि और चतुरता से शक्तिशाली कौरवों की पराजय और सत्य और ईमानदारी के लिए युद्ध करने वाले पाण्डवों की विजय हुई। सीमांत अकबराबादी ने अत्यन्त सुन्दर और अच्छे ढंग से श्रीकृष्ण जी के बारे में लिखा है–

पैगम्बरों की कभी रस्म अदा की उसने।
ग्वाला बन के कभी सब्जू: जार से खेला।
बहा दिए कभी ठोकर से प्रेम के चश्मे।
कभी जमुना कभी गंगा की धार से खेला।
दिलों में रंगे मुहब्बत को उस्तवार किया।
सवादे हिन्द को गीता से नग्ता वार किया।
हंसी-हंसी में वह खुद दर्द झेलता ही रहा।
करिश्म: बाज जमाने खेलता ही रहा।।

हिन्दी काव्य में श्रीकृष्ण जी का वर्णन कहीं-कहीं अत्यन्त कामुक शृंगारी रसिक के रूप में किया गया है। संस्कृत कवि जयदेव, चण्डीदास की परम्परा से आई हुई भक्तिपरक शृंगारिता को हिन्दी के काव्य में अधिक प्रसार मिला। विद्यापति, सूर और अष्टछाप के कवियों में चित्रित कृष्ण चरित्र की रीतिकालीन कवियों ने अधिक गर्हित बना दिया। वे राजदरबारों में नायिका के नख-शिख वर्णन के साथ-साथ राधा-कृष्ण को साधारण नायक-नायिका के रूप में चित्रित कर रहे थे। ''राधिका कन्हाई सुमिरन'' का बहाना लेकर शृंगार वर्णन में संलग्न थे। भगवान कृष्ण जो भारतवर्ष की बहुत बड़ी जनता के परमाधार हैं और जिनको परम-ब्रह्म का पूर्णावतार माना जाता है-''कृष्णस्तु भगवान स्वयं'' उनको साधारण नायक के रूप में चित्रित कर हमारे उपास्य छवि

को धूमिल कर रहे थे।

उर्दू के कवियों ने भगवान कृष्ण की विविध लीलाओं का सरस वर्णन किया, लेकिन कामुकता की छींट तक नहीं छू सकी। सर्वत्र कवियों को श्रद्धा के दर्शन होते हैं। मियां नजीर अकबराबादी ने कृष्ण कथा का वर्णन करके अमित भक्ति का प्रदर्शन किया है—

तारीफ करूँ अब मैं क्या-क्या, उस मुरली अधर बजैया की।
नित सेवा कुंज फिरैया की, और वन वन गऊ चरैया की।
गोपाल बिहारी बनवारी, दुख हरन महर करैया की।
गिरधारी सुन्दर श्याम बरन और हलधर जी के भइया की।
यह लीला है उस नन्द ललन, मनमोहन जसुमत छैया की।
रख ध्यान सुनो दण्डौत करो जै बोलो किशन कन्हैया की।।

वली मुहम्मद नजीर अकबराबादी—

मैं क्या-क्या वस्फ कहूँ यारो।
उस स्याम बरन औतारी की।।
श्रीकृष्ण कन्हैया मुरलीधर।
मन मोहन कुंज बिहारी की।
गोपाल मनोहर साँवलिया
घनश्याम अटल वनवारी की।
जो हरि की आसा रखते हैं
हरि उनकी आस बचाते हैं।
जिस ज्ञान में हरि से नेह बढ़े
वह ज्ञान उन्हें खुश आता है।
सुख उनके मन में आता है
दुख उनके मन से जाता है।

अख्तर शीरानी ने 'बाँसुरी की धुन' नामक कविता में ब्रजभूमि तथा कृष्ण की बंसी की चर्चा बड़े विस्तारपूर्वक की है। वे कहते हैं—

यह रंग-ओ-बू के तूफाँ, यह विरज के नजारे,
यह जन्नते, ख्यावां, जमुना के यह किनारे।
हाँ-हाँ वह बंसी वाला, चूकी नजर हमारी,
यह बिरज का है ग्वाला, है नन्द का मुरारी।
इक जोश-ए-सरमदीं में वंसी बजा रहा है,
दुनिया-ए-बेखुदी में फितने उठा रहा है।

उर्दू के कवियों ने कृष्ण का नाना प्रकार से वर्णन किया है, किन्तु जितना अधिक उर्दू कवियों का 'बांसुरी की प्रशंसा' में रमा है, उतना अधिक किसी अन्य विषय में नहीं रमा। प्रसिद्ध उर्दू-कवि जोश मलीहाबादी ने 'मुरली' नामक कविता में इस विषय में बहुत सुन्दर लिखा है—

यह किन ने बजाई मुरलिया,
हिरदे में बदरी छाई।
गोकुल बन में बरसा रंग,
बाजा घर-घर में मृदंग,
खुद से खुला हर एक जुड़ा
हर एक गोपी मुस्काई।

'शाद' अजीमाबादी ने जमुना की लहरों और कृष्ण की बंसी तथा दानलीला का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। उन्हें जमुना की लहरें शीशे से भी अधिक नाजुक लगती हैं और गीता के सुन्दर सपनों से परे उन्हें कृष्ण की बंसी सुनाई देती है। शाद अजीमाबादी की कविता 'जमुना की लहरें उठती हैं' का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

शीशे से भी नाजुक लहरों पर कितनी परछाई पड़ती हैं।
जब ताज महल कुछ कहता है मुमताज की सूरत हँसती है।
गीता के हंसी ख्वाबों से परे घनश्यामी बंसी बजती है।
जमुना की लहरें उठती हैं, कुछ कहती हैं, कुछ गाती हैं।

दान लीला का उदाहरण—

मोरी डगर चलत पत लीनी आज
तुम्हें श्याम विहारी न आवे लाज।।
बरजोरी मोरी बहियाँ मरोरी।
ऐसी ढिठाई पर परे री गाज।।
सब ग्वालिन सो दान माँगतु है।
क्या ब्रज में है तुम्हारा राज।।

हामिद उल्लाह 'हफसर' मेरठी विशुद्ध भारतीय कवियों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने लोकतत्त्वों पर आधारित उर्दू कवियों के अनेक गुलदस्ते पाठकों को प्रदान किये हैं। उन्होंने बच्चों से लेकर बूढ़ों तक के लिए विभिन्न सांस्कृतिक कविताएँ लिखी हैं। बाँसुरी के सम्बन्ध में उनका एक उदाहरण प्रस्तुत है, 'जो उनकी कविता बाँसुरी बजाये जा' से उद्धृत है—

बेखुद केफ-ए-नग्म: को वज्ज में आज लाए जा।
दिल को तो दर्द कर दिया, दर्द को दिल बनाए जा।।
हिज्र का राग गाये जा, नग्म ए-गम सुलाए जा।।
ए गदा-ए-वे नवप, बांसुरी बजाए जा।।

उर्दू के प्रसिद्ध कवि बालमुकुन्द 'अर्श मलस्यानी' ने कृष्ण जी के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। इनकी कविता 'बांसुरी' का उदाहरण उपस्थित है—

यह किसने बजाई बांसुरी
कुछ पाके इशारे जमुना के,
किसने यह किनारे जमुना के
इक तान उड़ाई पद भरी।
यह किसने बजाई बांसुरी।।

अर्श मलस्यानी ने इसी कविता में कृष्ण जी की गोपियों के रखवाले एवं चितचोर के रूप में प्रस्तुत किया है—

काहिन तो नहीं मतवाला है,
हम गोपियों का रखवाला है,
किसकी है यह सूरत सांवरी।
यह किसने बजाई बांसुरी।।
रसिया सावन की रातों का,
भीगी-भीगी बरसातों का,
चित चोर निरंजन नर हरी।
यह किसने बजाई बांसुरी।।

अपनी एक अन्य कविता में 'अर्श' मलस्यानी कृष्ण और संसार के सम्बन्ध का वर्णन करते हैं। वे अनेक उदाहरण देकर कहते हैं कि इस संसार में कोई भी ऐसा नहीं जिसका किसी से सम्बन्ध न हो। कृष्ण का सम्बन्ध बांसुरी से है और इस बांसुरी की लय के प्रभाव में मैं पूर्णतः आबद्ध हूँ।

जरदार के दीनार तो नादार के पैसे,
हर शै को माने में है निसबत किसी शै से।
रिंदी को सुराही से, सुराही को है भय से,
घनश्याम को बंसी से, तो बंसी को है लय से।
वाबस्ता है इस लय से अगर कोई तो मैं हूँ।
है इसका जो पाबन्द-ए असर कोई तो मैं हूँ।

पं० ब्रजनारायण 'चकबस्त' ने कृष्ण कन्हैया नामक कविता में कृष्ण जन्म लेकर कुरुक्षेत्र के युद्ध तक का मनोहर वर्णन किया है। उनके निम्न पद द्रष्टव्य हैं–

आज सोती हुई दुनिया की है किस्मत बेकार।
साल भर बाद वह रात आई है दिन जिस पे निसार।।
यही बिजली थी यही अब यही जोश-ए बहार।
जब कन्हैया के जनम से हुई रोशन शब-ए तार।।

कैद खाने के सिपाही में वह तारा चमका।
जिससे इन्सान की हस्ती का सितारा चमका।।
अब न अर्जुन है न वह न ज्ञान का दरिया बाकी।
दिल लुभाने को है दुनिया का तमाशा बाकी।।
बांसुरी ले के नया नया राग सुना दे कोई।
सो रहा है दिल-ए-मायूस जगा दे कोई।।

श्रीकृष्ण के साथ ही ग्वालबाल और गोपिकाओं का वर्णन भी उर्दू काव्य में हुआ है। श्री मनोहर लाल रावत अपनी ग्वालिन नामक कविता में कहते हैं–

इसकी आँख में प्रीत का रस है इसके मन में प्रेम की लहरें।
इसके सर पर दूध की मटकी, इसके घर में दूध की लहरें।।
आओ इससे बढ़कर पूछें क्यों री ग्वालिन श्याम कहाँ है।
उसके बिन है भारत है सूना, उसके दिल अरमान कहाँ हैं।
वह जो मिले तो उससे कहना, श्याम मुरारी फिर आ जाओ।
बोल करो फिर बाला अपना, भारत को फिर आ जगाओ।।

शाह तुराब अली (तुराब) काकोरवी (1826) ने भारतीय संस्कृति के प्रभाव को प्रकट करने वाला कसीदा लिखा है–

खूब छाया है सारे गोकुल व
मथुरा में बादल,
रंग में आज कन्हैया के डूबा है बादल।
राजा इन्द्र है परी रवानाए मैं का पानी,
नगमये नै का श्रीकृष्ण कन्हैया बादल।

X X X

कृष्ण नगरी तुझ पे हो लाखों सलाम,
तू है मेरी मरकजें महरो वफ।
बांसुरी से तेरी फूटे हैं जो गीत,
सुन रहा हूँ आज भी उनकी सदा।

हफीज जालन्धरी अपनी 'कृष्ण कन्हैया' नामक कविता में देश के दुख-दर्द मिटाने के लिए भगवान कृष्ण से एक बार फिर भारत में आने की प्रार्थना करते हैं—

दुनिया से निराला, यह बांसुरी वाला, गोकुल का ग्वाला।
वह गोपियों के साथ, हाथ में दिए हाथ, रक्सां हुआ ब्रजनाथ।।
आजा मेरे काले, भारत के उजाले, दामन में छुपा ले।
ऐ हिन्द के राजा, इक बार तू आ जा दुःख-दर्द मिटा जा।।

हफीज जालन्धरी की ही यह कामना नहीं, बल्कि 'अर्श' मलस्यानी भी कृष्ण की बांसुरी की तान एक बार फिर सुनने के इच्छुक हैं। उनका विचार है कि गोकुल और जमुना के दृश्यों को अब तक कृष्ण की बांसुरी की याद आती है—

उदाहरण दृष्टव्य है—

इस लुत्फ से भरपूर हैं गोकुल के नजारे।
इक लुत्फ से मामूर हैं जमुना के किनारे।
ब्रजदीप के अम्बर पै चकते हुए तारे।
करते हैं किसी बात पै आपस में इशारे।
शायद इन्हें याद आती है घनश्याम की बंसी।
बरसाने के महबूब सुन्दर श्याम की बंसी।।
वह बांस की परी जो थी नगमों का खजाना।
लय जिसकी अनोखी थी निराला था तराना।
भूले हैं न भूलेगा कभी जिसका फसाना।
है जिसके लिए गोश बर आवाज जमाना।
ऐ! काश वह गीत अपने सुनाती हुई आए।
नग्मात की भय सबको पिलाती हुई हाए।।

उर्दू काव्य के सुप्रसिद्ध कवि मस्तमौला कृष्ण को अवतार ही नहीं अवतारी मानते हैं। कृष्ण के जश्न मनाने में आत्मविभोर होकर बोलते हैं—

मैं क्या कहूँ बस्फ मारो उस स्याम बरन औतारी की।
सीकिशन कन्हैया मुरलीधर मन मोहन कुंजबिहारी की।।

बासित बिसवान ने श्रीकृष्ण जसोदा शीर्षक रचना में कृष्ण के प्रति अपनी अटूट आस्था व्यक्त की है–

आगोश में जसोदा के है देवकी लाल।
खुश रंग खुश नसीब खुश अन्दाज खुश जमाल।।
वह यों जबाने शौक से करती है अर्ज हाल।
बारी हजार जान से मैं ऐ माहे बेमिसाल।।

इस प्रकार उर्दू काव्य के अध्ययन से यह तथ्य दृष्टिगत होता है कि उर्दू काव्य में कृष्ण कथा को लेकर अनेक सरस, सुन्दर, मनोरम एवं मनमोहक कविताओं की रचना हुई है। इस प्रकार की रचनाओं को नागरी लिपि में रूपान्तरित करके प्रकाशित करने से अधिकाधिक देशवासी इनका रसास्वादन कर सकेंगे। यह कार्य भारत की भावात्मक एकता के विकास में बहुत सहायक सिद्ध होगा।

अकबर मोहानी, अब्दुल असर जालन्धरी, अशरफ महमूद, मौलाना आजाद अजीमाबादी, आशिक हुसैन, इंसा अल्लाह खाँ, गुलाम मुस्तफा अली खाँ, मौलाना जफर अली खाँ और अख्तर शीरानी आदि अनेक उर्दू कवि हुये हैं जिन्होंने कृष्ण भक्ति की रचनाएँ रची हैं।

●●

नेपाल में कृष्ण-भक्ति

❀ डॉ० डिल्लीराम निमसिया
❀ डॉ० भगवती प्रसाद सिंह

हिन्दू अधिराज्य नेपाल अपने इतिहास के आदिकाल से ही एक धर्मप्राण देश रहा है। विभिन्न युगों में यह शैव, शाक्त, वैष्णव तथा बौद्ध-मत का केन्द्र बनता रहा किन्तु उनके अनुयायियों तथा प्रचारकों में, धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भाव के कारण कभी संघर्ष नहीं हुआ। सभी मत एक साथ विकसित होते रहे। इसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक उदारता उनकी जीवन-पद्धति का एक अनिवार्य अंग बन गयी। यहाँ के मन्दिरों में शिव, विष्णु, बुद्ध, भैरव आदि विभिन्न मतों के आराध्य देवों की मूर्तियाँ एक साथ स्थापित मिलती हैं और यहाँ का जनसमुदाय सबके प्रति समान भाव से आस्था के सुमन अर्पित करता है। हिन्दू-संस्कृति की विशालता एव उदारता का यह जीवन्त प्रतीक है।

नेपाल में वैष्णव-धर्म के प्रसार का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन भारत में इसका प्रधान पुरस्कर्ता एवं संरक्षक लिच्छवि-राजवंश था, जो गुप्त राजाओं का समकालीन (400 से 800 ई०) था। गुप्त राजाओं से इसके वैवाहिक सम्बन्ध के प्रमाण मिलते हैं। गुप्त-वंश वैष्णव-धर्म का पोषक था। सम्भव है इसका भी प्रभाव लिच्छवि राजाओं पर पड़ा हो। इन राजाओं के शासनकाल में निर्मित तथा गण्डकी-तट पर स्थित दण्डघाट की विष्णु-मूर्ति और बूढ़ा नीलकण्ठ में शेषशायी विष्णु की विशाल मूर्ति आज भी उनकी विष्णु-भक्ति का साक्ष्य दे रही है। इसके अतिरिक्त इन राजाओं के शिलालेखों में भी विष्णु तथा नर-नारायण की स्तुतियाँ उत्कीर्ण हैं। श्रीकृष्ण-चरित के आदिगायक कृष्ण द्वैपायन व्यास की स्तुति में एक पूरा काव्य ही शिलांकित मिला है। इसमें महाभारत

को पंचम-वेद कहा गया है।

लिच्छवियों के पतन के अनन्तर यहाँ मल्लवंश का शासन स्थापित हुआ, जो 15वीं शती के आरम्भ से 18वीं शती के अन्त तक चलता रहा। यह भारत के मुगल बादशाहों का समकालीन युग था। इसे नेपाल के इतिहास का मध्यकाल, किन्तु कला एवं साहित्य के विकास की दृष्टि से स्वर्णयुग माना जाता है।

मल्ल राजागण यद्यपि मुख्य रूप से शैव और शाक्त-मत में आस्थावान् थे, फिर भी साहित्य तथा कला के प्रेमी होने के कारण वैष्णव-धर्म को भी आदर की दृष्टि से देखते थे। इनमें से कुछ तो वास्तव में कृष्ण-भक्त थे। इस काल में निर्मित भातगाँव (भक्तपुर) तथा पाटण के कृष्ण मन्दिर नेपाली स्थापत्य-कला के आदर्श माने जाते हैं। विगत 400 वर्षों से ये नेपाली कृष्ण-भक्तों की श्रद्धा और पर्यटकों के आकर्षण केन्द्र रहे हैं। इतना ही नहीं, मल्ल-वंश के अनेक राजाओं और उनके आश्रित कवियों ने श्रीमद्भागवत तथा गीत-गोविन्द के आधार पर संस्कृत में अनेक काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। इसी समय से नेपालवासियों का भारत के कृष्ण-भक्तों तथा कृष्ण-तीर्थों —मथुरा, वृन्दावन से सम्पर्क स्थापित हुआ। फलतः प्रणामी-सम्प्रदाय का आश्रम स्थापित हुआ और उनके अनुयायियों की परम्परा प्रवर्तित हुई। स्वामी प्राणनाथ विरचित 'कुलजम' की दो प्राचीन पाण्डुलिपियाँ नेपाल के राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित हैं।

नेपाली भाषा में साहित्य-रचना का आरम्भ अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में गोरखा-वंश के प्रतापी राजा पृथ्वीनारायण शाह द्वारा परस्पर संघर्षरत छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व मिटाकर, नेपाल के एकीकरण के पश्चात् हुआ। उनके सुयोग्य प्रधानमन्त्री भीमसेन थापा ने पूरे देश में सुदृढ़ शासन-व्यवस्था तथा शान्ति-स्थापना द्वारा साहित्य, धर्म-साधना तथा कला के विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

यह एक सुखद आश्चर्य है कि भगवान पशुपतिनाथ और महायोगी

गोरखनाथ की उपासना-भूमि की लोकभाषा का प्रथम कवि इन्दिरस कृष्ण-भक्त था और उसके द्वारा विरचित 'कृष्ण-चरित्र' नामक गीति-काव्य नेपाली भाषा की प्रथम रचना है। यद्यपि नेपाली साहित्य के इस आदिकाल में वीरगाथा के साथ राष्ट्रीय भावना की रचनाओं की भी परम्परा मिलती है, किन्तु समग्ररूपेण भक्ति की ही प्रवृत्ति प्रधान ठहरती है। धर्मपरायण नेपाली जनमानस का आरम्भ से ही अध्यात्मोन्मुख होना स्वाभाविक था। यह धार्मिकता ही उसकी सर्वोत्कृष्ट सांस्कृतिक थाती है। नेपाल के इस आदिकालीन साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि उसमें धर्मभावना के साथ शृंगार का भी पर्याप्त मिश्रण हुआ है फिर भी प्रधानता भक्ति की ही रही। इसके समक्ष अन्य सभी तत्त्व गौण हो गये थे। स्थानीय साहित्य के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अठारहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते कृष्ण भक्तिपरक रचनाओं के निर्माण की जो परम्परा चली उसके पीछे यहाँ की धर्मभावापन्न जनता में भागवत, महाभारत और गीता में वर्णित कृष्ण-चरित का व्यापक प्रभाव तथा कृष्ण-लोकमोहक व्यक्तित्व के प्रति अपार आकर्षण था। किन्तु इस काल के कृष्णाश्रित काव्यों में हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-साहित्य जैसे विशद् तथा सरस प्रसंगों का प्राय: अभाव है। कुछ विद्वानों के मत में इसका एक कारण इन काव्यों के रचयिताओं की रासलीला के घोर शृंगारी प्रसंगों के प्रति विरति थी। अन्य विचारकों ने इसका कारण उस युग के साहित्यकारों की मौलिक कृष्ण-काव्य-रचना की अपेक्षा कृष्ण-कथा से सम्बद्ध पुराणों के अनुवाद में अधिक रुचि लेना था। सम्भवत: इसी से इस काल में निर्मित कृष्ण-काव्यों में मौलिकता की कमी तथा वर्णनात्मकता की प्रधानता दिखाई देती है। कृष्ण-चरित की अलौकिकता के प्रतिपादन तथा राधा की उपेक्षा इस युग के कृष्ण-भक्ति-साहित्य की एक उल्लेखनीय विशेषता है। सारांश यह कि आलोच्य काल के कृष्ण-भक्त कवियों का ध्यान सीधे-सादे शब्दों में भक्ति-निवेदन की ओर अधिक रहा है, कवित्वपूर्ण भाषा में अपने उद्‌गारों की अभिव्यक्ति की

ओर प्राय: नहीं के बराबर।

नेपाली साहित्य का पूर्व-मध्यकाल सामान्यतया सन् 1841 से 1882 ई० तक विस्तृत माना जाता है। यह हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल का परवर्ती युग है। अत: चिरकालीन सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण उससे अप्रभावित नहीं रह सकता था। यहाँ भी हिन्दी की भाँति भक्ति-स्रोतस्विनी तीन धाराओं में प्रवाहित हुई—निर्गुण-भक्ति, राम-भक्ति तथा कृष्ण-भक्ति। इस युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा समर्थ कवि भानुभक्त (सन् 1841 ई०) ने रामायण की रचना कर नेपाली-साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात किया। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता से सगुण-भक्ति को राष्ट्र की जीवनधारा में एक बार फिर उभरकर सामने आने का अवसर प्राप्त हुआ।

इस काल में कृष्ण-भक्ति-काव्य की परम्परागत प्रवृत्ति अधिक समृद्ध हुई और उसने नेपाली-वाङ्मय को अनेक ग्रन्थरत्नों से अपूर्व समृद्धि प्रदान की। उसका सबसे बड़ा योगदान है राधा-तत्त्व का विकास। आदिकालीन कृष्ण-भक्तों द्वारा उपेक्षिता राधा इस युग के कृष्णोपासक कवियों की मुख्य प्रेरणा-स्रोत बन गयीं। राधा के साथ रुक्मिणी को भी यथोचित महत्त्व दिया गया और उनके चरित को आधार बनाकर अनेक उत्कृष्ट काव्यों की रचना हुई।

नेपाली साहित्येतिहास के उत्तर-मध्यकाल (सन् 1883 से 1912 ई०) में कृष्ण-भक्ति-विषयक रचनाओं की परम्परा अक्षुण्ण रूप से चलती रही। पं० शिखरनाथ सुवेदी और होमनाथ खतिबड़ा की विविध आयामी कृतियों से, बदलती हुई परिस्थितियों के साथ, उसके विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

नेपाल में निर्मित मध्यकालीन कृष्ण-साहित्य के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके रचयिता अपनी सांस्कृतिक परम्परानुकूल अत्यन्त उदार रहे हैं। निर्गुण-सगुण तथा शैव-वैष्णव के साम्प्रदायिक भेदभाव से दूर रहकर उन्होंने नाथसिद्धों का भी गुणगान किया है।

पतञ्जलि गजुर्याल का 'हरिभक्त-माला' तथा बालगोपाल-वर्णन के साथ 'मत्स्येन्द्रनाथ की कथा' तथा शिखरनाथ सुवेदी का 'दुर्गाकवच' की रचना करना इसका प्रमाण है।

इस सन्दर्भ में दूसरी बात जो लक्ष्य करने की है, वह है नेपाली कृष्ण-भक्ति-काव्य की स्वतन्त्र सत्ता। नेपाल के आदिकाल कृष्ण-साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह स्थानीय भक्तों तथा विद्वानों के अपने चिन्तन से उद्‌भूत था, किसी बाह्य प्रेरणा से नहीं। यह दूसरी बात है कि उसके उपजीव्य ग्रन्थ भी श्रीमद्‌भागवत, महाभारत और गीता ही थे, जो भारतीय कृष्णोपासक कवियों के भी प्रेरणा-स्रोत थे। अनुवाद से आरम्भ होकर मौलिक कृतियों के सृजन तक की यह सारस्वत-यात्रा स्वयं उसके प्रकृत विकास एवं मौलिकता का परिचायक है।

आधुनिककालीन नेपाली-साहित्य में भी, इतरदेशीय वाङ्मय की भाँति, भक्ति के मूलाधार श्रद्धा, विश्वास और भावुकता का स्थान तर्क, सन्देह तथा बौद्धिकता ने ले लिया है। आज के साहित्यकार की दृष्टि में परलोक एवं आदर्श की अपेक्षा इहलोक और यथार्थ का चित्रण मानवोत्थान के लिए अधिक उपयोगी है। इससे भक्ति की प्रकृत धारा के प्रसार तथा तदाश्रित साहित्य के निर्माण में व्यवधान अवश्य उपस्थित हुआ है किन्तु उसके लुप्त होने की सम्भावना नहीं है। तत्त्व के रूप में ही नहीं, धार्मिक जनसमुदाय के बीच एक जागृत, सशक्त तथा प्रेरणाप्रद आन्दोलन के रूप में यह भक्ति-मन्दाकिनी अब भी प्रवहमान है। लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा जैसे प्रगतिशील कवि की रचनाओं में उसकी झलक देखी जा सकती है। इस दिशा में नेपाल के वर्तमान धर्मपरायण राजवंश द्वारा निर्मित, संरक्षित तथा संचालित व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक पीठों, धार्मिक संस्थाओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं साहित्यकारों का भी विशेष सहयोग रहा है।

पाटन के कृष्ण-मन्दिर में शताब्दियों से चला आता हुआ श्रीकृष्ण

जन्माष्टमी-महोत्सव आज भी बड़े धूमधाम से मनाया जाता है, जिसमें महाराज तथा महारानी स्वयं उपस्थित होते हैं। वनकाली स्थित सनातन-धर्म समिति द्वारा सप्ताहव्यापी कृष्णजन्माष्टमी-उत्सव आयोजित होता है। इन विशेष अवसरों के अतिरिक्त पूरे वर्षभर संकीर्तन-मण्डलियों द्वारा विभिन्न स्थानों पर हिन्दी तथा नेपाली के भक्त कवियों के भजनों के साथ यहाँ की मौखिक परम्परा में प्रचलित कृष्णचरित-सम्बन्धी गीत गाये जाते हैं। इसके साथ ही कृष्ण-भक्ति के विविध सम्प्रदायों तथा व्यक्तिगत साधकों के अपने आश्रम हैं—प्रणामी-सम्प्रदाय और कृष्णमंजरीदेवी के आश्रम लोकप्रसिद्ध हैं। इधर 'इस्कान' द्वारा 'श्रीकृष्ण-संचेतना' के प्रचारार्थ एक विशाल मन्दिर स्थापित हुआ है, जिससे मध्यकालीन वातावरण की सृष्टि करके साम्प्रदायिक कृष्ण-भक्ति के प्रसार का आन्दोलन व्यापक रूप से चलाया जा रहा है। इस दिशा में नेपाल की मीरा के नाम से प्रसिद्ध कृष्णमंजरी देवी साधना तथा साहित्य-रचना दोनों दृष्टियों से एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत कर रही हैं। ये प्रयास प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जनमानस में बीजरूप में विद्यमान कृष्ण-भक्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त करेंगे, ऐसा विश्वास है।

उपर्युक्त रचनाकारों के अतिरिक्त नेपाल में कृष्ण-भक्ति-साहित्य के उद्‌भव एवं विकास में निम्नांकित भक्तों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है—

राधाकृष्ण भक्तकोश

क्रम सं०	रचनाकार	ग्रन्थ		समय
1.	वंशमणि	कृष्णचरित्रकाव्यम् (संस्कृत)		अज्ञात
2.	मानाङ्क	वृन्दावनकाव्यम्	,,	सं० 1728
3.	मान्धातासिंह (राजा)	गीतकेशव	,,	सं० 1734
4.	जयरणजीतमल्लदेव (राजा)	कृष्णचरित्र नाटक	,,	सं० 1795
5.	बिल्वमंगल संन्यासी	गोपालस्वरूपाङ्क काव्य	,,	सं० 1797

6. रामचन्द्र कवि	राधाविनोदकाव्यम्	,,	सं० 1847
7. जयभूपतीन्द्र मल्ल	कंसवध नाटकम्	,,	–
8. छविलाल पाल्पाली	गोपीगीत (नेपाली)		–
9. कृष्णनाथ सिग्देल	सुदामा-चरित्र	,,	–
10. हरिहर लभिछाने	सुदामा-चरित्र	,,	–
11. दलबहादुर कार्की	सुदामाभाषाश्लोक (नेपाली)		–
12. अब्जनाथ ओझा	गोपिका-स्तुति	,,	–
13. ज्योतिप्रसाद गौतम	कृष्णक्रीड़ा निकुञ्ज	,,	–
14. बैजनाथ सेढ़ाई	कालाप्रतापमाला	,,	–
15. रहरसिंह राई	गोपिनीको श्लोक	,,	–
16. गोविन्द बहादुर	सर्वलहरी	,,	–
17. मुरारी ढुंगाना	श्रीमद्भागवत-कथासार	,,	–
18. बद्रीदास	रुक्मिणी-हरण लीला	,,	–
19. नरेन्द्रनाथ रिगाल	महाभारत का अनुवाद	,,	–
20. दीर्घकाल	भागवत का अनुवाद	,,	–
21. शम्भुप्रसाद उपाध्याय	,, ,, ,,	,,	–
22. केसरनाथ उपाध्याय	गीता का अनुवाद	,,	–
23. गंगानाथ शर्मा	,, ,, ,,	,,	–
24. भुवनप्रसाद ढुंगेल	,, ,, ,,	,,	–
25. रामप्रसाद सत्याल	महाभारत टीका	,,	सं० 1931-2030
26. कृष्णप्रसाद ऐमी	आदिपर्व, उद्योगपर्व, वनपर्व (नेपाली)		सं० 1940-1985
27. चक्रपाणि चालिसे	संक्षिप्त महाभारत	,,	सं० 1940-2015
28. लेखनाथ पौडेल	गीतासार (पद्य)	,,	सं० 1941-2022
29. कोमलनाथ अधिकारी	कोमलगीता	,,	सं० 1950-2022

खण्ड - 4

लोक साहित्य में श्रीकृष्ण

खण्ड - 4 (लोक साहित्य में श्रीकृष्ण)

अपभ्रंश साहित्य में श्रीकृष्ण

❀ डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस'

अभी तक अपभ्रंश का जितना साहित्य प्रकाश में आया है उससे स्पष्ट है कि जैन कवियों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना और सुरक्षा में सर्वाधिक सहयोग दिया। इन कवियों का संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलुगु, तमिल और विशेषत: कन्नड़ साहित्य में भी अत्यधिक योग है। संस्कृत और प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी कृष्ण चरित का विकास दो रूपों में मिलता है—(1) मुख्य कथा के रूप में कृष्ण-जन्म से लेकर उनके निर्वाण तक की कथा, (2) महाभारत, पाण्डव कथा, प्रद्युम्न चरित, उषाणिरुद्ध तथा आदि में प्रकारान्तर से या गौण कथा के रूप में कृष्ण के कतिपय क्रियाकलापों का भी उल्लेख मिलता है। बौद्ध जातकों, जैनियों की गाथाओं, आगमों और अंगों में कृष्ण वासुदेव का जो विवरण मिलता है वह वैष्णव परम्परा में प्रचलित रूप से क्वचित् भिन्न है। जैनाचार्यों एवं जैन कवियों की रचनाओं के उपजीव्य के रूप में कृष्ण चरित के विकास की दो धाराएँ मिलती हैं—(1) ब्राह्मण परम्परा जिसके अन्तर्गत महाभारत एवं पुराणों में कृष्ण-चरित प्रस्तुत किया गया है। (2) जैनाचार्यों की पुराण-परम्परा जिनमें आचार्य जिनसेन (द्वितीय) लिखित 'हरिवंशपुराण' और आचार्य गुणभद्र लिखित 'उत्तरपुराण' मिलते हैं। इनमें जैन आगमन एवं अंगों के आधार पर कृष्ण-चरित लिखा गया जिसमें ब्राह्मण कथाओं की नकल ही कही जा सकती है। (बृहद् इतिहास पृ० 333) परवर्ती युग में अपभ्रंश में लिखित कृष्ण-काव्य इन दोनों धाराओं से प्रभावित दिखाई देता है। वैसे भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से स्वयंभू तथा पुष्पदंत आदि कवियों ने

अपने पूर्ववर्ती वाण और माघ आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों की परम्परा का अनुगमन किया और उनके प्रति आभार प्रदर्शित किया।

अपभ्रंश साहित्य के परिशीलन से पता चलता है कि महापुराण, पुराण और चरित-काव्य के रूप में इन्होंने काव्य रचना की। 'महापुराण' में 63 महापुरुषों के चरित का वर्णन किया गया। इसे 'त्रिषष्ठि शलाकापुरुष चरित' या 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार' भी कहा गया। पुराणों के अन्तर्गत 'हरिवंश पुराण' में महाभारत की कथा को जैन धर्म की मान्यताओं के अनुसार प्रस्तुत किया गया। इनके अतिरिक्त 'प्रद्युम्नचरित' काव्यों में गौण कथा के रूप में कृष्ण का विवरण प्रस्तुत किया गया।

वैष्णव परम्परा के पुराणों में श्रीविष्णु का अवतार एवं लीला पुरुष अंकित किया गया किन्तु जैन पुराणों में श्रीकृष्ण महान् वीर व्यक्ति के रूप में चित्रित किये गये। उनमें मानवीय दुर्बलताएँ भी हैं। उन्हें नरक में कर्मभोग भोगने पड़ते हैं। उनकी अपेक्षा नेमिनाथ को भगवान कहकर सम्बोधित किया गया है और उन्हें दिव्य-गुण-सम्पन्न ऋषि के रूप में अंकित किया है। वैसे ब्राह्मण धर्म की भाँति जैनों ने भी अपने पुराणों की रचना की और राम, कृष्ण, पाण्डव आदि की कथाओं को जैन-मान्यताओं के अनुरूप ढाला है।

अपभ्रंश के प्रकाशित और अप्रकाशित साहित्य की जो विवरणिका मिलती है उससे स्पष्ट है कि 'कृष्ण' से सम्बद्ध उपलब्ध काव्य स्वयंभू रचित 'हरिवंश पुराण' है जिसे 'रिट्ठणेमिचरिउ' (या अरिष्टनेमि चरित) भी कहते हैं किन्तु स्वयंभू की कृतियों में उसकी पूर्ववर्ती परम्पराओं के कतिपय कवियों का भी उल्लेख मिलता है। कृष्ण-काव्य के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण दो कवियों की काव्य-प्रतिभा एवं उनकी काव्य-शैलियों को स्पष्ट करने के लिए कतिपय उदाहरण देकर संकेत किया गया है। ये कवि हैं चतुर्मुख और गोइन्द।

चतुर्मुख—स्वयंभू के आविर्भाव के पूर्व चतुर्मुख ने जैन परम्परा के

अनुरूप काव्यात्मक काव्य पद्धड़िया वंध में अपभ्रंश में लिखा गया था। चतुर्मुख अपने समय के प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनकी काव्य-प्रतिभा की परवर्ती कवियों ने बड़ी प्रशंसा की हैं। उनकी कृति आज उपलब्ध नहीं है। अत: उसमें लिखित कृष्ण की कथा के स्वरूप का विवेचन कर सकना असम्भव है।

गोहंद—(समय अद्यावधि अज्ञात) स्वयंभू तथा उसके परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने चतुर्मुख की भाँति ही गोहन्द का भी नामोल्लेख किया है। स्वयंभू ने अपनी कृति में लगभग एक दर्जन कवियों की रचनाओं के उद्धरण दिये हैं जिनसे स्पष्ट है कि स्वयंभू के आविर्भाव के पूर्व जो परम्परा विकसित हुई उसका पूर्ण मुकुलित रूप स्वयंभू काव्य में मिलता है। इन पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं के अवतरण महाभारत और रामकथा से सम्बन्धित हैं। महाभारत के कम अंश उद्धृत होने पर भी इनमें कृष्ण-जीवन का विवरण है जहाँ कृष्ण की अपेक्षा गोपाल की चर्चा अधिक है। कवि गोहन्द के काव्य से दिए गए उद्धरणों को देखकर अनुमान होता है कि उसने गोपाल कृष्ण पर कोई काव्य लिखा होगा जो आज अनुपलब्ध है। राधा के सौन्दर्य पर गोहंद रचित निम्न छन्द स्वयंभू ने उद्धृत किया है—

सव्व गोविउ बइवि जोएइ
हरि सुट्ठविआयरेण देइ विट्ठो जहिं कहिं वि राही।
को सयिकवि संवरेवि दट्ठवयण णेहिं पलोटउ।

अर्थात् कृष्ण सभी गोपियों को समान आदर से देख रहे थे, पर उनकी दृष्टि वहीं टिकती थी, जहाँ राधा थी, नेह से छकी हुई आँखों को भला कौन रोक सकता है?

स्वयंभू—(समय 8वीं शती) इनकी तीन कृतियाँ-पउमचरिय (पद्म चरित्र), हरिवंश पुराण (रिट्ठणेमि चरिउ या बरिष्ट-नेमि चरित) और स्वयंभू छन्द उपलब्ध हैं। परन्तु वे अप्राप्त हैं। 'पउम चरिय' में रामकथा और 'हरिवंश पुराण' में महाभारत तथा कृष्ण की कथा का वर्णन है। हरिवंश पुराण (रिट्ठणेमिचरिउ) में कृष्ण चरित प्रस्तुत किया

गया है। 112 सन्धियों में लिखित यह ग्रन्थ 4 खण्डों में विभक्त है– **यादव काण्ड** में कृष्ण जन्म, बाल लीला, कृष्ण विवाह, प्रद्युम्न आदि की कथाएँ और नेमि जन्म का वर्णन है। **कुरु काण्ड** में कौरव-पाण्डवों के जन्म से लेकर पाण्डवों के 12 वर्ष के वनवास की कथा दी गई है। **युद्ध काण्ड** में कौरव-पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है जिसमें कौरव पराजित और पाण्डव विजयी दिखाये गए हैं। **उत्तरकाण्ड** में हार-जीत के विश्लेषण के सन्दर्भ में आध्यात्मिक निष्कर्ष देते हुए कथा को समाप्त किया गया है। कथा-विस्तार और चरित्र-चित्रण में कवि ने पूर्व प्राप्त परम्परा का पालन किया है। इस ग्रन्थ की कथा इतिवृत्तात्मक नहीं है, काव्य रस से ओतप्रोत है। कवि ने समृद्ध वातावरण देकर अत्यन्त सुसंस्कृत कला-कौशल का परिचय दिया है।

स्वयंभू की शैली में सरलता और स्वाभाविकता है किन्तु प्रकृति-वर्णन करते समय उसकी अलंकार प्रधान भाषा दर्शनीय है। सामन्ती समाज का वर्णन करने में भी वह अतुलनीय है। उसने रमणियों के सौन्दर्य के जीवन्त चित्र खींचे हैं। विलाप-चित्रण एवं विरह-वर्णन में उनके गम्भीर एवं उदात्त भाव पाठकों पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। जैने पण्डितों ने स्वयंभू को जल विहार वर्णन में सिद्धहस्त माना है। राहुल जी ने स्वयंभू के स्वाभाविक भाषा प्रवाह और शब्द-कौशल की बहुत प्रशंसा की है। वास्तव में स्वयंभू संस्कृत की काव्य-परम्परा से प्रभावित है और पिंगला-अलंकार के लिए आचार्यों की ऋणी है। ''संस्कृत की जल विहार, वन वर्णन, सूर्योदय, सूर्यास्त, नदी आदि के वर्णन की रूढ़िगत शैली का स्पष्ट प्रतिबिम्ब स्वयंभू में मिलता है.....स्वयंभू की उपमाएँ परम्परागत हैं। यत्र-तत्र मौलिक उपमाएँ भी आ जाती हैं पर उन्हें अपभ्रंश काव्य की निजी विशेषता नहीं माना जा सकता।

पुष्पदंत (पुप्फयंत) (समय 956-972) : अपभ्रंश में लिखित कृष्ण-काव्य की परम्परा में स्वयंभू के बाद पुष्पदंत हुए। उनके कई उपाधि नाम थे.....अभिमान मेरा, कविकुल तिलक, काव्य रत्नाकर, सरस्वती

निलय, काव्य पिसल्ल आदि। पुष्पदंत ने 3 काव्य-ग्रन्थों की रचना की। 1. महापुराण (तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकार), 2. जसहरचरिउ (यशोधर चरित), 3. णयकुमार चरिउ (नागकुमार चरित)।

महापुराण में 63 महापुरुषों के चरित्रों का वर्णन है। ग्रन्थ के दो भाग हैं- आदि पुराण और उत्तर पुराण। उत्तरपुराण की 11 संधियों में राम-कथा और 12 संधियों में कृष्ण-कथा लिखी गई है।

कृष्ण-चरित के वर्णन में पुष्पदंत जिनसेन के 'हरिवंश पुराण' परम्परा से प्रभावित हैं। कवि ने राम-कथा की अपेक्षा कृष्ण-कथा के वर्णन में उन्मुक्त कल्पना को प्रश्रय दिया है। पुष्पदंत ने कृष्ण की लीलाओं का वर्णन भागवत के अनुसार ही किया है। इसीलिए उसने कृष्ण के लिए गोपाल, मुरारि, मधुसूदन, हरि, प्रभु आदि सम्बोधन प्रयुक्त किये हैं। इस काव्य में प्रस्तुत कथावस्तु से तत्कालीन कृष्ण-भक्ति के निश्चित स्वरूप का पता नहीं चलता किन्तु यह प्रतीत होता है कि उस युग के जैन कवियों ने भी भागवत के आधार पर कृष्ण-कथा लिखी।

उत्तरपुराण में कवि के काव्य-कौशल का सुन्दर रूप मिलता है। गोकुल में कृष्ण ने अनेक लीलाएँ कीं। गोपियों के साथ की गई छेड़छाड़ का वर्णन कितना सजीव है। धूलि-धूसरित कृष्ण क्रीड़ाएँ करते हुए अन्यत्र भी घूमते हैं। किसी गोपी की मथानी टूट गई, कोई आधे बिलोये हुए दही को छोड़कर यों ही भागी, कोई गोपी कहने लगी-तुमने हमारी मथानी तोड़ दी है। इसका मूल्य चुकाने के लिए एक आलिंगन दो, अन्यथा मेरे आँगन में मत आना। किसी गोपी की पाण्डुर रंग की चोली कृष्ण की छाया से काली हो गई। उस मूर्खा ने उसे जल से धोकर सखियों को दिखाया और अपनी जड़ता प्रदर्शित की। माता के समीप दौड़कर जाते हुए कृष्ण दत्तचित्त होकर स्तन्यपान करते हैं। महिष्णी हार को अपने पास बिठाती हैं किन्तु माधव समीर (हवा) में हाथ हिलाते हुए विविध क्रीड़ाएँ करते हैं। कभी बालक कृष्ण की आँगन में की गई वत्सल लीलाएँ दर्शनीय होती हैं। गुंजा के गुच्छों को तोड़ते देखकर

यशोदा को दु:ख होता है। कभी अपने नेत्रों से उनका विराट रूप देखती हैं तो कंस-वध की आशा होती है। कृष्ण कराल से शुचि सुखकारी शब्द करते हैं।

महाकवि पुष्पदंत ने 'पूतना लीला' में कृष्ण की शक्ति और क्षमता का वर्णन भी भागवत जैसा ही किया है। पूतना कृष्ण को मधुसूदन, गरुड़ध्वज, नंद-नंदन, जनार्दन और केशव आदि नामों स सम्बोधित करती है। कृष्ण कहते हैं—यह मेरी जननी नहीं है, यह राजसी बैरिन है। प्राणान्त करने वाली है, आज ही इसे मारकर प्रलय करूँगा। कवि ने कृष्ण को मानमहंता, भृकुटिकरंता, लक्ष्मीकंता, देव अनंता कहते हुए पूतना-वध का वर्णन किया है। वह भीमाकार बाला कल्लोल करती हुई चिल्लाई— हे नंदनंदन, जनार्दन छोड़ो। हे केशव मैं मरी, मैं कंस की सेवा नहीं करूँगी, मुझ पर रुष्ट न हो। मेरे हृदय (स्तन) से रक्त प्रस्रवित हो रहा है, तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहाँ खेलो, ऐसा कहते हुए उसने गोविन्द को छोड़ दिया और फिर नंद निवास पर न रुकी और देवलोक चली गई।

पुष्पदंत ने कृष्ण की विविध बाल-लीलाओं का जीता-जागता वर्णन किया है। इनमें कृष्ण का ऊखल बन्धन प्रमुख घटना है। कवि ने जैनियों की मान्यता के अनुसार सुत मुख देखने के लिए देवकी के नंद-घर जाने का वर्णन किया है। वहाँ पर देवकी ने नंद के समृद्ध घर, गौएँ, रोहिणसुत (बलराम) और कृष्ण को देखा। ''गोपों के बीच में कृष्ण कलहंस के समान दिखाई दिये। उन्हें क्रीड़ा करते शिशुओं की रजकण अच्छी लगी। उन्होंने हलधर का आलिंगन किया और अपनी भुजाओं में बाँध लिया। उनके अंग-अंग हर्ष से स्निग्ध हो गए।''

कालिय दमन के प्रसंग में कवि ने कृष्ण की कोमलता, नंद और यशोदा के विलाप, कालिय नाग की प्रचंडता एवं तीव्रता का बहुत ही सुन्दर विवरण दिया है। इसके कतिपय उल्लेखनीय स्थल पठनीय हैं। नंद बोले—जहाँ राजा ही अन्याय करता है वहाँ अन्य कौन सुनवाई करेगा? कहाँ कालदंड के समान कोमल कृष्ण और कहाँ अति प्रचंड नाग, मैं

कहाँ जाऊँ और किससे निवेदन करूँ? मेरे धुकधुकी हो रही है, हृदय जल रहा है। शोकाभिभूत यशोदा चिल्लाई—मेरा एकमात्र पुत्र अहिमुख में निक्षिप्त हो गया, बालक नहीं अरे, काल मेरा वरण करे। इस प्रकार कहती और दीर्घ श्वास लेती हुई त्रस्त यशोदा विलाप करने लगी।

पुष्पदंत ने कृष्ण के लिए 'उपेन्द्र' (विष्णु) शब्द का प्रयोग किया है, जिससे ध्वनित होता है कि जैन कवियों पर ब्राह्मण-धर्म के पुराण का प्रभाव था और इसीलिए उन्होंने कृष्ण को विष्णु का अवतार माना। कवि ने 'कालिय-दमन' प्रसंग को विस्तार से लिखा है। कवि के कथनानुसार—उपेन्द्र ने फणीन्द्र (कालियनाग) के मर्दन हेतु जल-क्रीड़ा करने का निश्चय किया, अत: वे यमुना तट पर गए। उद्‌भट फण एवं विकटांग विषधर यमपाश की भाँति उनकी ओर दौड़ा। पुष्पदंत ने कृष्ण और नाग की शोभा का वर्णन करने में उपमा और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा दी है। दोनों की शोभा ऐसी दिखाई देती है जैसे तिमिर (रूप कालिय नाग) लोल तिमिर (कृष्ण का सौन्दर्य) में सम्मिलित हुआ जा रहा हो। उस समय हरि (कृष्ण) पूर्ण काल-भ्रमर के समान दिखाई दे रहे थे जैसे अंजन के गिरिधर पर नव तमाल (उग आया) हो। उनके तन की कांति घन-घटा को भी पराजित करने में सक्षम है। विषधर के सिर पर रजत-कण माणिक्य के समान दिखाई दिये, उसकी देह का नाश हो गया। जैसे कुसुम मणि ताम्र को और भी ताम्र (रक्त वर्ण का) कर देती है, जिस प्रकार सरि के एक ओर अलखाई हुई लटकी बेल पर पल्लव दर्शनीय होते हैं। (वैसे ही) अहि (कालिय नाग) ने मधुसूदन के अंगों को देखा जिनके रोम-रोम में कस्तूरी (गंध) का विलास था। विषधर ने हरि के समक्ष शिर नमित (नत) किया और मदमत तुंग (की भाँति) चला गया। जो दृश्य प्रस्तुत किया है वह भाषा, भाव और अलंकार की रसमय त्रिवेणी है। नदी-सरोवर को भरता हुआ जल झलमलाता हुआ चमकता है। लड़ाड के शब्द से गिरि के शिखर फूट गए-से लगते हैं। गोकुल में मरुत के तीव्र वेग से वृक्ष गिरे। जल-थल में सभी भय-त्रस्त

थर-थराकर व्याकुल हो गए। धीर वीरों के स्थिर भाव भी विचलित हो गए। महीधर, दिग्पाल देवता युगल करबद्ध करके स्तुति करने लगे। जड़ तक का प्राकट्य हुआ। अपने महि विवर त्यागकर (भयभीत) फणि निकट (सर्पों के समूह) विष वमन करने लगे। वन के समस्त चर-अचर, सिंह पशु गिरते-पड़ते कातर होकर प्राण-रक्षा हेतु व्यथाकुल हो गए। तपस्वी भी परवश हो गए। गोवर्धन (पर्वत) पर गोप-गोपियों का भार (इस प्रकार) दिखाई दिया जैसे गोवर्धन गिरि को गोवर्धन ने ऊँचा उठा दिया (महत्त्व प्रदान किया)।

पुष्पदंत ने कृष्ण-महिमा का वर्णन करते हुए उन्हें सुपुत्र, दुर्द्धर्ष वीर, दीनबन्धु, पतितोद्धारक आदि विशेषणों से अलंकृत किया है।

उस युग में बौद्धों की तांत्रिक परम्परा से ब्राह्मण धर्म प्रभावित हुआ जिसके फलस्वरूप बंगाल में नये धार्मिक अंकुर उपजे। इसीलिए विद्वानों का विचार है शैव-शक्ति तन्त्र तथा राधाकृष्ण को शृंगारी भक्ति के विकास में बौद्ध तांत्रिकों का हाथ है।

घाहिल—कवि घाहिल का उपनाम 'दिव्यदृष्टि' था। उन्होंने 'पउमसिरिचरिउ' और 'हरिवंशपुराण' दो काव्य रचे। कवि का स्वयं कथन है कि

हरिपंडू सुआण कहा चउमुह वासेहिं मासिय जह या
तेह विरयमि लोय पिया जणो ण णासेड़ देसणं पउरे।

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार चतुर्मुख ने पाण्डव और कृष्ण-चरित्र प्रस्तुत किया, घाहिल ने भी परम्परागत विषय को जैन धर्म की मान्यता के अनुसार प्रस्तुत किया। कवि घाहिल का 'हरिवंशपुराण' 112 संधियों में लिखित अपभ्रंश का प्रबन्ध काव्य है जिसमें अपभ्रंश को सभी काव्य रूढ़ियों का निर्वाह मिलता है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

धवल—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए धवल कवि ने बाद में जैन धर्म अपनाया। अपनी रचना ' हरिवंश पुराण' के प्रारम्भ में इन्होंने अपने

पूर्ववर्ती कवियों एवं काव्यों का उल्लेख किया है जिनमें अधिकांश कवि 9वीं शती के हैं।

कंस वध पर उसकी रानियों एवं परिजनों का शोक-विलाप बहुत ही मार्मिक है- ''हा, दैव दुर्विवाक सेमुक्षे'' मनोहरता के स्थान पर विरह (ताप) मिला, हा विधि (नृप) विहीन हम क्या करें, हम चक्षुरहित (अर्थ) की भाँति आज देख सकने में असमर्थ हैं। हे देव, हम आपको बुलाती हैं (पर) सुन्दरी को देखकर क्यों चुप हैं? सुन्दर सेज को सुशोभित करने वाले (वीर) आज धरणी पर लेटे हुए हैं। इस प्रकार उन्होंने मथुरा के नरेश को गुणी, दुर्धर्ष वीर, दिव्य वेष आदि विशेषण प्रयुक्त करके याद किया है। जो लोग कुत्सित कर्मों में प्रवृत्त होकर युद्धादि करते हैं, उनको दृष्टि में रखकर कवि ने संसार की नश्वरता का वर्णन किया है।

सिंह या सिद्ध—सिंह विरचित 15 संधियों का अप्रकाशित काव्य 'पज्जुण्ण चरिउ' (प्रद्युम्न चरित) उपलब्ध हुआ है।

ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य में प्रद्युम्न का चरित वर्णन है किन्तु प्रसंगवश कृष्ण का भी वर्णन है। ग्रन्थारम्भ में कवि ने जिन-नाथ वन्दन, सरस्वती स्तवन एवं आत्मविनय प्रदर्शित किया है। बाद में परम्परागत रूप में दुर्जनों को भी स्मरण किया है।

कथा-क्रम में कवि ने कृष्ण और सत्यभामा का वर्णन किया है। कृष्ण-वन्दना करते हुए कवि ने चाणूर, कंस आदि भयंकर असुरों के संहारक, शंख, चक्र और सारंगधारी देवकीनन्दन आदि शब्दों से उनकी अभ्यर्थना की है-

चाणउर विद्दणु, देवर्हणंदणु, संख चक्क सारंगधरु।
रणि कंस खयंकरा, असुर भयंकरु वसुह तिखडहं गहिय करु।

1-12

इसके अतिरिक्त कृष्ण की शोभा और उनके वैभव का कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है।

मेरुतुंगाचार्य— वि.सं. 1365 में मेरुतुंग ने 'प्रबन्ध चिन्तामणि' की रचना की। यह एक संकलन ग्रन्थ है। जिसमें वीर, शृंगारी एवं निर्वेद भाव के पद संगृहीत हैं।

इस कृति में संकलित एक दोहे में राजा बलि को लक्ष्य करके एक अन्योक्ति कही गयी है—

अम्हणिओ संदेसड़ो तारय कण्ह कहिज्ज।
जग दालिदिहिं डुबि्बउ बल बंधण्ह मुहिज्ज।।

मेरा संदेश उन तारक कृष्ण से कहना, सारा संसार दारिद्रय में डूब रहा है, अब तो बलि को बंधनमुक्त कर दीजिये। इस दोहे में 'तारक' शब्द कृष्ण के प्रति परमात्म भाव का परिचायक है।

यश कीर्ति—कवि ने सं० 1497 में 'पाण्डव पुराण' और सं० 1500 में 'हरिवंशपुराण' की रचना की। इनकी लिखी 3 पुस्तकें–चन्द्रभ्रम चरित, जिनदत्तिकहा और रविवउकहा भी प्राप्त हुई हैं।

कवि ने 'पाण्डव पुराण' में पाण्डवों की कथा और 'हरिवंश पुराण' में महाभारत की कथा को जैन–परम्परा के अनुसार काव्य-निबद्ध किया है। नारी के बाह्य रूप के साथ उसकी आन्तरिक भावनाओं का भी कवि ने हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थों में प्रसंगानुसार कृष्ण की कथा को भी प्रस्तुत किया गया है। कवि के युद्ध–वर्णन सजीव नहीं हो सके क्योंकि उसने ऐतिहासिक घटनाओं को इतिवृत्तात्मक ढंग से प्रस्तुत किया। विरह–वर्णन एवं करुण रस की अभिव्यक्ति में भी कवि को अधिक सफलता नहीं मिली। 'कंस–वध' पर जीवयशा का विलाप है।

श्रुतकीर्ति—इन्होंने 'हरिवंश पुराण' (वि०सं० 1497) और 'परमेष्ठि प्रकाश सार' (वि०सं० 1553) नाम के दो काव्य ग्रन्थ लिखे। 'हरिवंश पुराण' में महाभारत की कथा 44 सन्धियों में लिखी गयी है। सन्धि की पुष्पिकाओं में कवि ने इस ग्रन्थ को 'महाकाव्य' कहा है।

कवि ने सरस्वती वंदन और आत्म–विनय से कथा आरम्भ की है

और हृदय रूपी सरोवर में 'हरिवंश पुराण' रूपी कमल के विकसित होने का संकेत किया है–

"**हरिवंसु पयोरुह अद्रवण्णु, इह भरह खित सरवरउवण्णु।**

कवि की ये कृतियाँ अद्यावधि अप्रकाशित हैं।

अपभ्रंश में कृष्ण-काव्य के उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश में इसका विस्तार-काल 7वीं से लेकर 16वीं शती तक रहा। इन उपलब्ध कवियों के काव्य ग्रन्थों के अलावा और भी बहुत से प्रतिभा सम्पन्न कवि हुए होंगे जिनके ग्रन्थ या तो नष्ट हो गए या अद्यावधि अज्ञात हैं। अनुसंधित्सुओं को इस ओर काम करना चाहिये।

●●

बुंदेली लोकगीतों में श्रीकृष्ण

❀ डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ

श्रीकृष्ण का जन्म ब्रज में हुआ था। ब्रज ही उनकी लीलास्थली बनी। लोक-साहित्य लोक-जीवन का दर्पण होता है। इसमें लोक के विश्वास, आस्था, रीति-रिवाजों तथा भावनाओं का सच्चा चित्रण होता है। श्रीकृष्ण का जीवन लोक-नायक का जीवन था। अत: उनके जीवन का चित्रण लोक-साहित्य में होना स्वाभाविक था। कृष्ण अपनी महानता में ऐसे वटवृक्ष बने कि जिसकी शाखाओं ने सम्पूण भारत को अपने में समेट लिया तथा उसका प्रसाद विदेशों को भी प्रदान किया। सत्साहित्य भी लोक-जीवन से प्रेरणा लेता है। अत: दोनों प्रकार के साहित्य में श्रीकृष्ण का जीवन-चरित्र भरपूर मात्रा में चित्रित किया गया।

ब्रज के लोकगीतों में अधिकांश गीत श्रीकृष्ण के ही गुण गाते हैं। मथुरा में उनका जन्म हुआ था, गोकुल में वे पले थे तथा वृन्दावन में गायें चराने जाते थे। बरसाने की श्रीराधा से उनका स्नेह जुड़ा तथा माधुर्य प्रेम की लीलाएँ कीं। अत: ब्रज लोकगीतों के माधुर्य की तुलना ब्रजेतर लोकगीतों से नहीं की जा सकती परन्तु ब्रज का ही प्रसाद प्राप्त करके अन्य भाषा के लोकगीतों में भी कुछ न कुछ माधुर्य बस गया है। पुरातात्त्विक साक्ष्य के अनुसार मथुरा राज्य की सीमा ग्वालियर के आधे भाग तक रही थी। अत: निकटवर्ती बुंदेलखण्ड ब्रजी सभ्यता तथा साहित्य से अवश्य प्रभावित हुआ होगा। इसीलिए लोकगीतों को भी थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ वहाँ तक की यात्रा करने में अधिक प्रयास नहीं करना पड़ा होगा। इसीलिए ब्रज और बुंदेली गीतों में पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है।

कृष्ण का जन्म भारतीय परिवार में जन्मे बेटे के जन्म से कहीं अधिक उत्साहवर्धक हैं। वे अलौकिक भी हैं और लोकनायक तो हैं ही। अत: बुन्देलखण्डी लोकगीतों में भी उनका सरस एवं सजीव वर्णन हुआ है। लोकगीतों में विषय प्रमुख नहीं परन्तु उसे जिस प्रकार उसी स्थानीय मिट्टी की सुगन्ध में बता दिया जाता है वह उसकी विशेषता होती है। बुन्देली लोकगीतों में भी सौंधी सुवास बसी हुई है।

श्रीकृष्ण के अवतरित होने से पहले देवकी और यशोदा दोनों जमुना में जल भरने जाती हैं तो यशोदा देवकी के अनमनी होने का कारण पूछती हैं। देवकी उत्तर देती हैं—हे बहन मेरे छः पुत्र उत्पन्न हुये, उन सबको कंस ने मरवा डाला। जब यशोदा कहती हैं अबकी बार तेरे पुत्र उत्पन्न हो तो हे बहन तू उसे गोकुल भेज देना। कृष्ण को गोकुल भेजने में एक नये कारण की उद्‌भावना हुई।

अरि देवकी और यशोदा दोनों पनियाँ जांय।
जाय के पहुँची जमुना पर जसुदा यों बतराय।।
काहे बहना अनमनी और काहे दुर्बल गात।
कौन हाल है, तेरौ बहिना सांची देउ बताय।।
इतनी सुनके कहै देवकी सुन बहिन मेरी बात।
छह पुत्र भये मेरी कोख से कंस दए मरवाय।।
ऐसे वचन सुने जसुदा ने सूर कहै समुझाय।
अबकी बालक होय जो तेरे बहना गोकुल देउ पहुँचाय॥

यशोदा और देवकी का यह वार्तालाप दो स्त्रियों के बीच की गोपनीय बात है। छह पुत्र बंदीगृह में ही उत्पन्न हुये थे। लोककवि को क्या कहा जाय? सूरदास का नाम श्रीकृष्ण कथा के गायक के रूप में यहाँ बरबस ही डाल दिया गया है।

कृष्ण जन्म का गीत इस प्रकार गाया जाता है—

आली ब्रज में महाराज भये, सखी ब्रज में गोपाल भये
अब हरि जनम लये मथुरा में, जगत पहरुआ सोय गये

लै वसुदेव चले गोकल कों, झपट के जमना चरन गहे
आगूँ घसे जमना जल गहरी, पीछूँ सिंह गुंजार रहे
उल्टी रीति भई गोकुल में, कन्या दे गोपाल लये
कौन ने जाये कौन खिलाये, कौन के लाल कहावे
देवकी ने जाये जसुदा खिलाये, नंद बाबा के लाल कहाये।

सोहर में कृष्ण का नाल काटने का वर्णन है।

काहे के छुरा नरा छीन लये हैं, काहे खपर असनान
सोने के छुरा नरा छीन लये हैं, रुपे खपर असनान
काहे के सूप पौड़ाय लये हैं, काहे के आखत डार
रेश्य के सूप पौड़ाय लये हैं, मुतियन आखत डार

सोने की छुरी से नाल काटा गया है और चाँदी के खप्पर में स्नान कराया गया है तथा रेशम से बुने हुये सूप में उनको बिठाकर मोतियों में राती चावल छिड़के गये हैं। खप्पर स्नान तथा सूप में उनको बिठाना ये बुन्देलखण्डी संस्कृति के अंग हैं। लगभग पचास वर्ष पहले ब्रज में भी यही परम्परा थी।

बालकृष्ण को देखने की ललक इतनी अधिक है कि स्त्रियाँ शीघ्रता करने से एक-दूसरे से कह रही हैं।

जसुदा के मन्दिर बेग चलो री
बदनवारे लगे दरवाजन, बिचबिच आम की बौरी
हाथ गुलेली पावन माहुर, धर धर वंदनवार जरौरी
वारी वैस बनन औ बनिता, कोउ आहै लरकौरी

द्वार पर वंदनवार, बीचबीच में आम का बौर भवन में तथा हाथ में मेंहदी और पैरों में महावर शृंगार भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

बालक की छटी होती है उस दिन सांतिये रखे जाते हैं। बालक की बुआ सांतिये रखती है वह नेग माँगती है इसका वर्णन भी बुन्देली लोकगीतों में है। कृष्ण पालने में झूल रहे हैं—

मन मोहन उदक न जाय री हमारे, धीरे झुलाव सखि पालने
काहे को पलका बनो है, काहे के बुने हैं बुनाव।। हमारे
चन्दन के पलका बने, रेशम के बुने हैं बुनाव
सबरे बिरज की सखियाँ जुरि आयीं, थाल लय री पालने
जो मेरे ललना को पलना झुलाय दें, दैहों जड़ाऊ ककना।

यहाँ पालना झुलाने के उपहार में भी जड़ाऊ कंगन प्राप्त हो रहे हैं। कृष्ण पालने में झूल रहे थे कि पूतना आ गयी। वह बड़ा सुन्दर रूप धारण करके आई थी। धूप-छाँव की साड़ी ओढ़कर आई थी। साड़ी की किनारी मोतियों से जड़ी हुई थी। लहँगा और साटन का जम्पर पहनकर आई थी, छाती में कुछ जहर लगाकर आई थी—

गोकुल में आई नार पूतना, स्याम परे झूलन झूलना
सारी औढ़ धूपीछांली, जामें मोतिन जड़ी किनारी
लहंगा कोमसाब को जारी, जम्फर साटन रंगसवारी
कछु जेहर लगाय लाई पूतना, स्याम परे झूलन झूलना

सूर के इस पद की लोकतात्त्विक व्याख्या इस प्रकार हुई है। कृष्ण स्वयं माँ से पूछते हैं—

मैं काहै स्याम भयो री, मैया मैं काहे स्याम भयो
दाऊ गोरे बाबा गोरे, तू चंदा सी गोरी
बहुतक ऊजर ऊजर माखन खायो मैं कर चोरी
तऊ न गयो मेरो रंग सांवरो, बहुतक मिसरी घोटी

कृष्ण गाय चराने जाते हैं तो एक गाय कहीं खो जाती है। जिसकी गाय खो जाती है वह गोपी यशोदा से शिकायत करने आती है—

तुम सुनों जसोदा मैया री, सिरी क्रिसन हिरा आए गैया
बन-बन ढूंढ़त हम पचि हारे, जाने छुपा लई गइया।
ओढ़े फिरत हैं काली कमरिया, बिचक जाय मोरी गैया।
धन्न जसोदा धन नंदबाबा, ऐसो ढीठ कन्हैया।

एक दिन कृष्ण गेंद खेल रहे थे। खेलते-खेलते गेंद इतने जोर से मारी कि जमुना में गिर गई। वहाँ से पाताल में चली गई। सभी चिन्ता करने लगे। तब कृष्ण कालीदह में कूद गये और उन्होंने पाताल के ताले तोड़ लिये। कालिय के पास पहुँचे तो नागिनियाँ ने वहाँ से चले जाने को कहा। वे बोलीं नागराज बड़ा जहरीला है तब कन्हैया ने कहा-''हे नागिनी मैं यहाँ से नहीं जाऊँगा।'' तब नागिन ने कालिया नाग को जगाया। उसने जागते ही जोर की फुसकार मारी तो कृष्ण का वर्ण श्याम हो गया किन्तु जब मोहन ने वंशी बजाई तो उन्होंने उस नाग को नाथ लिया-

खेले खेल नन्द के लाला।

राधा-कृष्ण की किशोरी प्रिया थी अथवा किसी गोपालक की पत्नी। विद्वान् इस पर विवाद करते ही रह गये किन्तु लोकगीतों ने राधा को कभी किशोरी और कभी किसी की पत्नी के रूप में अर्थात् परकीया के रूप में भी चित्रित कर ही दिया।

ऊँचो सो गोकुल गाँव जहाँ हरि खेलत होरी।
राधा चली हिसाय, ढीठ सौ खेलै को होरी॥
खेलत गें कस मान, सुनहु वृषभानु किसोरी।
रची बिरज में फाग, चलो सब सांवर गोरी॥

स्वकीया के इस चित्रण के साथ एक अन्य गीत में परकीया के रूप में राधा इस प्रकार चित्रित है-

सुन मुरली की टेर अचक कई राधा
होत मोर राधा फकिया खों निकरी, गउअन ढ़िरन की बेर
छोड़ो कन्हैया प्यारे बाँह हमारी, हम घर सास कठोर
कहा करै सास कहा करै ननदी, चलो कदम की ओट

कोई ग्वालिन कृष्ण से अपनी गैया दुहाती थी तो कहीं दोहनी रहती थी और कहीं वे नैनों से नैन चलाते थे। इस कारण दूध भूमि पर गिर

जाता था। कभी सेर सवा सेर दूध दुह देते थे तो कभी आधा पाव ही दुह कर दे देते थे। यही शिकायत करने ग्वालिनें यशोदा माँ के पास आई हैं।

अब न दुहाऊँ भइया गैया स्याम से
कहुँ दोवे कहुँ सैन चलाव, दूध गिरे भी मइया
कबहु दोवे सेर सवैया, कबहूँ दोवे अधोया

कृष्ण के पास तो नन्दजी की नौ लाख गायें थीं पर फिर वे दूसरों की गाय संभवत: खेल के लिए ही दुहते होंगे अथवा लोकगीतकार ने उन्हें अपने बीच का साधारण ग्वाला ही मान लिया है।

जब ग्वालिनी शिकायत कर सकती हैं तो कृष्ण उनकी शिकायत अपनी माँ से क्यों न करें। वे भी कहते हैं कि उन्हें व्रज की नारी बहुत सताती हैं। घर के मोटे काम उनसे कराती हैं। गोवर की भारी टोकरी उनके ही सिर पर रखकर ले जाने को कहती हैं। उनको नर से नारी बनाकर अपने साथ पीसना पिसवाती हैं—

हमका ब्रजनारि सताउति हैं।
अपने घर को काम, खुरधुरे, सब हमसे करउती हैं
गरुहेले गोवर को भउआ, हमरे मूँड धरउती हैं
मरद को मेरा जनाना करिके, अपने साथ पिसउती हैं
विन्द्रावन की कुंज गलिन में वंसी मोरि छिनउती हैं

गोबर की टोकरी कृष्ण के सिर पर रखकर उठवाना बुंदेलखण्ड की अपनी बातें हैं। हाँ नर से नारी तो व्रजलोक गायिका भी बनाती हैं तथा वंशी छीन लेना एक साधारण-सी बात है।

श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाया तो लोकगीत नायक ने उस समय माता यशोदा की पीड़ा को पहचाना। कृष्ण तो बड़े ही सहज रूप में गोवर्धन उठाये हुये हैं कि दूसरे हाथ से अपना मुकुट सँभाल रहे किन्तु माता यशोदा लकुटिया लेकर घूम रही हैं। कृष्ण के हाथ को सहायता देने के लिए अथवा पर्वत के भार को रोकने के लिये उन्हें इसकी आवश्यकता अनुभव हुई होगी।

गिरिधारी मोरो वारौ री गिर न परै
एक हात पर्वत लये ठाडैं दूजे हाथ हरि मुकुट संभारे
लये लकुटिया फिरे जसोदा तो तन-मन सब कोय देउ सहारौ

एक गीत जिसको बुन्देलखण्ड के लोग 'गारी' कहकर पुकारते हैं। वह गीत ब्रज में चन्द्रावलि के नाम से दीपावली के दूसरे दिन सौरती पूजा के समय बड़े सवेरे गाया जाता है।

धीर दधि की मटुकिया तो बेचति छाछ दही दही
बिच मिलि गये कान्हा तो माँगत छाछ दही दही
तोरि लाओ पत्ता तो पत्ता पै चाखो दही दही
पत्ता नहीं तोरु तो अँचरा पै चालूँ दही दही

फिर भी गूजरी नहीं मानती। कृष्ण पत्ता लेने के लिये 'इस उत चितयै' इसी मध्य समय पाकर वह भाग गई। अब कृष्ण यशोदा से कहते हैं कि चन्द्रावली मुझसे छल कर गई है मैं भी बदला लूँगा। माता कहती हैं तेरे सात बोहरियाँ हैं फिर तू उसके पीछे क्यों पड़ा है तो वे कहते हैं—

रन सातनू मैया भाड़ झुकाय दै
चन्द्रावलि मन भाई जी

फिर नारी वेश धारण करके चन्द्रावलि के घर पहुँचते हैं तथा उससे बदला लेते हैं।

इस गीत का प्राय: रूपान्तर प्रकारान्तर से निम्नलिखित लोकगीत में प्राप्त होता है। यहाँ वृन्दावन की सुघर ग्वालिन है सिर पर मटुकी और मुख में पान है। बीच में कृष्ण मिल जाते हैं तो वह कदंब पर चढ़कर पत्ता तोड़ने की बात कहती हैं जैसे ही वे कदंब पर चढ़ते हैं ग्वालिन बरसाने पहुँच जाती हैं। कृष्ण उनमन होकर घर पहुँचते और खाट बिछाकर पड़ जाते हैं। माता यशोदा कारण पूछती हैं तो कहते हैं—

एक गुजरिया हमें छल कर लै गई
वोई को छलन हम जावें मोरे लाल

तब जनाना वेष धारण करके कृष्ण चन्द्रावलि का घर पूछते हुये 'खोरन खोरन' घूमते हैं। ''ऊँची अटरिया चंदन किवरिया'' चन्द्रावलि का घर आ जाता है। मौसेरी बहन बनकर वे चन्द्रावलि के साथ खाते, पीते और सोते हैं। ब्रज लोकगीत में जहाँ ''तरौ बुरौ है जइयो रे कान्हा, तुम हमतें छल कीनों जी'' कहकर चन्द्रावलि फटकार लगाती हैं वहाँ बुन्देली लोकगीत में वह छः महीने की रात हो जाय ऐसा मनाती है।

इस गीत के अतिरिक्त अन्य लोकगीतों में कृष्ण मनिहारी बनते हैं एक गीत में गोदना वाली गुदनारी बनते हैं—''बनि गये नंदलाल लिलिहार कि लीला गुदवाय लेउ प्यारी'' की तरह ''मुदसारी को भेस धर लिए कन्हाई, कोई लइयो गुदाई'' माथु लिखियो मदन मुरारी, गालन पै गंगा बनवारी, भुज पै भोर पपीहा धारी'' लोकगीत पाया जाता है। एक लोक गीत में वे वैद्य बनते हैं—

बन गये गोपीनाथ वैद बनवारी
जंगल की बटी भरे फिरे गोली में
कुंजन में करें पुकार मधुर बोली में
सुन-सुन आई निकर बिरज की नारी
ललता ने पास बुलाई बजाकर तारी
X X X
ललता ने घूंघट खोल नवज दिखलाई
सर्दी गरमी से लागो चित्त घबराई

ये कृष्ण छद्मवेश धारी हैं कभी गोपियाँ उन्हें नारी बनाती हैं तो कभी वे स्वेच्छा से नारी वेष धारण कर लेते हैं। एक बार ग्वालिन का वेष बनाकर मुख में पान तथा नयनों में सुरमा डालकर मालदही की चादर ओढ़कर मस्तानी चाल से वृन्दावन की कुंज गलियों में पहुँच जाते हैं। नखशिख वेष का वर्णन लोक-कवि ने इस प्रकार किया है—

बांह बरा बाजूबंद सोहै, छाप छला अंगुठाना
नाक बीच नकबेसर सोहे, बेसर में लटकन लटकाना

पैर महाबर हाथ में मेंहदी, लहंगा घूम घुमाना

बुन्देली 'राई' नृत्य गीत में कृष्ण की मुरली का सुन्दर वर्णन किया गया है—

बजरई आधी रात, वैरन मुरलिया जा सौत भई
बन से तू काटी गई, छेदी तोय लुहार
हरे बांस की बांसुरी, मनो निकरी लै सार
पोर-पोर सब तन काटे, हो न औगुन तोर
हरे बांस की बांसुरी, ले गई चिता बटोर

मुरली तो फिर बजने लगी बार-बार बजती है तो क्या उपाय किया जाय हाँ बांस ही कटवा दिये जायं न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी—

फिर बाजी फिर बाजी हरि की मुरलिया
सो जाऊँगी वृन्दावन कटा डारों बंसा
सो फिर न बाजे लाल हरि की मुरलिया

सावन के लोकगीतों में राधा-कृष्ण के हिंडोले झूलने का वर्णन है। इस विषय के अनेक गीत हैं। कुंजवन में हिंडोले पर दोनों झूलते हैं। अगर चंदन का पालना और रेशम की डोर है। झूलने के लिये राधा के प्रति मधुर मनुहार है—

आओ राधे झूलें तनक धीरे धीरे
तुम मनमोहन झूलन के मिस आवत हो नीरे-नीरे
काहे को इतनी रुनुक बढ़ावत, धुर उरजे चीरे-चीरे
नोखो है मयो जसुदा को, लेते भुजन धीरे-धीरे

फिर अचानक राधा उठ जाती हैं कहती हैं एकहु बात न मानी उननें, ना बोलैं हरसानों तब कृष्ण उन्हें मना लेते हैं—स्याम मनाय बैठाय हंसत हैं, चीर प्रेम से तानो सखी री ऐसो मान राधिका कानो।

फागुन का महीना बड़े भाग्य से आता है—

अरी री राधिका, बड़े री भाग फागुन अइए
फागुन में मिले री घनस्याम
राधिका बड़े री भाग फागुन अइए।

ऊँचे गोकुल गाँव में कृष्ण होली खेल रहे हैं। किसी बात पर राधा फिर रूठ गईं तो कृष्ण ने मनाया-अरी होली खेलने में कैसा मान करना, चलो ब्रज में फाग रचना है। सब वहीं चलो—

ऊँचो गोकुल गाँव, जहाँ हरि खेलत होरी
राधा चली रिसाय, ढीठ सों खेले को री
खेलत में कस मान, सुनहु वृषभानु किसोरी
रची बिरज में फाग, चलो सब सांवर गोरी

सावन में हिंडोले झूलने का सुख और फागुन का रंग सब एक दिन वियोग में बदल जाता है। फिर तो वर्ष ही व्यतीत हो जाता है। कृष्ण के बिना हृदय की पीड़ा समझने वाला कोई नहीं रह जाता। बारहमासा गीत में यह व्यथा इस प्रकार स्पष्ट हुई है—

कन्हैया बिन कौन हरे मोरी पीर।
असाढ़ मास घन गरजन लागे, साहुन गगन गंभीर।
भादों मास नभ बिजली चमके मो तन धरत न धीर।
दुआर मास की घुटक चांदनी, कातिक निर्मल नीर।

जब कृष्ण के सखा ऊधो उनका संदेश लेकर ब्रज में आते हैं तो गोपियाँ अत्यन्त व्याकुल हो जाती हैं कहती हैं—

ऊधो फेर ले जाओ या पाती
पाती दिलत मोरे आँसू चलत हैं, बांचत फाटे छाती
ना हम उनकी वै न हमारे, भये कुबजा के साथी
हमरे होते हमरी सुध लेते, काहे खो जरावे बोरी छाती

कुब्जा को लेकर जो दोषारोपण सूर ने कराया है वैसा ही बुन्देली लोकगीत में भी है। गोपियों ने सभी काले अजमाये हैं। सभी बुरे होते हैं—

ऊधौ कारे रंग अजमाये।
कारी कोयल भौर, अंधियारी तीनों रंग सुहाये
ये तीनों मतलब के साथी, फिर वापस ना आये

X X

कोयल के सुत कागा पाले, भर भर अंग लगाये
बड़े भये जब बोलन लागे, कुल अपने को धाये

हे ऊधो अपने को समझा देना। यदि वे दही-माखन को भूल गये हैं तो मथुरा जाकर यहीं लुटा देना—

ऊधौ हरी को समझाय दीजै मथुरा जाय के
मोहन भूले होदों जो दधि माखन को,
ऊधो गोरस वहीं लुटाय दीजौ मथुरा जाय कें

X X

मोहन भूले जो होवें गइया-बछनन को
ऊधो लकुटी उन्हें गहाय दीजौ मथुरा जायकें

जैसे-तैसे ऊधौ द्वारिका अपने सखा कृष्ण के पास पहुँचते हैं तो वे कृष्ण हँस-हँसकर ब्रज भवन की बात पूछते हैं—ऊधो नेह की नदी में स्नान करके आये हैं यही है उनके हँसने का कारण—

पाती ले जायके, ऊधौ कही प्रेम कुशलात
हँस हँस पूछे सांवला, वह ब्रजन्भौन की बात
कैसे बाबा नन्द, कैसी यशोदा माई
कैसी हमारी गऊ, कैसे जलधार भाई
कैसी दुनियाँ ब्रज की, हलधर भाई
कैसी दुनियाँ ब्रज की, अरु कदम्ब की छाँह
कैसी तो वह गोपी कहये, बसै कौन की बांह

इस गीत में हलधर के विषय में क्यों पूछा है पता नहीं क्योंकि अक्रूर तो दोनों को साथ ही मथुरा की ओर ले गये थे। इस गीत में

सर्वाधिक रोचक है 'वह गोपी' के विषय में पूछता तथा वह अब किसकी बाँह में बसती है यह जिज्ञासा उन्हें स्वयं तो होगी नहीं क्योंकि राधा के प्रेम पर विश्वास न हो ऐसा तो हो नहीं सकता परन्तु वे ऊधो के मुख से एक बार सुनना चाहते हैं। ऊधो इसी लोकगीत में उनके प्रश्न का उत्तर भी दे देते हैं। ब्रज में सब कुछ अच्छा है। कदम्ब वृक्ष की छाया भी सुखद है। वह गोपी जिसके विषय में पूछा है अब भी कृष्ण की बाँहों में बसती है।

अच्छे बाबा नन्द, अच्छी यशोदा माई
अच्छी तुम्हरी गऊ, अच्छे हलधर भाई
अच्छी दुनियाँ ब्रज की, अरु कदम्ब वृक्ष की छाँह
गोपी तो वह भटकट डोलै, बसै कृष्ण की बाँह

लोकगीतकार ब्रज के लीला संसार को छोड़कर द्वारिका के महलों में जा पहुँचता है। जहाँ कृष्ण रुक्मिणी को ब्याहकर ले आते हैं—

सुनेरी हम रुकमिन ल्याए कन्हैया
साज-बाज गजराज संग में, औ बलदाऊ भैया
सब भूपन को मान घटाओ, कैसे सस्त्र चलैया
देवता सर्व पूत खेरे के, बज रही अनद बधैया

रानी रुक्मिणी से "ब्रज विसरत नाहीं" भी कहते हैं। गोकुल, जमुना तथा यशोदा कुछ भी नहीं भूलता।

रुक्मिणी मोय ब्रिज बिसरत नैयां
सोने रूपे की बनी द्वारिका, गोकुल कैसी छबि नैयां
उज्ज्वल जल जमुना की धारा, बाकी भाँत जल नैयां
जो सुख कहिये माय जसोदा, सो सुख सपनेहऊँ नैयां

बुन्देली लोकगीतकार सुदामा की कथा भी नहीं भूले हैं—मित्रता का अनूठा उदाहरण है कृष्ण सुदामा मिलन गीत इस प्रकार है—

सुदामा जी जाके द्वारका में किसन जी मिले
इतै हती मोरी माटी की मढैया, कंचन महल खड़े
इतै हतो मोरी तुलसी को बिरवा, चन्दन रूख खड़े

पहली पौर गजराज विराजे, दूजी में तुरग खड़े
तीजी पौर विश्करमा बैठो, रतन जड़ाव जरे
छिन में विपत हरी करुनागत, दारिद दूर करे

बुंदेली लोकगीतों में श्रीकृष्ण बहुत कुछ ब्रज के कृष्ण जैसे हैं परन्तु उसकी अपनी विशेषता है अपनी छाप है। कृष्ण तो स्वर्ण धातु की तरह थे जहाँ गये वहीं के आभूषण में ढल गये। बुदेलखंड वीर भूमि है रस की नहीं फिर भी श्रीकृष्ण चरित्र ने उसे रसमय बनाने की सफल चेष्टा की है।

●●

अवधी में श्रीकृष्ण

❀ डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस'

जब मुसलमानी आतंक से क्षुब्ध जनता ने निराश होकर भगवान की ओर देखना शुरू किया तभी जनता के प्रतिनिधि धर्माचार्यों ने अपने मुख्य पीठ धार्मिक क्षेत्र और तीर्थस्थानों में बनाये। इन स्थानों पर रह कर उन्होंने लीलामय भगवान के लोक-रक्षक और लोक-रंजक रूपों को समाज की मर्यादा के अनुरूप प्रतिष्ठापित किया और एतद्विषयक ग्रन्थ एवं भाष्य लिखे। उसी से प्रभावित होकर भक्त कवियों ने अपने काव्य को राग-रस-समन्वित करके शिष्ट रूप दिया जिससे जनता के जीवन में आशा और उत्साह का संचार होने लगा। उत्तरापथ में भगवान के अवतारी रूप राम और कृष्ण हुए जिनके जन्म-स्थानों (अयोध्या और ब्रज) की बोलियों ने साहित्यिक भाषाओं का रूप ग्रहण किया। द्रष्टव्य है कि राम काव्य की अपेक्षा कृष्ण काव्य का क्षेत्र व्यापक हुआ। ब्रजभाषा का प्रचार केवल ब्रज प्रदेश में ही नहीं अपितु अवधी क्षेत्र में भी पर्याप्त रूप से हुआ। स्वयं तुलसीदास ने रामचरितमानस, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, बरवै रामायण और रामलला नहछू के अतिरिक्त शेष सभी रचनाएँ परिनिष्ठित ब्रज भाषा में लिखीं। इतना होने पर भी भक्त कवियों ने अपने काव्य में 'ब्रज' और 'अवधी' दो भाषाओं के पार्थक्य की बात कभी नहीं कही क्योंकि उनका लक्ष्य 'भाषा-विवाद' नहीं था, भगवान का लीला वर्णन था। हाँ, यह अवश्य हुआ कि राम की जन्मभूमि अयोध्या होने के कारण राम काव्य प्रायः अवधी में ही लिखा गया और कृष्ण काव्य प्रायः ब्रजभाषा में फिर भी कवियों की रचनाओं का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राम का जीवन चरित ब्रजभाषा में

और कृष्ण का जीवन चरित अवधी भाषा में भी लिखा गया। ब्रज भाषा के वरेण्य कवि सूरदास ने भी राम की लीलाओं का वर्णन किया और अवधी में कृष्ण काव्य की रचना लालचदास, आसानन्द, बलवीर, लक्षदास और चंददास आदि कवियों ने की। लालचदास रचित दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। (1) विष्णुपुराण और (2) हरिचरित्र। इनमें से 'विष्णुपुराण' की तो खण्डित प्रतियाँ ही मिलती हैं। लालचदास रचित यह 'हरिचरित्र' ग्रन्थ अवधी के कृष्ण काव्यों की परम्परा में उपलब्ध प्रथम काव्य है जिसमें कृष्ण का चरित वर्णन प्रबन्ध काव्य के रूप में (संवत् 1587 वि०) लिखा गया। यह ग्रन्थ उस समय इतना समादृत एवं प्रचलित हुआ कि उस काल में इसका अनुवाद फ्रांसीसी भाषा में भी हुआ। इसके विद्वानों की यह धारणा नितान्त निर्मूल सिद्ध होती है कि कृष्ण काव्य प्रबन्ध काव्य या महाकाव्य के रूप में नहीं लिखा गया और जो लिखा भी गया है वह 19वीं और 20वीं शती में ही लिखा गया।

लालचदास के विष्णुपुराण का भाषानुवाद सं० 1585 में किया था जिसकी खण्डित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। इसके बाद उन्होंने भागवत दशम स्कन्ध का भाषानुवाद 'हरिचरित्र' नाम से सं० 1587 में किया। वस्तुत: लालचदास ने 'हरिचरित्र' की कथा की आधारभूमि विष्णुपुराण से ग्रहण करके भागवत की मंदाकिनी में अवगाहन किया और दशम स्कन्ध की कथा का ही वर्णन किया। लालचदास की मृत्यु के उपरान्त आसानन्द ने 'हरिचरित्र' ग्रन्थ में वर्णित कृष्ण चरित के अन्य प्रसंगों को, भागवत के दशम स्कन्ध उत्तरार्ध के आधार पर, महाभारत तक की कथा से जोड़ दिया।

भगवान कृष्ण लोकरंजक रूप का वर्णन निसर्ग सुषमा निबद्ध है जिसमें हमारा मन भी कन्हैया की बाल-लीलाओं को अपने पुत्र की बाल-लीलाओं से सम्बद्ध करके उसी चिन्मय सत्ता की कल्पना करता हुआ नन्द और यशोदा के सौभाग्य की स्पृहा में सन्तुष्टि पाता है। राजकुमार होने के कारण राम का चरित्र जन-जीवन से कुछ ऊँचा है

किन्तु कृष्ण गोपग्वालों के सामान्य जन-जीवन की एक इकाई है। भागवत के दशम स्कन्ध में कृष्ण का चरित बड़ी ही सुन्दरता से दर्शाया गया है। इसमें पदे-पदे कृष्ण के जगत्कारण तथा आदि ब्रह्म होने और संसार के पापियों का संहार करने के हेतु पृथ्वी पर अवतरित होने की कथा कही गई है। कवि लालचदास के काव्य में उस निराकार ब्रह्म के सगुण-साकार रूप धारण करने का प्रमुख कारण यही बताया गया है। शिव, राम और कृष्ण को एक ही परब्रह्म की तीन शक्तियाँ मानकर उनमें समन्वय स्थापित करने की प्राचीन परम्परा का पालन किया गया है। अवधी के इन कृष्ण काव्यों में ब्रजभाषा में वर्णित कई महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक प्रसंगों-भ्रमरगीत तथा तार्किक पद्धति पर सगुणोपासना की प्रतिष्ठा और निराकार की भावना के खण्डन को प्रायः नहीं अपनाया गया। उन्होंने तो सगुण तथा निर्गुण को एक बताकर समान्य ढंग से उसका विवेचन किया। इस प्रकार के प्रसंगों की ओर इन कवियों का ध्यान सम्भवतः इसलिए नहीं गया क्योंकि भागवत का अनुवाद करते हुए भी वे केवल कृष्ण-चरित को ही प्रधानता देते रहे और ब्रज के कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों की परम्परा के प्रभाव से वंचित रहे। (माधवी दासी और लक्षदास इनमें अपवाद हैं।) इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ये कवि कृष्ण के लीला धाम में जाकर किसी सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुए और उन्होंने स्वतन्त्र रूप से ही कृष्ण चरित का मुक्तक तथा प्रबन्ध कथा के रूप में वर्णन किया।

सोलहवीं शती तक अवधी में लिखित कृष्ण काव्य ब्रजभाषा के वरेण्य कवियों (सूरदास आदि) से भी पूर्व की प्रचलित परम्पराओं के आधार पर लिखा गया है। अतः इनमें उन प्रसंगों को उतने प्रांजल रूप में ग्रहण न किया जा सका, जिस तरह कि ब्रज के कवियों ने किया। अद्यावधि उपलब्ध प्राचीन साहित्य में ब्रजभाषा में 'प्रद्युम्न-चरित' (सं० 1411) तथा कवि विष्णुदास की रचना 'सनेह-लीला' (सं० 1492) से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के प्राकट्य से 80-90

वर्ष पूर्व ही ब्रजभाषा में कृष्ण काव्य लिखा जाने लगा था। वैसे कृष्ण चरित वर्णन की यह परम्परा संस्कृत से प्रारम्भ होकर प्राकृत और अपभ्रंश के प्राचीन काव्यों से होती हुई, उत्तराधिकार के रूप में हिन्दी को भी प्राप्त हुई। इसी पूर्वापर परम्परा के अनुसार हमारे प्राचीन साहित्य में नैसर्गिक शोभा की आधारभूमि पर ऋतु वर्णन को सुन्दरता से अंकित किया गया और अवधी के अन्य कवियों ने भी इसे परम्परागत दाय के रूप में प्राप्त किया। गो० लक्षदास जी के समय में भ्रमरगीत, बारहमासा, षड्ऋतु वर्णन, स्तोत्र तथा नामावली आदि का पर्याप्त प्रचलन हो चला था, अत: उन्होंने भी अपने काव्यों में इन सभी शैलियों में भावपूर्ण रचनायें कीं।

ब्रजभाषा के सूरसागर तथा कृष्ण-गीतावली आदि ग्रन्थों की भाँति अवधी के इन कृष्ण-काव्यों को भी जन-सामान्य की प्रचलित बोली में लिखा गया जिससे जनता अपने भगवान की लीलाओं को समीप से पढ़, सुन तथा समझ सके। अवधी के कवियों ने विभिन्न स्थलों पर विविध रूपों में कृष्ण की शोभा का वर्णन किया है और कृष्ण के शक्ति, शील, सौन्दर्य समन्वित रूप की पवित्र झाँकी प्रस्तुत की है। इन काव्यों में गोपियों का विरह वर्णन और नन्द यशोदा के वत्सल भाव की चरम परिणति अवश्य दिखाई गई है किन्तु उनमें वह रस प्रवणता, अंगूर की सी मिठास और मनमोहकता नहीं आ सकी जो सूर ने प्राप्त की। परम्परागत कृष्ण चरित को प्रबन्ध कथा के रूप में लिखने का कार्यारम्भ किया गया। लालचदास, आसानन्द और लक्षदास आदि कवियों ने कृष्ण चरित को प्रबन्ध कथा के रूप में प्रस्तुत किया। भीम, बलवीर तथा गोविन्ददास आदि कवियों ने महाभारत के कुछ पर्वों का भाषानुवाद किया या स्फुट रूप में कृष्ण के सम्बन्ध में कविताएँ लिखीं।

अवधी में लिखित कृष्ण काव्य के प्रणेताओं ने ब्रज प्रदेश के सम्प्रदायानुमोदित सिद्धान्तों के आधार पर प्राय: अपनी कविताएँ नहीं लिखीं। कृष्ण काव्य का जो भी वर्णन मिलता है वह भागवत के अनुवाद

के रूप में तो है (उसे हम अविकल अनुवाद नहीं कह सकते) किन्तु कुछेक कवियों को छोड़कर शेष ने स्वतन्त्र रूप से ही कृष्ण चरित का वर्णन किया। कृष्ण काव्य में यह चरित वर्णन तीन रूपों मिलता है—(1) मुख्य कथा के रूप में, कृष्ण की बाल लीलाओं तथा उनके जीवन का वर्णन और गोपी का विरह। (2) गौण कथाओं के रूप में—सुदामा चरित, रुक्मिणी मंगल, दंगवै पर्व, महाभारत तथा जैमिनीयाश्वमेध पर्व आदि के आधार पर अन्य कथाएँ। (3) अवान्तर कथाएँ—प्रद्युम्न चरित तथा उषा-अनिरुद्ध की कथा आदि के प्रसंग।

अवधी कृष्ण काव्य के प्रणेता कवियों में (17वीं शती से अविकल) मुख्यत: नरहरि महापात्र, रहीम, रघुनाथ राम-सनेही, गोपाल कवि, बांकावती महाराणी, गिरधारी, भूपति, चंददास, ब्रजवासीदास, भाजनकवि, भागवतदास, ज्वाला प्रसाद मिश्र, विसाहूराम तथा द्वारका प्रसाद मिश्र आदि 37 कवियों के सम्बन्ध में सूचनाएँ मिलती हैं जिनमें से कुछ की रचनाओं के सम्बन्ध में तो यत्र-तत्र कुछ विवरण मिलता है और शेष के ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। ब्रजभाषा कृष्ण काव्य में सर्वाधिक मिठास और रस प्रवणता होने पर भी सामाजिक मर्यादा और विधि-निषेधों का ध्यान न रखने की बात खटकती है किन्तु अवधी कृष्ण काव्य के प्रणेता कवियों की कृतियों का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों ने इस ओर बहुत ध्यान दिया है। सामाजिक शिष्टता और मर्यादा का उल्लंघन न हो, इस ओर ये कवि सदैव जागरूक रहे हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर अवधी कृष्ण काव्य में प्राय: स्वकीया प्रेम की ही व्यंजना की गई है। गार्हस्थ्य जीवन की पवित्रता को बनाये रखने और सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन न होने देने में इन कवियों ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की है।

महाभारत तथा जैमिनी पुराण के भाषानुवाद के समय कवियों ने कृष्ण को श्रेष्ठ नायक, राजनीतिक नेता तथा कुशल महामानव के रूप में चित्रित किया है। युधिष्ठिर, भीम आदि के मुख से, कवियों ने यत्र-तत्र

कृष्ण के पारलौकिक (ब्रह्म के अवतार होने) रूप की ओर भी संकेत कराया है और देवताओं की भाँति कहीं-कहीं तो उनकी (ब्रह्मरूप कृष्ण) स्तुति भी कराई है। इन रचनाओं में कृष्ण का व्यक्तित्व महिमा-मण्डित रूप में चित्रित किया गया है।

जिन रचनाओं में स्वतन्त्र रूप से कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास किया गया है वे कथानक की दृष्टि से भागवत, विष्णु पुराण, हरिवंश पुराण आदि से प्रभावित हैं। भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद करते समय कवियों की मौलिक प्रतिभा ने उस वर्णन को और भी सजीव बना दिया है। कृष्ण की बाल-लीलाएँ केवल लोकरंजक रूप में ही चित्रित नहीं की गई हैं, उनका लोकरक्षक रूप भी समाज के आदर्श की प्रतिष्ठा की रक्षा करने में तत्पर दिखाया गया है। अवधी कृष्ण काव्य की इन परम्पराओं का सर्वोत्तम विकसित और समन्वित रूप पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' ग्रन्थ में चरम परिणति तक पहुँचता दिखाई देता है जहाँ सामाजिक शिष्टता और मर्यादा का उज्ज्वलतम रूप अंकित किया गया है।

अवधी कृष्ण काव्य मुख्यत: दोहा-चौपाई, सोरठा और बरवै छन्दों में लिखा गया है। जिन कवियों ने ब्रजभाषा में भी रचनाएँ कीं उन्होंने ब्रजभाषा में प्रचलित छन्दों-पद, छप्पय, कवित्त, विष्णु पद, सवैया आदि को भी प्रयुक्त किया है। इन कवियों के पद राग-रागनियों के परिवेश में निबद्ध किये गये भी मिलते हैं। प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से भी वर्ण्य विषय में चारुता आ गई है।

●●

श्रीकृष्ण और कला (साँझी)

❀ डॉ० हर्षनन्दिनी भाटिया

आज दोऊ खेलत सांझी सांझ।
नन्दकिशोर राधा गोरी, गोरी सखियन मांझ।।
कुसुम चुनन में रुनझुन बाजत, कर वूरी पग झांझ।
'हरीचंद' निधि राख गरूरी, भई रूप लखि बांझ।।

ब्रजमण्डल में श्रीकृष्ण और राधिका दोनों मिलकर साँझी चित्रित करते हैं—यह श्री भारतेन्दु जी की साँझी कला के प्रति कल्पना है।

सर्वविदित है कि जनपद की लोककथाएँ भारतीय संस्कृति का सहजरूप में अनुपम शृंगार करती हैं। ब्रज की लोककथाएँ सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व करती हैं। लोककथाएँ ब्रज की निधि हैं, सम्पत्ति हैं तथा ब्रज के विकास में सहायक हैं। ब्रज में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी हुई कलाओं में ब्रज के कण-कण में सोंधी माटी की सुगन्ध व्याप्त है। सोंधी सुगन्ध को कला रूप में विकसित करने वाले हैं—श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण की प्रेरणादायिनी तथा आह्लादिनी शक्ति हैं श्रीराधा।

सदा-सदा से ब्रज की पावन भूमि पर कला का सृजन हुआ है। भारतीय चित्रकारी के लोक परम्परित रूपों की विभिन्न प्रकार से झाँकी प्रस्तुत करने वाली ब्रज की 'साँझीकला' उत्कृष्ट है। यह अत्यन्त उपयोगी, आकर्षक तथा मनोरम कला का प्रदर्शन है। साँझी कला शिक्षा एवं मनोभावना को प्रस्फुटित करने का सरल, सहज व सुलभ माध्यम है। ब्रज की लोक संस्कृति अद्वितीय होने के कारण साँझी लोक-कला में मानव जीवन की सूक्ष्म भावनाएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। साँझी कला में मात्र हस्तकला का कौशल ही नहीं, वरन् कुशाग्र बुद्धि का कुशल चमत्कार द्रष्टव्य है। साँझी कला भौतिक ज्ञान, रूप सर्जन तथा रंगयोजना

की वास्तविक जननी लक्षित है।

'साँझी' शब्द अपने नामानुसार 'साँझ अथवा संन्ध्या' समय का आभास देता हुआ प्रतीत होता है। ब्रजभूमि पर प्रत्येक कार्य श्रीराधा और श्रीकृष्ण की लीला से अनुप्राणित है। यद्यपि वैदिककाल से यज्ञ आदि में ऋषि पत्नियाँ और ऋषिकुमार यज्ञ-मण्डप पुष्पों से सजाते थे परन्तु श्रीकृष्ण काल से इसका लौकिक स्वरूप उजागर हुआ। श्रीकृष्ण के समय से साँझी कला-प्रदर्शन प्रारम्भ होकर आज भी अभिराम और नयनाभिराम है। पौराणिक आख्यान के अनुसार श्रीकृष्ण ने श्रीराधा की प्रतीक्षा करते हुए एक साँझ विविध प्रकार की साँझी बनाकर उत्कृष्ट कला का परिचय दिया। श्रीराधा हर्षातिरेक से अभिभूत हो उठीं। साँझी अनेकानेक पुष्पों को एकत्र कर बनाई जिसमें प्रेमप्रीति का रंग अधिक मुखर प्रतीत होता था—

प्रीत साँझी काज कीनी काम काछी छबि आछी,
और साखी को है ताकी साछी सब सखियाँ
फूली-वय-संधि साँझ राधा रूप बाग माँझ,
डौलै आज फूल भरी नागर को अंखियाँ।।

नागरीदास ने श्रीकृष्ण को सखी के छद्मवेष में चित्रित किया है और वे नीलमणि वेलि से सुकुंवरि जी के साथी बनकर घूमते हैं। राधा अपनी सखी बनाकर बाँह पकड़कर उठाती हैं। साथ साँझी खेलकर पुष्पों को संजोती हैं और प्रफुल्लित होती हैं—

रंग सरसानै बरसानै बन बाग स्यामा,
खेलें साँझी साँझ बहो साथिनि सिंगार कै।
नूपुर निनाद पूर रह्यो है द्रगनि माँझ
जहाँ तहाँ लेत बहु कुसुम उतारि कैं।
साँवरी नवेली बाल नीलम मनि बेली-सी,
अकेली फिरै बांहा जोरि संग सुकुवंरि कैं।।
डारहिं नवावैं मिलि बीनैं फुल पावै फल,
नागरिया वारैं मन कोतिक निहारि कै।।

साँझी की विशेषता है कि अनेक प्रदेश में मनाई जाती है। ब्रज में बल्लभकुल के मन्दिरों में पुष्पों से व सूखे रंगों से कलाकार सुसज्जित करते हैं। विशेष रूप से पाँच दिन साँझी महोत्सव मनाया जाता है, जिसमें दिन-प्रतिदिन अधिक निखार आता जाता है। कृष्ण-राधा की लीलाएँ नित्य नवीन रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। इसी प्रकार गुजरात, हरियाणा, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि स्थानों में भी कुछ विभिन्न रूप में सम्पन्न करते हैं।

प्रमुख विशेषता है कि सभी सम्प्रदायों में साँझी कला का हार्दिक स्वागत किया है, कला की सराहना की है और उसका विशेष महत्त्व समझते हुए अपने-अपने मन्दिरों के प्रांगण में साँझी को स्थान दिया है। बल्लभ सम्प्रदाय, सखी सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय तथा राधावल्लभीय सम्प्रदाय में 'साँझी महोत्सव' अपनी कलात्मक व सुन्दर रुचि के परिचायक हैं। श्रीकृष्ण चैतन्यभट्ट जी के मन्दिर में सदैव साँझी नवीन रूप में प्रतिदिन प्रस्तुत की जाती रही है। परिवार में सभी बालक अदम्य उत्साह, लगन एवं परिश्रम से नित्य नूतन भावनाएँ संजोकर उत्साहपूर्वक प्रतिवर्ष सुसज्जित करते हैं। राधाबल्लभ के मन्दिर में भी पुष्पों को सजाकर साँझी का सुन्दर प्रस्तुतीकरण किया गया। राधारमणजी के मन्दिर में साँझी पुष्पों द्वारा मन्दिर के प्रांगण में बनाई जाती थी।

गृहों में पुष्पों द्वारा चित्रित करने की परम्परा कृष्ण के समय से ही प्रारम्भ हुई। सायंकाल में श्रीकृष्ण ने साँझी कला का संयोजन किया। इस कारण साँझी नाम अभिहित हुआ।

पुराणों की कथानुसार श्रीकृष्ण ने राधा को रिझाने के लिए शरद का प्रारम्भ होने पर सुन्दर दिनों में यमुना किनारे प्रतीक्षा करते हुए सायंकाल साँझी बनाई। कालिन्दी के कलित कूल पर वन-उपवन के विविध पुष्पों को चुनकर भूमि पर कलापूर्ण ढंग से सजाते थे। इस प्रकार साँझी कला कृष्ण-राधा और साँझ से सम्बन्ध रखती है। शरद ऋतु के पूर्व आसौष माह में सुसज्जित की जाती है।

श्रीराधा पुष्प चुनने जाती हैं। उनकी सभी सखियाँ भी पुष्पों के

शृंगार कर साथ जाती हैं।

साँझी फूल लैन सुख दैन मन नैननि कौं,
श्यामा जू साथ जूथ जुवतिन के धाए हैं।
चलत अधिक छवि छाजत छबीलिनि,
रंगीलनि के रंग रंग पट फहराए हैं।
नागरि निसांन नारद नूपुर समूह बाजैं
अंग की सुवासनि भ्रमर धूट आए हैं।
वृन्दावन बीच पाय धरत उठी यो गाय,
मानो घनश्याम जानि मोर कुहक आए हैं।।

ब्रज में बालिकाएँ भूमि पर भित्ति पर साँझी खेल खेलती हैं। बालिकाएँ प्राकृतिक उपादानों तथा सुलभ उपकरणों से प्राप्त वस्तुओं द्वारा साँझी की देवी के रूप में उपासना करती हैं। श्रीराधा भी साँझी सखियों के साथ खेलतीं हैं। सखियाँ साँझी के शृंगार हेतु राधा के साथ नाना प्रकार के पुष्पों का चयन करती हैं—

राधा प्यारी कह्यो सखिन सौं साँझी धरो री माई।
बिटिया बहुत अहीरन की मिल गई जहाँ फूल अथाई।।

श्रीकृष्ण ने राधा के मन की अभिलाषा पर विचार किया और अपने साथियों को निर्देश दिया कि गाय-बछड़ों का ध्यान रखें और स्वयं भी सखी का रूप धारण कर गन्तव्य पर पहुँच गये—

यह बानी आनी मन मोहक कह्यो सबन समुझाय।
भैया बछरा देखे रहियो भैया छाक धराय।
ऐसे कहि चले श्यामसुन्दर पहुँचे जहाँ सब आई।
सखी रूप ह्वै मिलि लाड़िलि फूल लिये हरखाई।
कर सों कर राधा संग शोभित साँझी चीती जाय।
षट्रस व्यंजन अरपे तन मन अभिलाख पुजाय।
कीरति रानी लेत बलैया विधि सों विनय सुनाय।
'सूरदास' अविचल यह जोरी सुख निरखतन अघाई।।

श्रीकृष्ण ने भी नारी के रूप को धारण कर साँझी सजाई, इस

कारण साँझी कला कन्या व नारियों के त्यौहार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुई।

आश्रमों एवं गृहों में नारियाँ स्थानों को पुष्पों से सजाती थीं और आज भी गृह व मन्दिर गेंदे व बेले के पुष्पों-कलियों से सुसज्जित किये जाते हैं किन्तु श्रीकृष्ण व राधिका के आभूषण पुष्पों द्वारा ही निर्मित होते थे। अन्य आभूषण सोने-चांदी-हीरे-रत्न के होते थे किन्तु साँझी के समय पुष्पों के आभूषण पहनकर ही राधिका पुष्प-चयन करने जाती थीं—

फूलन के उर हार-हमेल लिए कर पंकज फूल पिरावै।
फूलन को नवलासनि सों कड़ फूलन की गुहि गेंद चलावै।
फूल हिये विच पीय लियें अलि नागर रंग अकेल सों गावै।
मेलि कै अंस भुज सुख झेल या खेल कै सांझी यै स्यामा जू आवै।

ब्रज व राजस्थान में अनेक प्रकार की साँझी बनाई जाती है। वैष्णव धर्म के वल्लभ सम्प्रदाय में साँझी कला अधिक अंकुरित-पुष्पित व पल्लवित हुई। इस सम्प्रदाय में कृष्ण को बालस्वरूप देकर बाल भावना से सेवा की जाती है। बालक के मनोरंजन हेतु विशेष रूप से पाँच दिन आश्विन कृष्ण एकादशी से अमावस्या तक साँझी कला की उपासना की जाती है। प्रतिदिन नई प्रकार की साँझी निर्मित कर साँझी के पद गाये जाते हैं। अष्टछाप के कवियों ने साँझी को महत्त्व देते हुए पदों की रचना की और सभी पद गेय हैं। संगीत शिरोमणि स्वामी हरिदास जी ने 'साँझी' को अधिक महत्त्वपूर्ण समझकर विस्तृत वर्णन कर विशेष पद संजोया है—

राखी वृन्द सब आय जुरीं वृषभान नृपति के द्वारि।
बीननि फूल चलौ बन राधे रव सज साज सिंगार।।
यै सूनि कीरति जू हँसिकै प्यारी कौ कियो सिंगार।
कबरी कुसुम गुही है माने उर गन की अनुहारि।
चलत चाल मराल बाल-सी राधा सखियन माँझ।
बीनति फूलनि यमुना कूलनि खेलति साँझी साँझ।
जालरंध्र देखत मनमोहन दृष्टि परी ब्रजलाल।

तिरियाँ रूप कियो है तबही आय मिले तत्काल।
छबि निरखत वृषभानु दुलारी भौत करी मनुहारि।
बीनत फूल अकेली हेली को है तू सुकुमारि।।
कौन गांव बसति हौ सुन्दरि कहा तिहारौ नाम।
आजु अंवारि भई है प्यारी चलौ हमारे धाम।
नंदगांव में वास वसित है सांवरि मेरौ नाम।
साँझी मिसि आई हौं या बनुपूजे मन के काम।।

राधावल्लभ के मन्दिर में भी साँझी स्थल पर मन की अभिलाषा पूर्ण करने में तत्पर साँझी के पूजन के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है–

मनवांछित फल पाइये जो कीजै या सेव
सुनो कुवंरि वृषभान की यह साँझी साँचौ देव।

श्रीहरिदास जी के चित्रित व लिखित पद से तथा साँझी के अन्य पदों से यह आभास होता है कि ब्रजवासी शरदकालीन पुष्पोत्सव को सुरुचिपूर्वक आयोजित करते थे और साथ-साथ कलात्मक ढंग से सम्पन्न करते थे। श्रीराधा व गोपियाँ पुष्पों से स्वयं को सुसज्जित कर प्रमुदित होकर हृदय का उल्लास चारों ओर प्रकट करते थे। विविध प्रकार के पुष्पों का उल्लेख स्वामी हरिदास जी ने एक ही पद में किया है–

सोनजुही चमेली चम्पा राइबेलि औ बेलि।
गुलबांस के भेद करें कर करत परस्परि केलि।।
कमल कनेर केतकी निबौरी रेवति सदा गुलाब।
गुलतर्रा और सदासुहागिनि फूलन की भरि छाल।।
ललिता चम्पकलता बिसाखा स्वामा भामा जेह।
चन्द्रभाग तुंगा चन्द्रवालि आई करि अति नेह।।
ठौर-ठौर सब कहत सखिन सों चलो भट घर जाहि।
स्यामा जू ओ नवल सखि दोऊ गुही परस्पर बाँहि।।
फूल गेंद सलहिन लिए कर गावत साँझी गीत।
गजगति चाल चलति अति सुन्दर बढ़ी परस्पर प्रीत।।

बल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में सूखे रंग की साँझी बनाने का

प्रावधान किया गया है। पुष्पों का सदैव उपलब्ध होना सहज नहीं होता और अपेक्षित रंग के पुष्प सरलतापूर्वक प्राप्त नहीं होते, पुष्प शीघ्र मुरझाकर सिकुड़ने लगते हैं और अपनी प्रफुल्लता खोने लगते हैं। सरल, सहज, सुलभ तथा सुविधा की दृष्टि से रंग-बिरंगे सूखे रंगों की साँझी अधिक प्रशंसनीय होती है। इन रंगों से श्रीकृष्ण सम्बन्धित लीलाएँ एवं दर्शनीय स्थल प्रस्तुत किये जाते हैं।

सर्वप्रथम जमीन से एक बालिश्त ऊँचा चबूतरा बनाया जाता है जिसमें आठ कोण बनाये जाते हैं। कलापूर्ण ढंग से बनाये गये अष्टकोण चबूतरे को वेदी की संज्ञा दी जाती है। यह अष्टकोण अष्टकमलदल का प्रतीक माना गया है। इस पर चूना या खड़िया द्वारा धागा छोड़कर रेखाएँ खींचीं जाती हैं। रेखाओं द्वारा बेलों का स्थान नियत किया जाता है। बेलों का उठना और दबना आदि का विशेष ध्यान रखना पड़ता है जो परस्पर सम्बन्धित होता है। तत्पश्चात् आधार का रंग भरकर ऊपर फूल व पत्तियाँ बनाते हैं। बेलों का जाल बन जाने के उपरान्त मध्यभाग में छूटे हुए स्थान पर श्रीकृष्ण सम्बन्धी लीलाओं का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त कलात्मक सौन्दर्यपूर्ण किया जाता है। सूखे रंग एक-दूसरे में मिल न जाएँ इसके लिए रांगे की पंक्ति प्रस्तुत की जाती है। बेल-बूटे, फूल-पत्तियाँ, जाल व मूर्तियाँ साँचे काटकर सरलतापूर्वक बन जाते हैं। बड़ी सावधानी से कागज के साँचे बिछाना रंग डालना व साँचे उठाना आदि कार्य किये जाते हैं। यमुना नदी, सरोवर, पर्वत, आकाश, चाँद-तारे अति सुन्दर ढंग से दर्शाये जाते हैं।

'साँझी' को पूर्ण रूप में प्रस्तुत करने में लगन, परिश्रम और उत्साह अपेक्षित है यह सम्पूर्ण की जाती है 8 से 10 घण्टे में, किन्तु मिलकर कार्य करें और पृथक् रूप से बेल बनायें तो समय विभाजित हो जाता है। सायंकाल के पश्चात् रात्रि में विद्युत के प्रकाश में साँझी कला की शोभा द्विगुणित हो उठती है। इसकी मनोरम, आकर्षक और नयनाभिराम छवि मनमोहक होती है।

साँझी चार प्रकार से बनाई जाती है। फूलों के द्वारा, सूखे रंगीन

रंगों के द्वारा, परात में पानी के अन्दर तथा बाहर व ऊपर चित्र प्रस्तुत कर प्रशंसनीय कार्य करके साँझी बनाई जाती है। साड़ियों पर बेल, किनारी व फीते बनाना, कश्मीरी दुशालों पर कढ़ाई करना, छींट छापना, गलीचा बुनना, चादर पर चित्र बनाना आदि साँझी के समान ही चित्रांकन होता है। साँझी के साँचों के द्वारा यह कार्य सरल व सहज, सुलभ हो जाते हैं।

ब्रज में साँझी के साँचों का अखण्ड भण्डार है। नि:सन्देह यह भण्डार ब्रज की अपूर्व निधि है। इन मूल्यवान निधि की सुरक्षा व संरक्षण बहुत अपेक्षित है। जोशी राधेश्याम द्विवेदी कलापूर्ण व सुन्दर साँझी बनाने में कुशल थे, इस कारण साँचों का संग्रह अनुपम था। साँझी बनाने में यह विशेषता है कि अधिक व्यय नहीं करना पड़ता। सफेद पाउडर, हल्दी, मिट्टी, खरिया, कोयला, सिन्दूर, होली में प्रयुक्त होने वाले लाल व हरे रंग के गुलाल प्रयोग किये जाते हैं।

कुछ समय पूर्व प्रत्येक घर में बालक साँझी बनाते थे किंतु समय का अभाव, निरुत्साह व निराशा, धन की कमी, कलात्मकता में अभिरुचि के कारण पहले से कम साँझियाँ बनाई जाती हैं। अन्य मनोरंजन के साधनों व उपकरणें में वृद्धि हो जाने के कारण साँझी की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। एक सुन्दर कला का ह्रास होने, लुप्त होने और नष्ट होने से बचाने के लिए मैं प्रयत्नशील हूँ।

कुमारी कन्याएँ, ग्रामीण बालिकाएँ तथा कुछ महिलाएँ गोबर की साँझी दीवार पर बनाती हैं। यह आश्विन माह में शुक्लपक्ष में होती है। साँझी काल में कुमारिकाएँ साँझी देवी के रूप में दीवार पर रेखाएँ खींचकर आकृति बनाती हैं। गोबर से साँझीकोट बनाती हैं। मिट्टी, पन्नी और रांगे के आभूषण पहनाती हैं। बालिकाएँ गीत गाती हैं, आरती उतारती हैं और भाइयों की मंगलकामना करती हैं। सुन्दर वर की कल्पना संजोती हैं। आरती उतारते समय छोटे, मधुर और सरल गीत साँझी का स्वरूप निर्धारण करने की दृष्टि से महत्पूर्ण होते हैं—

आरता री आरता संझा भाई आरता।
सोने का दिया ले, कपूर की बाती।

सुरही कौ धृत जरह सारी राती।
गोरे भैया के बाल झबाझाव होंय।
पोई हैं पुरियाँ बिराजै गौभात।
नौंत जिपाऊ सोलह सरोई।
जहाँ पै बैठे मेरे सिगरे भैया।
चिरंजीवौ भैया के जाए।
जाए री जाए गोद खिलाए।।

राधारानी भी रंग-बिरंगे पुरुषों और कोमल पत्तियों से साँझी बनाती हैं। श्रीकृष्ण वहाँ आकर मिलते हैं और साथ-साथ साँझी निर्मित करते हैं। इससे सम्बन्धित सूरदास कृत् पद उल्लेखनीय है—

सखियन संग राधिका बीनत सुमनन बन माँह।
साँझी पूजन को आतुर हो ठाड़े कदम्ब की छाँह।।
सखी भेष दै मोहन कों, लै चली अपने गेह।
पूछी कीरति, यह का सुंदरि? तब कह्यो मेरी सनेह।
साँझी खेलि बिदा करि सबको दोऊ पौढ़े से जमझार।
सगरी राति सूर के स्वामी, बसि सुख लियो अपार।।

श्री हरिदास जी ने राधा के द्वारा भित्ति पर गोबर से साँझी चित्रित करने का वर्णन अपने विस्तृत पद के अन्त में किया है—

केसर चंदन और अरगजा मृगमद कुंकुम गारि।
कामधेनु कौ गोबर लै कैं साँझी धरति सम्हारि।।

ब्रजभाषा का विस्तृत पद वर्णन करने के उपरान्त अन्त में स्वामी हरिदास जी की अन्तिम पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

बरनौं कहा अल्प मति मेरी, रसना एक बनाइ।
श्री हरिदास प्रभु की ये सोभा निरखति मन न अघाइ।।

अष्टछाप के कवि ने भी श्रीराधिका जी द्वारा दीवार पर साँझी अंकित करने का वर्णन किया है—

मृगमद चन्दन केसर सों स्यामा जू लीपी भीति।
कामधेनु के गोबर सों रचि, साँझी फूलन चीति।।

ज्ञातव्य है कि पुष्पों द्वारा भूमि पर और गोबर द्वारा भित्ति पर साँझी चित्रण प्रचलित रहा और आज भी है। साँझी कला आध्यात्मिक भी है। मधुर भावों से परिपूर्ण भी है और कलात्मक रुचि की परिचायक भी है साथ ही उपयोगी, भावात्मक एवं सांस्कृतिक है। साँझी कला नैसर्गिक, काल्पनिक, आलंकारिक, भौतिक तथा नूतन कलापूर्ण अभिरुचि भी उत्पन्न करने वाली श्रेष्ठ कला प्रमाणित हुई है। सांस्कृतिक संस्थाएँ साँझी की अपूर्व लोककला को चित्रित कर प्रोत्साहित करें तथा लुप्त होती हुई धरोहर को अक्षुण्य बनाने का प्रयास करें।

साँझी के मध्य भाग में राधाकृष्ण की लीलाओं के विविध दृश्य गिरि-गोवर्धन, लता-कुंज, गाय-मोर, प्राकृतिक छटा का चित्रण करने में कलाकार रंगों का सामंजस्य कर स्वयं भी विस्मृत हो उठता है। अनेक रंगों का संयोजन कर कलाकार केवल दो रंगों—राधा और कृष्ण द्वारा सम्पूर्ण चित्र को सुसज्जित कर अति सूक्ष्मता व सजीवता से सर्वत्र कृष्ण के व्याप्त होने की आध्यात्मिक भावना को साकार कर देता है।

श्रीकृष्ण का लोकजीवन सौन्दर्यपूर्ण, कलापूर्ण और माधुर्यपूर्ण है, इस कारण वे लोकनायक बनकर जन-जन के जीवन में अदृश्य रूप से समाहित हो गये। शाश्वत कलाकार कृष्ण ने साँझी कला के द्वारा हृदय पक्ष को प्रधानता देकर जीवात्मा का मिलन कराने का प्रयास किया, श्रीकृष्ण का यह प्रयास सफल हुआ कि अष्टकमलदल पर एक प्राण दो देहि, वेणी गूँथि कहा कोई जाने, नौकाविहार, रंगीली होली, मानलीला आदि साँझी प्रस्तुत की गई।

●●

श्रीकृष्ण और लोकवार्ता का शास्त्रीय पक्ष

❀ डॉ० राजेन्द्र रंजन

लोकवार्ता शास्त्र की दृष्टि से अवलोकन करें तो कृष्ण मूल रूप में ब्रज के गोपों के वीर नायक और यादव वंश के कुल देवता हैं। इसके बाद निरन्तर सांस्कृतिक प्रक्रिया में उनके व्यक्तित्व में एक ओर परामानवीय तत्त्वों का समाहार होता है और दूसरी ओर गोपों और यादवों के सम्पर्क में आने वाली नई और पुरानी विविध मानव जातियों के सांस्कृतिक तत्त्व अन्तर्मुक्त हो जाते हैं। सांस्कृतिक प्रक्रिया इतिहास के साथ चलती है। जब दो जातियों का संघर्ष होता है तो उसी के साथ दो संस्कृतियों का भी द्वन्द्व चलता है। जातियों की जय-पराजय के साथ ही संस्कृतियों की भी जय-पराजय होती है और जातियों की अन्तर्मुक्ति के साथ ही संस्कृतियाँ भी लय हो जाती हैं।

ब्रज में श्रीकृष्ण के मन्दिरों का निर्माण वज्रनाभ द्वारा होने की अनुभूति है। कृष्ण वज्रनाभ के पितृेश्वर थे। कृष्ण वीर नायक हैं और लोक में वीर को ही नायकत्व प्राप्त होता है। वीर नायक की छाया में ही लोकमानस रक्षा का आश्वासन पाता है इसलिए लोकमानस में स्वभाव से ही वीर के प्रति पूज्य बुद्धि होती है। वीर नायक के व्यक्तित्व के साथ लोकमानव मिथकों के रूप में परामानवीय तत्त्व जोड़ता चलता है। श्रीकृष्ण के जन्म के समय पहरेदारों का सो जाना हथकड़ियों का अपने आप खुल जाना, आकश से पुष्प वर्षा होना। शैशव में ही पूतना का वध करना, कनिष्ठका पर गोवर्धन पर्वत उठा लेना और यशोदा को अपने मुख में ब्रह्माण्ड का दर्शन कराना आदि कृष्ण की लोकगाथा से जुड़ी चमत्कारपूर्ण कथा रूढ़ियाँ (मोटिफ) है। एक ओर लोकमानस वीर

नायक कृष्ण को इस प्रकार के अभिप्रायों से युक्त करता है तो दूसरी ओर मुनि मानस या शास्त्रमानस कृष्ण पर परब्रह्म की अवधारणा का अध्यारोपण करता है। कृष्ण तत्त्व को आध्यात्मिक बनाता है, इसके बाद कृष्ण की अवधारणा मिलते ही वह गाथा शास्त्र से लोक के पास पहुँचती है और फिर लोक से शास्त्र को मिलती है और हर बार आदान-प्रदान की प्रक्रिया में एक नया सांस्कृतिक तत्त्व जुड़ जाता है।

सांस्कृतिक प्रक्रिया के विकास में लोगों के वीर नायक कृष्ण की गाथा में एक अत्यन्त प्राचीन परम्परा की दूसरी लोकगाथा की अन्तर्मुक्ति होती है तथा कृष्ण के व्यक्तित्व में विष्णु के व्यक्तित्व का अध्यारोप हो जाता है। कृष्ण विष्णु के अवतार बन जाते हैं और कृष्ण कथा में विष्णु तत्त्व का प्रवेश होता है। जैसे जन्म के पहले ही वसुदेव को चतुर्भुज रूप में दर्शन देना, मथुरा जाते समय अक्रूर को शेषशायी विष्णु के रूप में दर्शन देना तदनन्तर महाभारत में अर्जुन को विराट रूप में दर्शन देना।

दानव संस्कृति का तत्त्व कृष्ण के व्यक्तित्व में तुलसी के रूप में प्रवेश पाता है। शिवपुराण के अनुसार तुलसी शंखचूड़ दानव की पतिव्रता पत्नी थी। उसके पातिव्रत को खण्डित करने के लिए श्रीहरि ने शंखचूड़ का रूप धारण किया और तुलसी के सतीत्व को भंग किया। तुलसी ने हरि को पत्थर हो जाने का शाप दिया (शालिग्राम) और शिव ने तुलसी को वनस्पति हो जाने का शाप दिया। लोक जनश्रुति के अनुसार वृन्दा में कृष्ण की उपासना करके वरदान माँगा था कि मैं तुम्हारी लीला के लिए एक निकुंज बनाऊँगी और उसमें छः ऋतुएँ एक साथ विलसित होंगी। तुम प्रतिदिन उस निकुंज में अपनी कान्ता के साथ विहार करना। कार्तिक स्नान के समय स्त्रियाँ तुलसी शालिग्राम विवाह के गीत गाती हैं। एक गीत में कहानी है कि जब तुलसी सिर पर गागर लेकर यमुना किनारे गई तो रुक्मिणी ने तुलसी को पकड़कर हिला दिया एवं उसके हाथ के सारे जेवर और तो चूड़ियाँ तोड़ डालीं, गागर लुढ़का दी और तुलसी के पिता

को गालियाँ भी दीं। श्रीकृष्ण ने तुलसी को उदास देखा तो पूछा तुलसी आज तुम इतनी अनमनी क्यों हो? तुलसी ने कहा– "हो राम तुमरी रुक्मिणी लाड़ली और हम डारीं झकझोर।"

एक अन्य गीत में राधा श्रीकृष्ण के माथे पर मेंहदी के पत्ते, पैरों में महावर तथा दुपट्टा में लगे दानग के सम्बन्ध में शंका करती हैं। कृष्ण सभी बातों का उत्तर देकर कहते हैं, दुपट्टा धोबी के यहाँ बदल गया। राधा उस धोबी को बुलाकर पूछती हैं तो वह तुलसी और श्रीकृष्ण की रति के प्रसंग को स्पष्ट कर देता है। तुलसी को दीपक अर्पित करके महिलायें गाती हैं–

तुलसी माता तू सुखदाता, तू श्रीकृष्ण की प्यारी
मैं विरला सोचों तेरी तू कर विस्तारी मेरी

ब्रज में विश्वास किया जाता है कि बिना तुलसी के ठाकुर जी भोग ग्रहण नहीं करते–

छप्पन भोग छत्तीसो व्यंजन बिन तुलसा हरि न एक न मानी
नमो नमो तुलसा महरानी नमो नमो हरि की पटरानी नमो नमो।

श्रीकृष्ण की गाथा से जुड़ने वाला एक और देव तत्त्व है–शिव। शिवजी से सम्बन्धित एक गीत ब्रज में बहुप्रचलित है। कृष्ण जन्म का समाचार सुनकर भोले बाबा नन्द गोप के दरवाजे पर आए। बड़ी-बड़ी जटा, माथे पर चन्द्रमा जैसा तिलक और गले में काला नाग, मृगछाला और सारे शरीर में भभूत। नन्दगाँव में जो भी आया तो बालक डरकर घरों में घुस गये। यशोदा भिक्षा लेकर निकलीं और बोलीं–

लै भिक्षा जोगी जाव आंगन सों, मेरा लाल डरपाया है री।

परन्तु जोगी ऐसा-वैसा तो था नहीं, वे तो भगवान शंकर थे बोले-

ना चाहिए तेरी दौलत दुनियाँ ना चाहिए धन माया है री
अपने गोपाल जी को दरस कराय दै जा कारन जोगी आया है री।

यशोदा ने सुना तो डर गई तो बोली कुछ और चाहिए तो ले लो

बाबा तुम्हें देखेगा तो मेरा लाल डर जायेगा। बाबा ने अलख निरंजन की टेर लगाई और लौट गया। उसके लौटते ही लाल का रोना शुरू हो गया, थाली बजाई, लोटा बजाया, दूध से लगाया, नजर उतारी और भी न जाने क्या-क्या किया पर लाला चुप न हुआ सो न हुआ। यशोदा घबरा गईं तभी किसी गोपी ने कहा—

अरी जशोदा मैया यह तो उस जोगी का चेटक है। यशोदा ने कहा—अरी बहन उस जोगी को ढूँढ़कर लाना, गोपी गाँव से निकली ही थी कि जोगी मिल गया। गोपी शिव से बोली—

चल रे जोगी नन्दभवन में जसुमति तोय बुलावै।

अब तो भोला बाबा बड़े प्रसन्न जोगी नन्द भवन में आया तथा लाल के सिर पर उसने जैसे ही हाथ रखा लाल किलकने लगा—

बिथा भई सब दूर वदन की किलक उठे नंदलाला।

कहाँ तो माँ यशोदा जोगी को उसी समय विदा कर रही थीं और कहाँ बोलीं—

रहुरे जोगी नंदभवन में व्रजवासो कीजै
जब जब मेरो लाला रोवै तब तब दरसन दीजै

नंदगाँव के नंदभवन में आज भी शिव योगी के दर्शन होते हैं।

आचार्य क्षिति मोहन सेन के अनुसार शिव आर्येतर देवता हैं। ब्रज में आज भी महादेव जी के भोग का निषेध लोक प्रचलित है। ब्रज की अनेक जातियाँ महादेव जी पर जल तो चढ़ा आती हैं परन्तु पूजा के उस लोटा को अपवित्र मानती हैं। शिव के इस तिरस्कार के साथ ही ब्रजलोक मानस में भक्ति की धरती पर कृष्ण और शिव का समाहार होता है। जब श्रीकृष्ण रास करते हैं तो भगवान शिव गोपी रूप धारण करके रास में पधारते हैं—मनमोहिनी-ग्वालिनि बन आया भोला-भाला रे।

शिव, विष्णु और तुलसी के व्यक्तित्व के साथ ही एक और व्यक्तित्व है यमुना का। यमुना कालिंदी, सूर्य पुत्री और यम की बहन हैं। यम-यमी का संवाद वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है। यम की वही बहन

लोकमानस में कृष्ण की पटरानी बन जाती हैं। इसके साथ ही नामदेव तत्त्व और श्रीकृष्ण के भावरूप का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। कृष्ण कथा में कालियमर्दन के रूप में नागद्वन्द्व बड़ा प्रबल अभिप्राय है। परन्तु कृष्ण को सूप में लेकर वसुदेव जब गोकुल आते हैं तो एक प्रसंग जुड़ जाता है—शेषनाग द्वारा अपने फण से श्रीकृष्ण के ऊपर छत्रछाया करना। नाग-देवतत्त्व की अन्तर्मुक्ति बलराम में होती है। मथुरा में नागफणों से युक्त कितनी ही मूर्तियाँ बलराम की मिली हैं। बलराम के रूप में यह प्रच्छन्न नागपूजा थी। इसी प्रकार कृष्ण द्वारा यमुलार्जुन के उद्धार का प्रसंग यक्ष संस्कृति पर गोप संस्कृति की विजय-गाथा है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने देवदमन संज्ञा के द्वारा श्रीकृष्ण देवतत्त्व द्वारा अन्यान्य देवतत्त्वों के पराभव को लक्षित किया है। कृष्णलीला में हम विभिन्न देवतत्त्वों को कृष्ण के सामने नतमस्तक परास्त और अन्तर्मुक्त होते देख सकते हैं। असुरदेव वरुण ने नंदबाबा को पाशबद्ध कर लिया था, कृष्ण ने मुक्त कराया और वरुण ने कृष्ण की स्तुति की। ब्रह्मा गाय और बछड़े चुराकर ब्रह्मलोक ले गये, कृष्ण ने नये गोप-ग्वाल, गाय और बछड़ों की सृष्टि की और अन्त में ब्रह्मा कृष्ण के शरणागत हुये। दावानलपान अग्निदेवता का पराभव है। रासलीला में कामदेवता का विजय का अभिप्राय है। चन्द्रदेवता छः माह की शरद रात्रि बनाकर कृष्ण के वशीभूत हुए। वैदिक देवता इन्द्र का मान भंग करके गोवर्धन को देवरूप में प्रतिष्ठित करना तथा गो देवता सुरेई के द्वारा अभिसिक्त होकर गोविन्द पद प्राप्त करना वास्तव में गोपाल उपासक जातियों के प्रभाव की गाथा है।

कृष्ण के व्यक्तित्व में लोकमानस की समस्त आवश्यकताओं और अभिलाषाओं का समाहार हुआ है। कृष्ण का वात्सल्य रूप में जहाँ मानव की मूल प्रवृत्ति सिसृक्षा का प्रछन्न विकास है वहीं शृंगार रूप में ये रति का आश्रय है। लोकगाथाओं के विवेचन से यह स्पष्ट है कि वीर नायक ही प्रेम कथाओं का नायक बनता है।

हिंडोला, होली, रास, मनिहारी लीला, दानलीला, मालिन लीला, जोगलीला, ठगलीला, चन्द्रावलि लीला, वेणीगूँथन लीला परस्पर मान लीला, चोरी लीला, बनजारौ लीला, श्याम विरहिन लीला इत्यादि लोकगीतों में श्रीकृष्ण रति नायक हैं और इस रूप में वे सहस्राविध लोकगीतों में गाये हैं–

अलकें अनूठी झलकें तिहारी हे स्याम रतियां कहां तुम जगे

X X

इकली न जाओ राधे जमुना के तीर

X X

छाहो लँगर मोरी बैयां गहौना,

हों तो नार पराये घर की रति छांड अनरीत करौना।

लोकनायक का सतत सान्निध्य अनुभव करने के लिए लोकमानस लोकनायक से सम्बन्धित स्थलों और तीर्थों का विकास करता है। तद्नुरूप ब्रज के लक्ष-लक्ष, लता, गुल्म, पर्वत, नदी, कुण्ड, सरोवर, कदम खण्डी इत्यादि से श्रीकृष्ण लीला सम्बन्धी अनुश्रुतियों का भण्डार लोकजीवन में भरा हुआ है, जिसके संकलन की महती आवश्यकता है।

●●

खण्ड - 5

पुरातत्व, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं में श्रीकृष्ण

खण्ड - 5 (पुरातत्त्व, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं में श्रीकृष्ण)

श्रीकृष्ण संदर्भित पुरातात्विक साक्ष्य

❀ प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

देश-विदेश में चिन्तन तथा लोकजीवन के क्षेत्रों को असाधारण रूप से प्रभावित करने का अप्रतिम श्रेय श्रीकृष्ण को प्राप्त है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक दार्शनिक, साहित्यकार तथा कलाकार एवं धर्म-प्रचारक श्रीकृष्ण-चरित से प्रेरणा प्राप्त करते आए हैं। आज भारत तथा एशिया के अनेक देशों के अलावा यूरोप और अमेरिका के कई क्षेत्र में भी श्रीकृष्ण की लोकरंजक लीलाएँ प्रभावशाली हैं।

श्रीकृष्ण देश-काल की सीमाओं से आबद्ध न रहकर विश्वजनीन सिद्ध हुए हैं। उनके व्यक्तित्व में लोकरंजक, चारुत्व तत्त्वों के साथ एक प्रखर राजनेता एवं कर्मयोगी दार्शनिक के गुणों का अद्‌भुत समन्वय है।

सात्त्विक-भागवत धर्म के महान स्रोत के रूप में श्रीकृष्ण प्रख्यात हैं। इस उदार धर्म ने दार्शनिक चिन्तन की अनेक धाराओं को पल्लवित-पुष्पित किया। उससे भी बड़े आयाम जो इस धर्म द्वारा उद्‌घाटित हुए वे साहित्य और अन्य ललित कलाओं के क्षेत्र में थे। काव्य, नाटक, कथा-साहित्य आदि विधाओं को इस धर्म ने प्रचुर रूप में श्रीसम्पन्न किया। मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और नाट्य के विविध रूप श्रीकृष्ण को केन्द्र मानकर इस देश में ही नहीं, दक्षिण पूर्व एशिया के एक बड़े भाग में संवर्धित हुए। भारतीय संस्कृति की व्यापकता के अध्ययन-अन्वेषण हेतु इन रूपों का विशेष स्थान है।

पुरातत्त्व की दृष्टि भगवान विष्णु के सभी अवतारों में श्रीकृष्ण ही ऐसे हैं जिनके मूर्त रूपों में सहज मानव-भाव सर्वाधिक विद्यमान है। प्राचीन भारतीय कला में उनका अंकन किसी ऐसे देवता के रूप में नहीं

मिलता जो मानव धरातल से बहुत ऊँचा उठा हुआ हो और जिसमें केवल असाधारण देवी तत्त्वों का ही समावेश हो। श्रीकृष्ण को ऐसा लोकनायक माना गया जो जनसाधारण के बहुत निकट है और जिसके जीवन के साथ लोक की बहुमुखी आकांक्षाएँ घुली-मिली हैं। कलाकारों को श्रीकृष्ण का बाल-रूप सर्वाधिक ग्राह्य लगा। भागवत, विष्णु, हरिवंश आदि पुराणों में उनकी मधुर बाल-लीलाओं का विस्तृत वर्णन है। उन्हें अपनी कला में रूपायित कर कलाकारों ने अपनी कृतियों को अमरत्व प्रदान किया।

ईसवी प्रथम और द्वितीय शती से लेकर मध्यकाल के अन्त तक की जो कलाकृतियाँ मिली हैं उनमें प्राय: श्रीकृष्ण के बाल-भाव का ही आलेखन है। प्राचीन शिलापट्टों पर उत्कीर्ण अधिकांश लीलाओं के विषय कृष्ण-जन्म, पूतना-वध, शकट-वध, यमलार्जुन-मोक्ष, कालिय-मर्दन, गोवर्धन-धारण एवं अरिष्ट-केशी तथा कंस आदि का वध हैं। इनके अतिरिक्त गोकुल-वृन्दावन की कतिपय अन्य लीलाओं का चित्रण भी प्राचीन मूर्तियों में मिलता है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पहले भीम और अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण, जरासंध की राजधानी गिरिव्रत (आधुनिक राजगृह) गए थे। वहीं भीम और जरासंध में मल्लयुद्ध हुआ। इसका अत्यन्त रोचक चित्रण इलाहाबाद जिले में गढ़वा नामक स्थान से प्राप्त एक शिलापट पर मिला है। यह पट्ट पाँचवीं शती का है और अब लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है। कृष्णलीला-सम्बन्धी यह दुर्लभ कलाकृति है, क्योंकि कंस-वध के बाद श्रीकृष्ण के जीवन सम्बन्धी बहुत कम दृश्य प्राचीन मूर्तिकला में मिले हैं।

शिल्प-विषयक अनेक ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के मूर्ति शास्त्रीय विवरण उपलब्ध हैं। 'विष्णुधर्मोत्तर' तथा 'वैखानस-आगम' में श्रीकृष्ण के साथ रुक्मिणी तथा सत्यभामा की मूर्तियाँ बनाने का विधान मिलता है। भागवत पुराण में श्रीकृष्ण के चतुर्भुजी तथा अष्टभुजी रूप का वर्णन है। 'शिल्परत्न' नामक ग्रन्थ में गोप-गोपियों से घिरे हुए श्रीकृष्ण की मूर्ति

की चर्चा है। 'पद्मपुराण' में कदम्ब के नीचे एक गोपिका के साथ खड़े हुए श्रीकृष्ण का वर्णन उपलब्ध है। यह विशिष्ट गोपिका श्रीराधा हो सकती है। जोगी शाही नामक स्थान से द्विभुजी वेणुधर गोपाल की एक मूर्ति मिली है। उनके एक ओर गोपियों का वृन्द प्रदर्शित है और दूसरी ओर गोपों का। नीचे गायें दिखाई गई हैं।

श्रीकृष्ण की उक्त प्राचीन मूर्तियों में उन्हें प्राय: सहज रूप में द्विभुजी ही दिखाया गया है। उनकी आंगिक मुद्राओं में भी उनका लोकरंजक मानव-रूप ही अभिव्यक्त है, चामत्कारिक दैवी-रूप नहीं। श्रीकृष्ण का यही सहज मानव रूप कोटि-कोटि जनों को भाया और उनके लिए प्रेरणादायक बना।

साहित्य तथा पुरातत्त्व में श्रीकृष्ण के साथ गोपियों तथा मुख्य सखी राधा के सम्बन्ध में कतिपय प्रमाण उपलब्ध हैं। श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा के साहचर्य ने ब्रजभूमि को धन्य किया। इन दोनों के व्यक्तित्व के साथ लोक-जीवन की एक दिव्य प्रेम-परम्परा का निर्माण हुआ। सातवाहन शासक हाल द्वारा प्रणीत प्राकृत ग्रन्थ 'गाथासप्तशती' में उल्लिखित 'राहिआ' नाम राधा के लिए ही प्रयुक्त है। 'पंचतन्त्र' में तथा मध्यकालीन अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों और अभिलेखों में राधा का उल्लेख है। भट्टनारायण के ग्रन्थ 'वेणीसंहार' का आरम्भ राधा के ध्यान से होता है। साहित्य और कला में राधा और गोपियों के अलावा रुक्मिणी आदि श्रीकृष्ण की पटरानियों का भी चित्रण मिलता है। लगभग 400 ई० के एक ब्राह्मी शिलालेख में श्रीकृष्ण की एक पटरानी जाम्बवती का नामोल्लेख है।

श्रीकृष्ण के अतिरिक्त उनके अग्रज बलराम भी प्राचीन कला में बहुत उत्कीर्ण हुए। उन्हें शेषनाग का अवतार माना गया। अत: बलराम की प्रतिमाओं के पीछे शेषनाग का, अनेक फणों सहित अंकन मिलता है। बलराम के आयुध हल और मूसल हैं। वृष्णि-वंशी श्रीकृष्ण और बलराम का एक साथ उल्लेख न केवल साहित्यिक ग्रन्थों में, अपितु कई

पुराने अभिलेखों में भी हुआ है। अभिलेखीय प्रमाणों से इस बात की पुष्टि हुई है कि भागवत या सात्त्विक धर्म की प्रारम्भिक अवस्था में 'वासुदेव-संकर्षण' अर्थात् कृष्ण-बलराम की पूजा साथ-साथ होती थी। बाद में इन दोनों के साथ प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को भी जोड़कर मुख्य वृष्णियों की संख्या पाँच हो गयी और वे 'वृष्णियों के पंचवीरों' के रूप में पूज्य हुए।

कुछ समय पूर्व यूनानी शासक अगाथोक्लीज की कई दुर्लभ मुद्राएँ मिली हैं। उनके अग्रभाग पर हल-मूसलधारी बलराम तथा पृष्ठ भाग पर चक्रधर श्रीकृष्ण का अत्यन्त रोचक चित्रण है। सिक्के पर लेख ब्राह्मी तथा यूनानी लिपि में लिखा है। इस शासक का समय ईसवी पूर्व दूसरी शती का आरम्भ है। एक यूनानी शासक द्वारा अपने सिक्कों पर बलराम-श्रीकृष्ण का अंकन इन दोनों देवों के असाधारण महत्त्व का परिचायक है। सिक्कों पर श्रीकृष्ण की आकृति का निर्माण वासुदेव कृष्ण की उस प्रतिमा से बहुत साम्य रखता है जो मध्यप्रदेश के बिलासपुर जिले में मल्हार नामक स्थान में मिली है। पाँच फुट से अधिक ऊँची यह पाषाण-मूर्ति चतुर्भुजी है और इसका समय ई०पूर्व 200 के लगभग है। हाल में कुषाण शासक वासुदेव की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वर्ण मुद्रा मिली है। उस पर चतुर्भुज कृष्ण की छवि अंकित है।

श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान मथुरा था। मथुरा तथा ब्रज के कई अन्य स्थलों में उन्होंने लोकाह्लादिनी लीलाएँ कीं। ब्रज में श्रीकृष्ण की अनेक पुरानी मूर्तियाँ मिली हैं। उनके अतिरिक्त उनकी तथा बलराम की कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएँ टूमैन (गुना, म०प्र०), एरण (सागर), देवगढ़ (ललितपुर) खजुराहो (छतरपुर), मंडोर (जोधपुर), सूरतगढ़ (बीकानेर) आदि स्थानों में मिली हैं। बंगाल में पहाड़पुर, उड़ीसा में भुवनेश्वर, कर्नाटक में बादामी तथा तमिलनाडु में महाबलीपुरम् आदि स्थानों की कला में श्रीकृष्ण की लीलाओं के विविध मनोरजंक रूप विद्यमान हैं। जावा के प्रम्बन तथा पनतारन नामक स्थानों के अतिरिक्त विदेशों-थाईलैण्ड

(स्याम), कम्बोडिया (कम्पूचिया), सुमात्रा, नेपाल, तिब्बत आदि में उपलब्ध अनेक कलाकृतियाँ प्रमाणित करती हैं कि उन देशों में कृष्णचरित बहुत लोकप्रिय हुआ था।

प्रारम्भिक वैदिक काल में इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि प्रमुख देवता मान्य थे। परवर्ती वैदिक युग से विष्णु का महत्त्व बढ़ने लगा। शनैः-शनैः तीन प्रमुख देवों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश के अन्तर्गत लोकरक्षक के रूप में विष्णु को प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया। परवर्ती ग्रन्थों तथा अभिलेखों में अनेक स्थलों पर विष्णु का स्मरण वासुदेव के रूप में ही किया गया।

गुप्त युग में विष्णु के मुख्य चार अवतार—बराह, नृसिंह, वामन (त्रिविक्रम) तथा कृष्ण थे। इसमें संदेह नहीं कि श्रीराम का आविर्भाव श्रीकृष्ण के पहले हुआ था। विष्णु के दस अवतारों में दाशरथ राम की भी गणना है। अनेक प्राचीन शिला-फलकों पर अवतारों का क्रम दर्शाते समय कृष्ण के पहले राम को स्थान दिया गया। यह कालक्रम इस बात की पुष्टि करता है कि राम का समय कृष्ण से पहले का है। तो भी यह बात विचारणीय है कि उपलब्ध पुरातत्त्वीय प्रमाणों से श्रीराम की प्रतिमाओं तथा उनके मन्दिरों का निर्माण श्रीकृष्ण की मूर्तियों और मन्दिरों के काफी बाद आरम्भ हुआ। कालक्रमानुसार अभिलेखों में भी श्रीराम की स्तुति या ध्यान श्रीकृष्ण की अपेक्षा बाद में मिलते हैं।

प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्रों में श्रीकृष्ण की स्तुति और उनकी महत्ता का गुणगान प्रचुर रूप में उपलब्ध है। अभिलेखों के प्रारम्भ में प्रायः इष्टदेव का ध्यान या स्तुति की जाती है। वैष्णव शासक तथा अन्य दानदाता अभिलेखों का आरम्भ विष्णु, लक्ष्मी, कृष्ण आदि की स्तुति से कराते थे। ध्यानपरक मंगलाचरणों के अतिरिक्त अनेक अभिलेखों में श्रीकृष्ण की मूर्तियाँ अथवा मन्दिरों के निर्माण के विषय में अथवा उनकी लोकोत्तर शक्ति या शृंगारपरता के बारे में भी विवरण, मिलते हैं। अभिलेखों में उनके नाम कृष्ण, वासुदेव, माधव, जनार्दन, पद्मनाभ, पुरुषोत्तम, कंसनिषूदन, अहियदर्दी आदि मिले हैं।

स्याम, कम्बोज, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि देशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार व्यापक रूप में हुआ। इन देशों में बहुसंख्यक शिलालेख मिले हैं। अधिकांश लेखकों की भाषा संस्कृत है। कुछ लेखों में संस्कृत के साथ स्थानीय भाषाओं का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी इन लेखों का महत्त्व है।

कम्बोज (कम्बोडिया) के राजा यशोवर्मा के मन्त्री सत्याश्रय का एक लेख फियानकस (अंकोर-थीम) में मिला है, जो शक संवत् 432 (91 ई०) का है। इसमें सत्याश्रय द्वारा श्रीकृष्ण की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। वहीं के शासक जयवर्मा चतुर्थ के समय में 922 ई० में प्राण नामक ब्राह्मण के द्वारा श्रीकृष्ण की 'चम्पेश्वर' संज्ञक मूर्ति प्रतिष्ठापित की गयी। मूर्ति तथा मन्दिर की अर्चादि के लिए एक सौ पुरुष-स्त्री सेवक-नियुक्त किये गए और भूमि-दान में दी गई।

कम्बोज में प्रसत-नेअंग खगोन नामक एक अन्य स्थान पर शक संवत् 850 (928 ई०) का एक लेख मिला है। लेख में वासुदेव कृष्ण की स्तुति है और दो मन्दिरों के निर्माण की चर्चा है। इन मन्दिरों की दीवारों पर गोवर्धनधारी कृष्ण त्रिविक्रम आदि के सुन्दर चित्र विविध रंगों से बनाए गए थे। उनमें से अनेक चित्र आज भी सुरक्षित हैं।

प्राचीन भारतीय कला में वासुदेव विष्णु को द्विभुज, चतुर्भुज या अष्टभुज दिखाया गया है। विष्णु की चतुर्व्यूह मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। वृष्णि-सात्वत वंश के पंचवीरों की कल्पना प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखों में उपलब्ध है। मथुरा के मोरा-अभिलेख तथा संग्रहालय की प्रसिद्ध चतुर्व्यूह-प्रतिमा विशेष महत्त्व की है। विष्णु स्मृति (1, 61) का 'एकव्यूह चतुर्वक्त्र' कथन इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

आन्ध्र प्रदेश के कोंडाभोतु नामक स्थान से प्राप्त पचंवी-पट्ट यहाँ विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। इस पट्ट की एक विशेषता यह है कि उस पर वासुदेव और प्रद्युम्न के बीच नृसिंह को बैठा हुआ दिखाया गया है। वे उत्थित दो हाथों में क्रमशः गदा और चक्र धारण किए हैं। वासुदेव-

कृष्ण के एक हाथ में शंख है।

आरम्भिक गुप्त युग तक की वासुदेव-विष्णु की अनेक मूर्तियों में कृष्ण के मयूर मुकुट के साथ वनमाला का अंकन भी दर्शनीय है। जो उनके गोप-वेश का परिचायक है। इसका मनोरम वर्णन कालिदास आदि कवियों ने किया है। (द्रष्टव्य—मेघदूत 1, 15 : ''बर्हेणेव व स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।'')

मध्यकाल में श्रीकृष्ण को वीर लक्षण-सम्पन्न प्रतिमाओं का निर्माण उत्तर तथा दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में जारी रहा। दक्षिण भारत में बादामी के आरम्भिक चालुक्यों के समय से लेकर विजयनगर शासकों के समय तक श्रीकृष्ण के मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण प्रचुर रूप में हुआ। उनकी मूर्तियाँ पत्थर तथा मृत्तिका के अतिरिक्त धातु, हाथी दाँत आदि की बनती थीं। चोलों के समय में श्रीकृष्ण की कांसे की अनेक सुन्दर मूर्तियाँ निर्मित हुईं।

उत्तर-मध्यकाल में चित्रकला का क्षेत्र विशेष विषय के लिए बहुत उर्वर सिद्ध हुआ। राजस्थानी, बुन्देली, मालवा, पहाड़ी कलाओं के अतिरिक्त दक्षिण की चित्रकला में श्रीकृष्ण की कम लीला प्रभूत मात्रा में मिलती है। उनके अलावा द्वारका तथा महाभारत के कृष्ण के विविध रूप भारतीय चित्रकला में स्थापित किये गये।

●●

श्रीकृष्ण विग्रह उपासना का आदि–केन्द्र

❀ डॉ० नरेशचन्द्र बंसल

वृन्दावन कृष्ण के विविध भावरूपों का केन्द्र है। यहाँ के मन्दिर, तीर्थ, घाट, समाधि, टीले भारत भावरूप श्रीकृष्ण की लीलाओं की अक्षय गाथा मुखर कर रहे हैं। कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित अनेक वैष्णव सम्प्रदायों, उनके दर्शनों, उपासना विधानों का उद्‌भव, पोषण और संवर्धन यहीं से हुआ है। आज भी इन सम्प्रदायों के महत्त्वशाली हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डार और अभिलेखागार विद्यमान हैं। इनमें श्रीकृष्ण, श्रीराधा और गोपी सखी मंजरी श्रीवृन्दावन विषयक अकूत सामग्री है। ऐसी काफी प्राचीन और खोजपूर्ण सामग्री वृन्दावन शोध संस्थान में भी संगृहीत की है।

वृन्दावन में भागवत धर्म के मन्दिरों, मूर्तियों, कुण्डों आदि की प्रतिष्ठा श्रीकृष्ण के परिपौत्र वज्रनाभ द्वारा ही हुई थी। कृष्ण की मूर्तियों का सर्वप्रथम निर्माण उन्हीं के निर्देशन में हुआ ज्ञात होता है। मथुरा के केशवदेव, दाऊजी के बलदेव, गोवर्धन के हरिदेव, वृन्दावन के गोविन्ददेव, गोपीनाथ, मदनगोपाल (मदनमोहन) और गोवर्धन के गोपाल (श्रीनाथ जी) उन्होंने ही मन्दिरों में प्रतिष्ठित कराये थे। ब्रजमण्डल में इनकी कथा–परम्परायें और जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। लोकसाहित्य में भी इसका प्रकाशन हुआ। राधा विग्रह उड़ीसा–बंगाल से वृन्दावन में आया। श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता से स्पष्ट संकेत मिलता है। श्रीकृष्ण की विग्रह उपासना ब्रज वृन्दावन से ही अन्यत्र फैली।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने इन मुक्त विग्रहों की खोज, मन्दिर निर्माण और ग्रन्थ निर्माण करने के लिए लोकनाथ, भूगर्व, रूप, सनातन, रघुनाथ

भट्ट, गोपालभट्ट, रघुनाथदास, प्रबोधानन्द सरस्वती को देश के विविध प्रदेशों में भेजा और इन महाभागवतों के प्रेरित करने पर खासी परम्परा इन क्षेत्रों में आई। श्रीनारायण व्रजाचार्य ने पुराण प्रसिद्ध श्रीकृष्ण और राधा लीलास्थलियों का प्रकाशन किया और रासलीला अनुकरण को पूर्ण उत्कर्ष दिया। महाप्रभु चैतन्य (विक्रम सं० 1572) में अक्रूर घाट (अक्रूर टीला) द्वादिशा टीला तथा अनेक कृष्ण केन्द्रों पर पधारे थे, उनके पूर्व भी अनेक आचार्य यहाँ समय-समय पर आते रहे थे। श्री नित्यानन्द प्रभु विक्रम सं० 1542 में वृन्दावन आकर बंगाल से लौटे थे।

द्वादिशादित्य टीले के प्राचीन प्राकार में भागवत धर्म की परिचायक विशाल आकार की पाँच ईंटों पर एक ही लेख अंकित मिले हैं। इन पर ब्राह्मी लिपि में 'धेन भागवतन भटकेन कारितं' अंकित हैं—

लम्बाई 48, चौड़ाई 38 और मोटाई 11 सेमी.।

नटवानामधारी किसी भागवत गृहस्थ ने यहाँ भागवत धर्म का प्रसादोत्तम बनवाया था। प्राकार की ऊँचाई 20 फीट से भी अधिक है और उसका कुछ यमुनावर्ती भाग शेष है। यहाँ वर्तमान में मदनमोहन जी का प्राचीन मन्दिर अति सुन्दर स्थापत्य कला का नमूना है। यह मूर्ति औरंगजेब के विक्रम सं० 1726 के आक्रमण में आमेर पश्चात् करौली स्थानान्तरित हुई। हम बता आए हैं कि यह मूर्ति कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ द्वारा प्रतिष्ठापित कराई गई थी। परमभागवत नाटक में जो मन्दिर बनवाया था सम्भव है यहाँ मदन गोपाल की यही मूर्ति स्थापित हुई होगी। नाटक नाम राजा जनक, जीवक, पौण्ड्रक आदि के समान प्राचीनता का परिचायक है। अद्वैताचार्य प्रभु ने महाप्रभु चैतन्य से पूर्व इस विग्रह को इसी टीले से खोज निकाला था और वह 15वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसे मथुरापुरी के परशुराम चौबे के पास छोड़ गये थे। उनकी सूचना पर ही श्री चैतन्य देव के पार्षद् और बंगप्रदेश के वित्तमंत्री परमभागवत गोस्वामी सनातनदेव ने परशुराम चौबे से इसे प्राप्त कर इसे द्वादिशादित्य टीले पर प्रतिष्ठित कराया था। रामभक्त राजा टोडरमल और सम्राट अकबर ने तथा

परवर्ती मुगल सम्राटों तथा राजपूत महाराजा, राजा, जमींदारों ने मन्दिर व्यवस्था के लिए भागवत धर्म के प्रचारार्थ अनेक फरमान और आदेश-पत्र जारी करते हुए सैकड़ों बीघा जमीन प्रदत्त की थी। इन मन्दिरों के तपोनिष्ठ सेवायत गोस्वामियों और शिष्य-प्रशिष्यों ने श्रीकृष्ण घटना को प्रचारित करने में सहयोग दिया। विदेशों में कृष्ण धर्म का शंखनाद प्रभुपाद ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी ने किया है जो सर्वविदित है। हमारे संग्रह में अनेक अभिलेख संगृहीत हैं। द्वादिशादित्य टीले की बस्ती के पास बसी बस्ती 'दुसायित' कहलाती है, जो द्वादिशादित्य का ही अपभ्रंश रूप माना जाना चाहिए। सम्राट अकबर के समय यह नगला दुसात। कहा जाने लगा था ऐसा अकबर के फरमानों से प्रमाणित होता है। इसी टीले के पार्श्व में कृष्ण कथा से सम्बद्ध कालीमर्दन घाट है और इस टीले के नीचे प्रस्कंदन घाट तथा सूर्यतीर्थ भी है। इसी टीले पर शीतला माता तथा मदनेश्वर महादेव के मन्दिर भी स्थित हैं। रूप गोस्वामी 'श्रीमधुरा-महात्म्य' में 'आदिवाराह' से उदाहरण किया है–

सूर्यतीर्थे नरः स्नातो दृष्टवादिव्यं वसुन्धरे।
आदित्यं भवनं पास्य कृतकृत्यः स मोदते।।

'सौरपुराण' में इसकी चर्चा है। यहाँ के आदित्य मन्दिर के लिए मुगल सम्राट अकबर ने मद्देमाआश के लिए फरमान जारी किए थे। वृन्दावन शोध संस्थान की सामग्री से यह प्रमाणित है।

इस टीले पर मिली ईंटों का आकार और उन पर अंकित भागवत धर्म सम्बन्धी सूचना वासुदेव कृष्ण की उपासना का स्पष्ट प्रमाण देती है। इसी टीले पर चार ईंटें हमें और मिली हैं जिन पर एक ही प्रकार का लेख अंकित है। अब यह लेख पुरातत्त्व विभाग के संरक्षण में है। हमारी खोज में और भी ईंटें आई हैं। यह ब्राह्मी लिपि और संस्कृत- प्राकृत में अंकित हैं। इस लेख में–''रहनी एटि शोल्व पुतस गौमितस अनीक'' उत्कीर्ण है–

आज भी हजारों ईंटें इस प्राप्रकार और इसके महस्तून में लगी हैं। मन्दिर के नीचे और परिपार्श्व के अन्तराल में प्रचुर प्राक्मौर्यकालीन पुरासम्पदा निकलने की पूरी सम्भावना है। कारण यह यमुना तटवर्ती वृन्दावन का प्राचीनतम और ऊर्ध्वतम टीला है। इसी टीले के नीचे पुराकाल में ओतपत्तन रहा होगा।

इस टीले पर गोमित्र जो राजा एटि शौल्व का पुत्र था उसका स्कंधावार होना स्वीकृत होता है। यह प्रथम गोमित्र रहा होगा एलन के कैटेलोग और प्रोफेसर हर्टेल द्वारा की गई खुदाई और लिखी गई सौंख खेड़े की रिपोर्ट से परिज्ञात होता है कि इस राजा ने मुद्रायें भी चलाई थीं, जिन पर 'गोमितस' अंकित है। शुंगवंशी पुष्यमित्र का समय ईसा पूर्व 185 वर्ष माना जाता है। मित्र वंशी शासकों को अनेक नाम और उनकी मुद्राएँ मथुरा, कौसाम्बी और पांचाल प्रदेश से प्रकाश में आई हैं। सौंख खेड़े के खुदाई के विभिन्न स्तरों से गोमित्र और विष्णुमित्र आदि स्थानीय शासकों की मुद्राएँ प्रकट हो चुकी हैं। यवन आक्रान्ताओं के प्रतिरोध के लिए ब्रजमण्डल में गोमित्र प्रथम का बहुत बड़ा योगदान ज्ञात होता है। 'बृहत्संहिता' तथा 'महाभाष्य' से मालूम होता है कि यवनों ने भारत भू को दुर्धर्ष वेग से आक्रान्त किया था। गोमित्र भागवत धर्म के पोषक और उन्नायक थे। वृन्दावन का गोमाटीला, जिन पर विक्रम संवत् 1647 में महाराजा मानसिंह द्वारा उत्तर भारत का सर्वोत्तम स्थापत्य का नमूना श्री गोविन्द मन्दिर के रूप में विनिर्मित कराया गया। यह चैतन्य सम्प्रदाय के श्री जीव गोस्वामी के संरक्षण में बना। महाराज मानसिंह ने और टोडरमल ने अकबर को प्रेरित कर शाही फरमान द्वारा 200 बीघा जमीन दिलाई। यह गोमाटीला कदाचित् गोमित्र के नाम ही लोक में प्रसिद्ध हुआ। इसी टीले से विक्रम संवत् 1590 से पूर्व बंग प्रदेश के प्रधानमंत्री विरक्त रूपगोस्वामी ने श्री गोविन्द देव को खोज निकाला था जो आज जयपुर में विराजमान हैं। महाराजा मानसिंह द्वारा उड़ीसा से भेजी श्रीराधा मूर्ति भी इसके पार्श्व में स्थित है। इसी प्रकार जगन्नाथपुरी से भेजा 'गौरगोविन्द'

का दास विग्रह स्वयं महाप्रभु चैतन्य ने श्री काशीश्वर गोस्वामी को सौंपा था। 'वाराहपुराण' तथा अनेक प्राचीन ग्रन्थों में श्री गोविन्ददेव का राशि राशि-वर्णन प्राप्त है। महाकवि कालीदास ने भी वृन्दारण्य में यहाँ की श्री-शोभा का दर्शन किया था।

अहिच्छवा, विदिशा, मथुरा, अयोध्या, कौशाम्बी में मित्रवंशी शक्ति प्राप्त राजाओं की स्वतन्त्र शाखायें थीं। गोमित्र मथुरा का स्वतन्त्र शासक होगा। वैदिक धर्म और भागवत धर्म के उत्थान के लिए यह मित्र वंशी शासक बहुत चिन्ताशील रहे। राजा गोमित्र शौल्वगोत्रीय था और उसके पिता का नाम एटि था जो वैदिक ऋषि के नाम पर पड़ा होगा। वह भागवत धर्म का पोषक रहा ही होगा। गोमित्र ब्राह्मण वंशी और ब्राह्मण धर्म का परिपोषक होकर यवनों से इस क्षेत्र का संरक्षण करता रहा। पुष्यमित्र शुंग स्वयं वैष्णव मतानुयायी था और वैदिक धर्म में भी उसकी आस्था थी। इस टीले से (द्वादिशादित्य) मौर्य, शुंग, कुषाण, गुप्तकालीन और गुप्त उत्तरकालीन अनेक मृण मूर्तियाँ प्रस्तर वास्तु खण्ड तथा मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों में मिले हैं।

वृन्दावन में वासुदेव कृष्ण, विष्णु, गोविन्द, गोपीनाथ, गोपाल की द्विभुज और चतुर्भुज रूप में उपासना के अनेक प्रमाण हमारी खोज में आए हैं। मथुरा मण्डल में भी ऐसे मधुर प्रमाण मिलते हैं। केशीघाट, शृंगारवट, अंतर्यामी मन्दिर-पुराना कालीदह, मदनमोहन, नया मन्दिर आदि स्थानों में कृष्ण की प्राचीन मूर्तियों को जो चिकने काले पत्थर में उपलब्ध हुई हैं। केशीघाट पर केशीमर्दन की अतिप्राचीन मूर्ति हमने देखी है। इसमें कृष्ण द्विभुज हैं। वृन्दावन के ये टीले प्राग्मौर्य सभ्यता और संस्कृति के अक्षय भण्डार हैं। वृन्दावन के पास में ही सौभर ऋषि और आंगीरस ऋषियों का स्थान रहा होगा। इनके सम्बन्ध में अब जातक जनश्रुतियाँ चली आ रही हैं। ये दोनों लेख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वशाली हैं। हमारी धारणा इस द्वादिशादित्य टीले तथा अन्य टीलों की खुदाई से कृष्णोपासना से सम्बन्धित प्रचुर खोजपूर्ण सामग्री प्रकाश आएगी। भागवत

नाटक वाला लेख वैष्णव धर्म से सम्बन्धित मिले सभी लेखों से प्राचीन प्रतीत होता है। विदिशा, बेस नगर आदि से प्राप्त भागवत धर्म से सम्बन्धित लेखों से भी ये प्राचीन हैं। इनके अक्षरों का शिल्प, ईंटों का आकार और स्थान प्राचीनता के स्वयं प्रमाण हैं। इन लेखों के अक्षरों का शिल्प सम्राट अशोक के लेखों से मिलता है। ज्ञातव्य है कि जिस विशाल आकार की ईंटों पर यह अंकित है वे मौर्य और शुंगकाल की सूचक हैं। कानपुर के गंगातटवर्ती विशाल उन्नत जाजमऊ टीले (राजा ययाति का स्थान) से मिली आलेख ईंटें लखनऊ राज्य संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये भी प्रायः इसी आकार की हैं ये दोनों इष्टका लेख (ईंट लेख) परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं। पहला पूर्ववर्ती ज्ञात होता है और वह अशोककालीन ब्राह्मी लिपि में विलखित शुद्ध संस्कृत भाषा में अंकित हैं। इस सबकी सुविस्तृत चर्चा हम शीघ्र करेंगे।

श्रीकृष्ण के ऐतिहासिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए तथा भागवद्धर्म, नारायणीयधर्म, सात्वतधर्म, पांचरात्र धर्म आदि के पुराइतिहास के लिए यह नवोमलब्ध महत्त्वशाली सामग्री के प्रति मनीषी विद्वानों तथा पुराविदों का ध्यान आकृष्ट करना ही इस लघु पत्र का लक्ष्य है। वैदिक धर्म से समन्वय करते हुए पुराणपुरुष पूर्णकलावतार भगवान श्रीकृष्ण के विविध रूपों का श्री वृन्दावन में प्रभंजन वेग से प्रसार हुआ था। यही राष्ट्रीय चेतना का आज भी केन्द्र है। ये मानव के ऊर्ध्वारोहित मन के मधुरतम केन्द्र हैं और श्रीकृष्ण संचेतना के सम्वाहक श्रद्धास्थल हैं।

●●

भारतीय मनीषा की समन्वयी वृत्ति के प्रतीक श्रीकृष्ण : प्रतिमा के आलोक में

❀ डॉ० गोपाल शर्मा

देवस्थानीय मूर्तियों का अध्ययन न केवल मूर्तिकला की दृष्टि से वरन् भारत के सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। इस निबन्ध में कतिपय ऐसी मूर्तियों की चर्चा की गई है जो पुराण, लोकश्रुति, माध्यम और विग्रह की दृष्टि से विशिष्ट है। कृष्ण की देवस्थानीय मूर्तियाँ कई माध्यमों से बनाई गई हैं। पाषाण की मूर्तियाँ तो सारे भारत में पाई जाती हैं किन्तु किन्हीं मन्दिरों में धातु की मूर्तियाँ भी हैं। उड़ीसा और मणिपुर में काष्ठ की मूर्तियाँ हैं। इनकी रूपरेखा में आंचलिक इतिहास, लोकश्रुति और सामाजिक मान्यताओं की बड़ी भूमिका है।

श्रीकृष्ण का बाल्यकाल आमतौर पर भक्तों को बड़ा प्रिय रहा है। परन्तु मन्दिरों की विशालता की कल्पना करने वाले गजमानों ने अधिकांशत: कृष्ण के तरुण रूप को ही केन्द्र स्थान अर्थात् गर्भगृहों में प्रतिष्ठित किया है। बालकृष्ण की कोई विशाल प्रतिमा मेरी दृष्टि में नहीं आई। पीतल या कांस्य के छोटे बालकृष्ण अवश्य बड़ी मूर्तियों के पास दिख जाते हैं। बालकृष्ण तो मोरमुकुट धारण किये एक हाथ में नवनीत लिए दूसरा भूमि पर टिकाए, एक घुटने पर झुके हुए तथा कमर में मात्र करधनी पहिने ही मूर्तिकारों को मोहक प्रतीत हुए हैं।[1] कहीं-कहीं नवनीत के स्थान पर मोदक की कल्पना भी आकारी गई है। इन मूर्तियों को नवनीत लाल आदि नामों से सम्बन्धित किया गया है। सूरदास ने उन्हें इस छवि में चित्रित किया है।

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुवन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए।

चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि मन मत्त मधुपगन मादक मधुहिं पिए।
कठुला कण्ठ, वज्रकेहरि नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एको पल इहिं सुख का सुख कल्प जिए।

कहीं-कहीं बालकृष्ण की इस अवस्था की उत्तरकाल की मूर्तियाँ भी मिलती हैं, जिनमें वे मुकुट, कटिकिंकणी, पैजनियाँ आदि पहिने हुए हैं। कभी शरीर पर वस्त्र हैं कभी नहीं भी हैं और हाथ में मोदक या नवनीत के स्थान पर वंशी है। दक्षिण में (मद्रास संग्रहालय) ऐसी मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।

श्रीकृष्ण की सर्वप्रिय मूर्ति तो उनकी तरुणावस्था की है जिसमें वे पीताम्बर और मोरमुकुट से सज्जित हैं। गले में माला है, हाथों में मुरली है और एक पैर मुड़ा हुआ है। श्रीमद्भागवत में वे इस भाँति वर्णित हैं—

वर्हापीडं नटवर वपुः कर्णयोः कार्णिकारं
विभ्रद्वासः कनक कपिशं वैजयन्तीं च मालाम्
रन्ध्रान् वेणो अधर सुधया पूरयन् गोपवृन्दे
वृन्दारण्यं स्वपद रमणं प्राविशट् गीतकीर्तिः।

वंशीधर की मूर्ति की सबसे ध्यानाकर्षक विशेषता 'नटवर वपुः' है। वैखानसागम में कृष्ण के सिर पर किरीट का आग्रह है। दक्षिण के मन्दिरों में यह विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। वहाँ मूर्तियाँ 'गण गोपाल' या 'वेणु गोपाल' नाम से सम्बोधित की जाती हैं (देखिये—एलीमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी पार्ट-1 पृष्ठ-207) परन्तु उत्तरी भारत में कृष्ण मोर मुकुटधारी ही हैं—(मोर मुकुट कटि काछनी उर वैजन्ती माल। एहि बानिक मो मन बसो सदा बिहारी लाल। -बिहारी)।

'नटवर वेणु' की त्रिभंगिमा संतुलन और लय का अनुपम समन्वय है और शरीर का रेखीय सौन्दर्य प्रस्तुत करता है। वैखानसागम के अनुसार मूर्तिकारों को इस निर्देश का पालन करना चाहिए—

गोपीगोपगोकन्याभिः परिवृतं दक्षिणं सत्ययोद्यतपादं वामं सुस्थितमाहृत्य द्विहस्ताभ्याम् अंगुलीषु वेणु विवरान्संयोज्य त्रिभंग भंग गानरस समन्वितः गोपालं गायकम्।

कृष्ण के ललित रूप के अतिरिक्त लोकरंजक, लोकनायक रूप की मूर्तियाँ भी हिन्दू मन्दिरों में स्थापित की गई हैं। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय की प्रधान मूर्ति देवगमन गिरिधारी श्रीनाथ जी की ही है। श्रीमद्भागवत गर्ग संहिता आदि ग्रन्थों में उल्लेख है कि गोपसमाज में बहुप्रचलित इन्द्रपूजा को समाप्त कर कृष्ण ने गोवर्धन की आराध्य के रूप में प्रतिष्ठा की। इन्द्र की कोप-वर्षा के दौरान गोवर्धन पर्वत उठाकर सात दिनों तक ब्रजवासियों को सुरक्षा का छत्र प्रदान किया। इससे इन्द्र के दर्प का दमन हुआ। श्रीनाथजी की प्राकट्य वार्ता के अनुसार (प्रकाशक, विद्या विभाग मन्दिर मण्डल, नाथद्वारा) संवत् 1466 में श्रावण के कृष्णपक्ष की तृतीया को आन्योर ग्राम का एक ब्रजवासी अपनी गाय ढूँढ़ने गोवर्धन पर्वत पर गया था। अन्वेषण करते-करते कुछ दिनों के पश्चात् श्रावण शुक्ल पंचमी (नाग पंचमी) के दिन उसे पर्वत के एक भाग में श्रीनाथ जी की मूर्ति की उठी हुई भुजा वाला भाग दिखाई दिया। वह बहुत से ब्रजवासियों को वहाँ ले गया। उनमें से एक वृद्ध ने गिरिराज उद्धरण की घटना सुनाते हुए कहा कि उस समय ब्रजवासियों ने इस गिरि उठाने वाले हाथ की पूजा की थी। यह वही भुजा है। भगवान कन्दरा में खड़े हैं। हमें उन्हें निकालने का यत्न नहीं करना चाहिए। वहाँ पूजा होने लगी, मेले लगने लगे। लोग पुत्र-धनादि की कामना से मानता करने लगे। लगभग 70 वर्ष के बाद मूर्ति का मुख प्रगट हुआ। इसी दिन श्री वल्लभाचार्य का जन्म हुआ था। संयोग की बात है कि संवत् 1549 की फाल्गुन शुक्ल एकादशी को उन्हें प्रेरणा हुई कि वे इस विग्रह को पर्वत कन्दरा से बाहर ले आएँ। तद्नुसार उन्होंने सद्दूपाण्डे और माणक चंद पाण्डे से सब विवरण लेकर गोवर्धन से श्रीनाथ जी के विग्रह को उठवाकर एक पीठ पर स्थापित किया और विधिवत् शृंगार-पूजा-भोग आदि की व्यवस्था की। गर्भ संहिता के

गिरिराज खण्ड में देवदमन श्रीनाथ के गोवर्धन में निहित होने की चर्चा है। राजा बहुलाश्व के पूछने पर नारद कहते हैं–

ये न रूपेण कृष्णेन धृतो गोवर्धनो गिरिः
तद् रूपं विधते तत्र राजन् शृंगार मण्डते।
अब्दाश्चतुस्सहस्त्राणि तथा पंचस्तानि च
गतास्तत्र कलेरादौ क्षेत्रे शृंगार मण्डले।
गिरिराज गुहामध्यात्सर्वेषां पश्यतां नृत
स्वतः सिद्धं च तद्रूपं हरे प्रादुर्भविष्यति।
श्रीनाथं देवदमनं तंवदिष्यन्तीति सज्जनाः
गिरिराज गिरौ राजन् सदा लीलां करोति यः।

गर्गसंहिता बहुत प्राचीन नहीं है परन्तु यह तो निश्चित ही है कि श्रीनाथ जी की मूर्ति गोवर्धन में दबी हुई थी। बहुत सम्भव है कि सोमनाथ और अन्य स्थानों पर मूर्तियों के तोड़े जाने के भय से यह प्राचीन मूर्ति गिरि में छुपा दी गई हो और धीरे-धीरे भूक्षरण के कारण क्रमशः दिखाई दी हो। वह कितनी प्राचीन है वहाँ कैसे पहुँची और किन परिस्थितियों में दब गई इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु वह मूर्ति, सन् 1669 में महाराणा राजसिंह के संरक्षण में उदयपुर से लगभ 20 किमी. दूर स्थानान्तरित कर दी गई। वहीं पर संवत् 1576 वैशाख मास में नींव रखकर मन्दिर का निर्माण किया गया और एक कस्बा बस गया, जिसे श्रीनाथद्वारा के नाम से महत्त्वपूर्ण पुष्टिमार्गीय तीर्थ माना जाता है।

श्रीनाथ जी की मूर्ति काले शिलाखण्ड की लगभग आदमकद मूर्ति है। इसमें श्रीकृष्ण का दायां हाथ कटि पर और बायाँ गोवर्धन पर्वत को थामे हुए है। मूर्ति को यथावसर विविध आभूषणों से सजाया जाता है। मूर्ति शिल्प की दृष्टि से साधारण है। उसकी पीठिका में पर्वत और उसकी कन्दराएँ उत्कीर्ण हैं जिनमें तपस्वी, गृहस्थ, गौ, नाग, सिंह, मयूर आदि भी उत्कीर्ण हैं। सामान्य दृष्टि से पर्वत में जो प्राणी मिलते हैं और उसका उपयोग जिन दृष्टियों से होता है, सम्भवतः वहीं अंकित है। उनके

सम्बन्ध में साम्प्रदायिक मान्यताओं का विवरण मुझे प्राप्त नहीं हो सका। परन्तु एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है, हडप्पा टेबलेट्स में प्राप्त रुद्र या यति मूर्तियों में खड़े हुए यतियों के आस-पास त्रिशूल, हाथी, हिरण, बैल, सिंह आदि मिलते हैं। उपासक और उपासिकाएँ भी अंकित हैं। हो सकता है कि श्रीनाथ जी की मूर्ति उसी शैली के अनुकरण पर उत्कीर्ण की गई हों। इससे उसकी प्राचीनता का भी कुछ आभास मिलता है। मूर्ति अल्पवसना और अल्पाभरणा भी है। अष्टयामों में दर्शनार्थ यथोचित रूप से उसे शृंगार धराया जाता है और समक्ष भोग पहराया जाता है। वल्लभ-वाणी में उन्हें विविध वस्त्राभूषण धराए जाते हैं। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

इत्युत्वैकेन हस्तेन कृत्वागोवर्धना चलम्
दधार लीलवा कृष्णाछत्राकमिव बालकः।

हरिवंश पुराण में दाएँ हाथ पर उठाने का उल्लेख है—

सधृतंस्संगतो मेधेः गिरिसव्येन पाणिना
(19/31)

गिरिराज धारण करने और इन्द्र का दर्प दमन करने की घटना भारत में वैचारिक परिवर्तन की प्रकाशिका है। यज्ञमूलक कर्मकाण्ड में बलि की महत्ता थी। प्राचीनकाल में पशु और कभी-कभी मानव की भी बलि की जाती थी। गोप समाज में परम्परा से बलि यज्ञों में देवता इन्द्र का प्राधान्य था।[2] लोग यह समझते थे कि इन्द्र ही वर्षा के देवता हैं। वेदों-पुराणों में इस बात पर बार-बार बल दिया गया है कि देवता या आराध्य की पूजा तो की जाए परन्तु उनके आचरणों का अनुकरण न किया जाए। ब्रज में ऐन्द्रवृत्ति के लक्षण उभर रहे थे। अतएव श्रीकृष्ण ने इस परम्परा को एक सही, वैज्ञानिक दृष्टि से वर्षा का मूल कारण स्पष्ट करके समाप्त करने का उपक्रम किया। श्रीमद्भागवत में इस बात का उल्लेख बलियज्ञ के समय नंद और श्रीकृष्ण की बातचीत में मिलता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

सत्यं रजस्तमइति स्थित्युन्पत्यन्त हेतवः
रजसोत्पद्यते विश्वं अन्योन्यं विविधं जगत्
रजसा प्रेरिता मेघा वर्षन्त्याम्बूनि सर्वतः
प्रजास्तैरेव सिद्धयान्ति महेन्द्र किं करिष्यति।।

इस प्रकार उन्होंने निसर्ग में भी ईश्वर की स्थिति पर बल देकर उसे पूज्य बनाया।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। कृष्ण के समय में यतिव्रात्य और श्रमण आदि भी विद्यमान थे, अनेक तीर्थंकर भी हो चुके थे। अरिष्टनेमि तो यादववंशी और कृष्ण के चचेरे भाई ही थे। हो सकता है (यदि अनार्य ही दृष्टि से सोचा जाए तो) पशुबलि का विरोध और अहिंसा की भावना सम-सामयिक संसर्ग से जागृत या पुष्ट हुई हो। पहले-पहले श्रीकृष्ण शत्रु-संहार, द्वन्द्व, युद्धादि से विमुख नहीं थे। बाद में इन्द्र से भी उनका युद्ध हुआ परन्तु गिरिराज प्रसंग में उन्होंने अहिंसक प्रतिकार ही किया, समक्ष युद्ध नहीं इस प्रकार देवदमन श्रीनाथ जी भारतीय सांस्कृतिक जीवन में जड़ परम्परा के विरोध और मूल्यगत समन्वय के प्रतीक भी हैं।

महाराष्ट्र के पंडरपुर में श्री विट्ठल का मन्दिर है। उसमें प्रतिष्ठित विग्रह को मराठी-भाषी बिठोबा कहते हैं। इनके सम्बन्ध में अंग्रेजी और मराठी में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें मूर्ति सम्बन्धी इतिहास और उनकी मुद्रा और कटि पर दोनों हाथ रखकर खड़े होने के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं और लोकश्रुतियों का विस्तृत उल्लेख है। इतिहास के अनुसार यह मूर्ति प्रथमतः कर्नाटक में थी। यह अपने ढंग की विलक्षण मूर्ति है। श्रीकृष्ण के कटि पर हाथ रखकर खड़े होने के सम्बन्ध लोक-पुराण का मत है कि श्रीकृष्ण द्वारिका में आकर सदा राधा के ही ध्यान में लीन रहते थे। इससे उनकी पत्नी रुक्मिणी रुष्ट होकर, श्रीकृष्ण का यह रुझान समाप्त करने की दृष्टि से दूर दक्षिण के एक वन में जाकर तपस्या करने लगीं। श्रीकृष्ण का ध्यान जब अपनी विविध व्यस्तताओं से इस

ओर गया तो वे उस वन में पहुँचे और ध्यानमग्ना रुक्मिणी के सामने कटि पर हाथ रखकर विस्मय और कौतुक मिश्रित मुद्रा में खड़े हो गये। कुछ समय पश्चात् उन्हें मनाकर द्वारिका में ले आए।

श्रीकृष्ण रुक्मिणी को अपने विनोदी स्वभाव के कारण कभी-कभी चिढ़ा दिया करते थे। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध) के अन्तर्गत 'श्रीकृष्ण-रुक्मिणी संवाद' मनोरंजक प्रसंग है। अस्तु यह तो हुआ मुद्रा का आख्यान। इस पंडरपुर में उनकी स्थिति के सम्बन्ध में एक और कथा है। पुण्डरीक नामक व्यक्ति घोर स्वार्थी, भोग, विलासी और अपने माता-पिता से बुरा व्यवहार करता था, उसने उन्हें तीर्थयात्रा पर जाने को मजबूर किया। माता-पिता चलते-चलते काशी आए और कुक्कुटाश्रम में ठहर गए। संयोगवश पुण्डरीक भी वहाँ पहुँचा और उसे कुक्कुट ऋषि के आश्रम में रात बितानी पड़ी। मध्यरात्रि में उसने आश्रम में तीन दुबली-पतली कुरूप नारियों को आँगन में पानी खींचते देखा। धीरे-धीरे वे दिव्य स्वरूप ग्रहण करने लगीं और ताजी छविमती हो गईं है। पुण्डरीक बहुत चकित हुआ। उनसे पूछने पर उसे ज्ञात हुआ कि वे तो गंगा, यमुना और सरस्वती हैं और कुक्कुट आश्रम में अपनी पवित्रता के लिए आती हैं। कुछ और जिज्ञासा से पश्चात् उन्होंने कुक्कुट ऋषि की शक्ति का रहस्य माता-पिता की श्रद्धायुक्त सेवा बताया।

पुण्डरीक दौड़े और उसने अपने माता-पिता को घोड़ों पर सवार होकर तीर्थयात्रा करने की व्यवस्था कर दी। भगवान इससे बहुत प्रसन्न हुए। जब वह अपने पिता के पैर दाब रहा था श्रीकृष्ण द्वार पर प्रकट हुए। उनके हाथ उनके कूल्हों पर थे जैसे कि तपस्या करती हुई रुक्मिणी के सामने थे। पुण्डरीक ने सेवा पूर्ण करने के समय तक के लिए पास ही पड़ी एक ईंट सामने फेंकी ताकि श्रीकृष्ण इसका आसन की तरह उपयोग कर लें (मराठी में ईंट को विट कहते हैं)। जब सेवा पूर्ण हुई तो वह भगवान के पास आया। भगवान ने उससे वरदान माँगने को कहा। पुण्डरीक बोला हे परमेश्वर आप इस समय जहाँ खड़े हैं अनन्तकाल तक

वहाँ खड़े रहें, इसके सिवाय मुझे कुछ नहीं चाहिए। तब से वे अनेक व्यवस्थात्मक परिवर्तनों के बीच वहीं खड़े हैं। संत ज्ञानेश्वर ने अपने अभंग में उनकी छवि का इस प्रकार वर्णन किया है।

मा यत्त पन्थाः पथि भीम रथ्याः दिगंबरो कोपि तमाल नीलः।
विन्यस्त हस्तोऽपि नितम्ब बिम्बे। धूर्तः समाकर्षति चित्तवित्तम्।

अर्थात् पथिको भीमरथी के पुलिन के रास्ते से मत जाना, क्योंकि वहाँ एक नग्न और तमालनील पुरुष खड़ा है। उसने अपने दोनों हाथ कमर पर टिकाए हैं। वह धूर्त चित्तरूपी वित्त लूट लेता है। संत नामदेव ने तो साफ ही कहा है–

फेडूनि पीताम्बर तथा दिगंबर
कटि ठेबूनि कर वाळवंटी।

इस सब भावुक उद्‌गारों के बावजूद मूर्तिशास्त्र के मत से पांडुरंग या विट्ठल की मूर्ति विष्णु के पुराण प्रसिद्ध रूपों से किसी प्रकार भी मेल नहीं खाती। अब एक प्रश्न मन में उठता है यदि विठोबा मूलतः कर्नाटक से लाए गए हैं और दिगंबर हैं तो क्या कर्नाटक में आप इतिहास काल में बहुप्रचलित जैन सम्प्रदाय का इस मूर्ति को आकार पर प्रभाव पड़ा है? या उस समय का मूर्ति-निर्माण का रिवाज ही ऐसा था? श्रीकृष्ण विट्ठल के रूप में बाल नहीं हैं। विवाहित तरुण हैं। द्वारिका में राज्य स्थापित कर चुके हैं तो इस सूचना के संदर्भ में वे नग्न कैसे हैं? भारत की भक्ति-चेतना प्रधानतः आत्मनिष्ठ ही है। वह आँखों की उपेक्षा कर अपने भाव-संसार से ही प्रत्यक्ष करती है और भाव-संसार की विविध पुराणों ने अपनी-अपनी तरह से आकार दिया है तथा भरपूर पुष्ट किया है। अन्तर्कथाओं से मनोरंजक भी बनाया है। क्या ऐसी मूर्तियों की पृष्ठभूमि में समन्वयी वृत्ति ने काम न किया होगा।

खजुराहो में कृष्ण लीला सम्बन्धी मूर्तियाँ लक्ष्मण मन्दिर में उत्कीर्ण हैं। मन्दिर के प्रदक्षिणापथ तथा गर्भजंघों पर ग्यारह मूर्तियाँ–पूतना वध, शकटभंग, तृणावर्त-वध, यमलार्जुन उद्धार, वत्सासुरवध, कालिय-

मर्दन, अरिष्टासुर-वध, कुल्लानुग्रह, कुवलयापीडवध, चाणूर युद्ध, शल-युद्ध से सम्बन्धित हैं। कृष्ण जन्म की एक सुन्दर मूर्ति स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित है। खजुराहो में ही शिलापट्ट भी हैं जिनमें कृष्णलीला सम्बन्धी अनेक दृश्य हैं। कृष्ण जन्म वाली मूर्ति में देवकी विशाल किरीट-मुकुट, हार, ग्रैवेयक, कुंडल, कंकण, वलय, केयूर, मुक्ताग्रंथित कटिसूत्र आभूषणों से अलंकृत हैं। किरीट मुकुट के ऊपर के शेष फणों का विशाल घटाटोप है।

पूतनावध के छोटे-छोटे तोष चित्रण और उपलब्ध हैं—दो कृष्णलीला पट्टों में और एक विश्वनाथ मन्दिर की एक रूप पट्टिका में उत्कीर्ण। सकट भंग-स्वतन्त्र मूर्ति में चतुर्भुज कृष्ण एक छकड़े को उलटते हुए प्रदर्शित हैं। वे नृत्य मुद्रा में हैं मानो खेल-खेल में उन्होंने यह करतब दिखा दिया हो। तृणावर्तवध की सुन्दर मूर्ति में कृष्ण तृणावर्त के कंधों पर बैठे प्रदर्शित हैं। तृणावर्त कृष्ण के पैरों को कसकर पकड़े हैं। यमलार्जुन उद्धार से सम्बन्धित एक प्रतिमा पहाड़पुर (नवीं-शती) में भी मिलती है। वत्सासुरवध में युवा कृष्ण के सिर पर घुँघराली केशराशि है। कालियामर्दन लीला की मूर्ति भारतीय शिल्प में अत्यन्त लोकप्रिय रही है। उनके दाहिने हाथ में कमल पुष्पों का गुच्छ है और बायें में पाश है। ऐसी ही एक मूर्ति मथुरा संग्रहालय में भी है। ये सभी मूर्तियाँ सजीव हैं। कृष्णानुग्रह वाली मूर्ति में कृष्ण की सुन्दरता, सुकुमारता, रसिकता, मन्द मुस्कान, चारु चितवन और प्रेमालाप के भाव प्रदर्शित हैं।

मन्दिरों में आराध्यों की मूर्तियाँ पाषाण या धातु से निर्मित ही पाई जाती हैं। परन्तु भारत के पूर्वांचल में प्रसिद्ध तीर्थ पुरी और धुर पश्चिमी क्षेत्र मणिपुर राज्य की राजधानी इम्फाल में कृष्ण के विग्रह काष्ठ के हैं। इन दोनों विग्रहों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बड़ी ज्ञानवर्धक और विचारोत्तेजक है। वे भारत की आत्मा के अनेक समन्वयी सांस्कृतिक तथ्यों पर प्रकाश डालती हैं।

पुरी, भुवनेश्वर और कोणार्क के यात्री यह भलीभाँति जानते हैं

कि वहाँ की मूतियाँ और उत्कीर्ण प्रतिमाएँ अपनी कलात्मक सजीवता के लिए विख्यात हैं। मानव शरीर और स्पन्दित विविध अनुभूतियाँ और क्रियाकलापों को अंकित करने में कोणार्क और भुवनेश्वर के मूर्तिकार और शिल्पियों ने सौन्दर्य और समानुपात का सूक्ष्मता से ध्यान रखा है। सभी मूर्तियाँ पाषाण की हैं या पाषाण पर ही उकेरी गई हैं सिर्फ श्री जगन्नाथ मन्दिर की प्रतिमाओं को छोड़कर। इस सार्वत्रिक पाषाण शिल्प के बीच जगन्नाथ की काष्ठ निर्मित तथा परिवेश की उत्कृष्ट कलात्मकता से बिल्कुल ही भिन्न प्रतिमा, भौंड़ी और असंगत-सी प्रतीत होती हैं। चौड़े-चपटे मुखौटों की तरह मुखाकृति बड़ी गोलाकार आँखें, नृसिंह के समान लम्बी ओष्ठकार रेखाएँ, चौड़ा ललाट, नुकीली चिबुक, लूले हाथ और इस पर भक्तगण कहते हैं—

सुनासं, सुकपोलंच सुललाटं, सुलक्षणम्।

तथ्य के साथ भावना की प्रतिमूर्ति का इतना बड़ा प्रतिशत! भौतिक वस्तु से आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने में इतनी अनाश्रितता ही धर्म की आधारभूत शक्ति है, नहीं तो हम किसी भी अनगढ़ पत्थर को सिंदूर पोतकर उसे भैरव, हनुमान, गणेश, शिव और न जाने कौन-कौन से देवता मानकर पूजा कैसे कर पाते? अस्तु तथ्य यह है कि जगन्नाथ की प्रतिमा सभी कृष्ण मन्दिरों की प्रतिमाओं से और भाारतीय मन्दिर के शिल्प कौशल से कतई मेल नहीं खाती। इस सम्बन्ध में अनुमान, लोकश्रुति, मिथक और इतिहास सबको मिलाकर लोगों ने अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं। लोक-श्रुति है कि जरा नामक व्याघ्र के बाण से कृष्ण की मृत्यु होने के पश्चात् किसी धर्मात्मा ने उनकी अन्त्येष्टि की (हरिवंश में भिन्न कथा है) और अस्थि-भस्म को एक पेटिका में सुरक्षित रख दिया। हो सकता है जिस वृक्ष के नीचे उनका गोलोकवास हुआ उसी वृक्ष की लकड़ी से जगन्नाथ की रचना की जाती हो फिर उनकी प्रतिमा के एक विवर में यह अस्थि-पेटिका रखकर ही प्राण-प्रतिष्ठा पूर्ण मानी जाती हो।

अस्थि या अस्थिपूर्ण का संरक्षण या तो यूनानी संस्कृति की या बौद्ध धर्म की प्रथा है। एक मान्यता यह भी है कि पुरी का मन्दिर पहले बौद्ध-मन्दिर या बाद में उसे वैष्णव मन्दिर के रूप में परिवर्तित किया गया। अस्थि पेटिका भी भगवान बुद्ध के अवशेषों की ही मानी जाती है। बौद्ध-साहित्य में 'दन्तपुर' जहाँ बुद्ध का एक दांत प्रतिष्ठापित किया गया वही ग्राम माना गया है जिसे आज 'पुरी' कहते हैं। भारतीय मनीषा की समाहार-वृत्ति ने बुद्ध को भी विष्णु का अवतार मान लिया और उनका तथा विष्णु (कृष्ण) का एकीकरण जगन्नाथ में कर लिया। जयदेव ने गाया है—

निन्दसि यज्ञ विधे रह रह श्रुतिजातम्
केशव धृत्-बुद्ध शरीर
जय जगदीश हरे।

इन सबसे अधिक सार्थक बात यह है कि प्राचीनकाल में पुरी का स्थान शवरों का पवित्र धाम था। जनजातियाँ वन-देवताओं की पूजक होती हैं और उनके देवता का काष्ठ तथा जनजातीय कला के प्रतिमानों से निर्मित होना स्वाभाविक ही है। ऐसी भी जनश्रुति है कि जब जनजाति का सम्पर्क वैष्णवों से हुआ और उन्होंने कृष्ण को स्वीकार किया तो मूर्ति के सम्बन्ध में अपनी लोकसम्मत मान्यताओं (काष्ठ और आकृति) को अक्षुण्य रखने का आग्रह किया। इस सांस्कृतिक समन्वय के परिणामस्वरूप कृष्ण के साथ बलराम और सुभद्रा भी आराध्यों के रूप में स्थापित हुए। हमारे इतिहास और पुराणों में पूजा के लिये इस त्रयी की स्थापना का कोई साक्ष्य नहीं है इसलिए जगन्नाथ धाम से कुछ दूरी पर मुरलीधर की मूर्ति साक्षी-गोपाल के नाम से विद्यमान है। मेरे विचार से, हमें जगन्नाथ में अपनी श्रद्धा का साक्ष्य इनके समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है।

सामाजिक सुधार की दृष्टि से जगन्नाथ मन्दिर की परम्परा है कि देवता का महाप्रसाद जाति-पाँति के भेद को भुलाकर एक साथ

प्राप्त करना पड़ता है। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि डॉ० विजयानंद कार ने अपने 'ह्यूमेरिस्म इन दी कल्ट ऑफ जगन्नाथ' शीर्षक लेख में इस अद्यतन विचार की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि श्रीकृष्ण का नीलश्याम रूप शबर, अर्थात् आर्योत्तर, बलभद्र का गौर रूप आर्य एवं सुभद्रा का पीला रूप मंगोल समाजों का द्योतक है अतएव जगन्नाथ की त्रयी नस्लीय समन्वय तथा एकीकरण की पवित्र झाँकी है।

उड़ीसा के राज्य संग्रहालय भुवनेश्वर में कृष्ण की उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं। कालियदलन, वस्त्रहरण (13वीं शताब्दी), कृष्ण (13वीं शताब्दी, गोपीनाथ, (12वीं शताब्दी), सोमनाथ मन्दिर में (13वीं शताब्दी) 'अष्टदलपट्म' में कृष्णलीला की मूर्तियाँ हैं।

इसी तरह की समन्वय कथा मणिपुर के गोविन्द जी के विषय में है। गौड़ी कृष्णोपासना के प्रचारक जब मणिपुर पहुँचे तो वहाँ भी जनजाति में काष्ठ के वनदेवता पूजे जाते थे। कहते हैं इस बात पर समझौता हुआ कि कृष्ण की वंशीधर प्रतिमा काष्ठ (कटहल) की हो। इम्फाल में प्राचीन राजमहल के समीप श्याम-रंजित काष्ठ-प्रतिमा सारे प्रदेश के जीवन और कला की प्रेरक है। इसके सम्बन्ध में राजा तथा उसके स्वप्न की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं जिनका उल्लेख यहाँ अनावश्यक होगा। मनोरंजक बात यह है कि शासक ने वैष्णव ब्राह्मणों से प्रजा को दीक्षित करने को कहा और ब्राह्मणों के सामने जैसे लोग गुजरते चले गये, वे किसी को ब्राह्मण और किसी को क्षत्रिय की संज्ञा देते गये। फलतः मणिपुर में प्रधानतः वे दो जातियाँ ही हैं।

कृष्ण, जैसे विलक्षण लीलाओं वाले महापुरुष या देवता थे वैसी ही विविध और विचित्र उनकी प्रतिमायें हैं जो भारतीय जीवन के सब समन्वयों और आग्रहों के साथ-साथ आंचलिक इतिहास-पुराण, संस्कृतियों की परिचायक है। इनका निर्माण भारतीय जीवन के सूक्ष्म वस्तुओं के ताने-बाने को स्पष्ट कर हमारी दृष्टि में उदारता और विशालता की सृष्टि करता है इतने विस्तृत भूखण्ड के वासियों की प्रगति और सम्यक् स्थिति

के लिए यह विशाल दृष्टि अनिवार्य भी है। किन्तु आज हम अपनी महान संश्लेषक चेतना को बिखरता और विशिष्ट होता हुआ पा रहे हैं। हमारी आध्यात्मिक चेतना जो कि अपने में सामाजिक चेतना को समाए हुए थी। कालरात्रि से ग्रस्त होती जा रही है। ऐसे समय हमें ऋग्वेद के उस मंत्र को जगाना चाहिए–

यावया वृवयं वृकं यवयस्तेन भूम्ये अथानः सुतरा भव।
हमसे भेड़ियों, चोरों को दूर करो,
हे रात्रि हमारे लिए पार जाने योग्य बनो!

(ऋ० 10.127.6)

पाद टिप्पणियाँ–

1. नवनीत नटस्य वामपादमाकुत्रच्य स्थितं दक्षिणमुत्तान कुत्रिचतं दक्षिण हस्तं अभयं नवनीतयुतं वा वामं प्रसार्योत्तानं सर्वाभरण–भूषिताम्बरहीन मम्बरधरायतं नवनीत नृत्तरूपं कारयेत्। (वैखानसागम)

   Elements of Hindu Iconography-Vol 1; Part 2; T.A. Gopinath Rao (Appendix C**)

2. ''आर्यों का आदि देश'' लेखक श्री सम्पूर्णानन्द; इस ग्रन्थ में सम्पूर्णानन्द जी ने बलि के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण से जो उद्धरण दिया है वह इस तरह का है–आरम्भ में बलि के लिए परमात्मा मनुष्य के शरीर में गया परन्तु वह उसे अरुचिकर लगा फिर वह गाय की देह में आया। यह भी नहीं रुचा। तत्पश्चात् अश्व, मेढ़ और अजा की कायाओं में जाकर भी उसे अच्छा नहीं लगा तो अन्त में उसने औषधियों में प्रवेश किया यह अच्छा लगा।

संदर्भ–सामग्री

1. श्रीमद्भागवत : कल्याण प्रेस गोरखपुर।
2. गर्ग संहिता, भोलेश्वर पुस्तक भंडार बम्बई।
3. Elements of Hindu Iconography-Vol I; Part II; T.A. Gopinath Rao.

4. श्रीनाथ जी की प्राकट्यवार्ता : विद्यानिवास मन्दिर मण्डल : नाथद्वारा
5. श्री विट्ठल एक महासमन्वय; रामचंद्र चिंतामण ठेरे; श्री विद्या प्रकाशन शनिवार पेठ पुणे।
6. The Cult of Vithoba; G.A.Deleury Poona.
7. The Origin of Vithoba; S.G.Tulpule. Annal of B.O.R.I. Dioment Jubilee.
8. The Cult and Culture of Lord Jagannath; D. Pauda & Sarad Chandra Panigraphi, Rastra Bhasa Samanveya Prakashan, Cuttak (ORISSA)
9. Hindu world; Benjamin G.A.&U Ltd. London.

श्रीकृष्ण का भावरूप और संगीत कला

❀ प्रो० विश्वनाथ शुक्ल

राम और कृष्ण भारत राष्ट्र के वे दो शलाका पुरुष हैं, जिनके बिना अखण्डता और परिपूर्णता में भारतवर्ष के स्वरूप की कल्पना सम्भव नहीं है। राम ने यदि सार्वभौम जीवन-मूल्यों से अपना मर्यादा पुरुषोत्तमत्व स्थापित किया तो कृष्ण ने जीवन में शाश्वत आनन्द के प्रवाह से अपना लीला पुरुषोत्तमत्व प्रमाणित किया। उत्कृष्ट मल्लिका-पुरुषों की सौरभमयी इन्हीं शरद्निशाओं में कभी रसात्मा कृष्ण के इसी वृन्दावन में इसी यमुना के पुलिन प्रदेश में अपने चराचर जगन्मोहन वेणुनादपूर्वक रसों के समूहरूप रास की सृष्टि की थी। इन कतिपय पंक्तियों में यह चेष्टा की गई है कि लीला पुरुषोत्तम कृष्ण ने आनन्द के अनाविल स्रोत रूप संगीत के माध्यम से आज भी समस्त भारत को किस प्रकार देश, कालजाति, धर्म, भाषा आदि के ऊपरी भेदों का भेदन करते हुए भावात्मक ऐक्य के सूत्र में आबद्ध किया हुआ है।

संगीत की सार्वभौम प्रभविष्णुता—अपने व्यक्तित्व के आयाम, विविधता और विचित्रता में कृष्ण अद्वितीय हैं। भारत के विराट लोकजीवन की साँस-साँस में बसे कृष्ण यदि सबसे व्यापक लोकदेवता हैं तो गम्भीरतम दार्शनिक चिन्तन के सारभूत गीतोपनिषद् के गायक भी हैं। 'भागवद्गीता' अभिधान ही 'संगीत' से प्रत्यक्ष सम्बद्ध है। लोक से सीधे और हृदयंगम संवाद का अमोघ साधन है संगीत। कृष्ण ने अपनी विभूतियों का निरूपण करते हुए स्वयं को वेदों में सामवेद बताया है— वेदानां सामवेदोऽस्मि।[1] (श्रीमद्भगवद्गीता 10/22) संगीत विश्व में सामवेद के रूप में प्रचारित हुआ है। सामवेद की संगीतात्मकता विश्वमानस के लिए भारत का

पुरातन सांस्कृतिक उपहार है। तैत्तिरीय संहिता में आता है कि देवता ऋग् और यजुर्वेद की अपेक्षा तन्मयीभवन के लिए सामवेद का ही आश्रय लेते हैं—देवा वै नर्चि न चलुष्यश्रयन्त। ते सामन्येयवाश्रयन्त।।[2] (तैति०संहि० 2/5/7) प्रायोगिक संगीत के विश्वविश्रुत आकर ग्रन्थ भरतनाट्यशास्त्र (तीसरी शती) में नाटक के उपादानों में गीत का आहरण सामवेद से बताया गया है—

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादाभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। (ना.श. 1/17)

ब्रह्मा ने नाटक की पाठ्य सामग्री ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनय कला यजुर्वेद से तथा रस सामग्री अथर्ववेद से ग्रहण की। (लोकसंग्रही लोकदेवता कृष्ण ने अत्यन्त प्राचीन परम्परा से आगम, तार्पपर्णिक (तार्पणनिक) तर्पशास्त्रार्थ सम्पन्न, सर्वशिल्पप्रवर्तक, परम विश्रान्ति जनक इस दृश्य श्रव्य क्रीडनीयक (मनोरंजक क्रीड़ा) नाट्यवेद को हल्लीश या हल्लीसक क्रीडन के रूप में प्रचलित किया। इस सामूहिक हल्लीसक क्रीड़ा[1] का ही चरम विकसित रूप[2] हम श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी (दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के अध्याय 29 से 33 तक) में वर्णित शारदीय रासक्रीड़ा में पाते हैं। इस रासक्रीड़ा का बीजरूप में सूत्रपात कृष्ण के सर्वभूत मनोहर संगीत से होता है—

इतिवेणुर वं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा ब्रजस्त्रियः सर्वाः वर्णयन्त्योअभिरेभिरे।।
(श्रीमद्भाग. 10/21/6)

(श्रीशुकदेव मुनि राजा परीक्षित से कहते हैं कि राजन् समस्त प्राणियों के मनों को हरण करने वाले वेणुनाद को सुनकर सारी व्रजांगनाएँ उसके अद्भुत प्रभाव का दर्शन करती हुई ध्यानावस्था में ही कृष्ण का परिरंभण करने लगीं। (इस प्रकार संगीत चराचर जगत को आकर्षित कर संगीत स्रष्टा में लय और तन्मय कर देने के लिए अमोघ साधन है। कृष्ण इस संगीत कला की चरमावधि हैं। श्रीमद्भागवत में कृष्ण की

वेणुवादन[1] दक्षता और उनके वेणु-गीत के चराचर जगद्व्यापी प्रभाव का बड़ा विशद् वर्णन है। दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के दो अध्याय (वेणुगीत अध्याय 21 तथा युगलगीत अध्याय 35) तो पृथक् और विशेष रूप से कृष्ण के संगीत वैचक्षण्य और उसके व्यापक प्रभाव का निरूपण करने के लिए ही रचे गए हैं। परवर्ती संस्कृत कृष्ण-साहित्य में कृष्ण के वेणुनादन प्रावीण्य और उसके अद्भुत प्रभाव का जो विशद् वर्णन मिलता है[2] उसका उत्स श्रीमद्भागवत ही प्रतीत होता है। कृष्ण से संगीत के इसी भागवत-सम्बन्ध ने हमारी सभी भारतीय भाषाओं में कृष्ण के वंशी वादन चातुर्य और वंशी ध्वनि के अनुपम प्रभाव को लेकर इतनी विशाल रसमयी साहित्य-सृष्टि की है, जिसकी तुलना के लिए सारे विश्व साहित्य में तुलनीय सामग्री अलभ्य रहेगी।

कृष्ण और उनका वेणु या वंशीगीत समस्त भारतीय साहित्य (विशेषकर मध्यकालीन साहित्य) का एक प्रिय वर्ण्य विषय है, जिससे श्रेय और प्रेय दोनों प्रकार की अर्थध्वनियाँ गूँजा करती हैं। इस कृष्ण संगीत ने सारे भारत को सदा-सदा के लिए अभिभूत कर दिया है। यही सांगीतिक एकतानता इस देश की एकता और अखण्डता का बड़ा भारी रहस्य है। भारत के भाव-पुरुष श्रीकृष्ण ने संगीत की इस आधारभूत नादात्मक ऊर्जा को पहचाना था। व्यापक प्रभाव की दृष्टि से संगीत कला अन्य समस्त ललित कलाओं से आगे है। संगीत की इस शक्ति का हेतु उनकी नादात्मकता में है जिसका क्षेत्र और प्रभाव असीम है। मधुर संगीत और कला सीमा का अतिक्रमण कर प्राणिमात्र को प्रभावित करता है। मनुष्य प्राणी ही नहीं पशु-पक्षी और वनस्पति जगत् भी संगीत की मधुर स्वरलहरी से प्रभावित होते हैं। इसे आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों ने भी सिद्ध कर दिया है। अनेक रोगों को संगीत-चिकित्सा से निर्मूल किया जा सकता है, यह भी आधुनिक शोधों से प्रमाणित हो चुका है।

यद्यपि समस्त ललित कलाओं की अपूर्व निर्माण क्षमता प्रतिभा सर्जनात्मकता जन्य आस्वाद्यता तत्त्वत: एक ही आनन्दात्मक अनुभूति है,

तथापि आधुनिक कला विवेचकों ने ललित कलाओं में स्थूल से सूक्ष्मतर की ओर प्रस्थान क्रम में स्थापत्य मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य को तारतमिक स्थान दिया है। काव्य कला अपने स्वरूप में सूक्ष्मतम होते हुए भी अपने प्रभाव क्षेत्र में सीमित और एकदेशीय है। वह सीमित जनसमाज की भाषागत शाब्दी-आर्थी सीमा में आबद्ध होने के कारण सार्वजनीन आस्वाद्यता की कोटि में नहीं पहुँच सकती। यदि मुझे तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड, बंगला, उड़िया, असमिया किंबहुना विश्व की अन्य किसी भाषा के काव्य का इदंमित्थं ज्ञान नहीं है तो मैं तत्तत् भाषाओं के काव्य का कुछ भी आनन्द नहीं ले सकता। किन्तु अपनी सहज सहृदयता से मैं किसी भी देश-काल के संगीत में तन्मय हो सकता हूँ, क्योंकि संगीत विशुद्ध नादात्मक कला है और अभिधानवत्ता का उस पर कोई अंकुश नहीं है। अपितु नाद ही मूलतत्त्व है, जिससे अकारककारादि वर्ण व्यक्त होते हैं, वर्णों से घट 'पट' आदि पदों या शब्दों की उत्पत्ति होती है। शब्दों से वाक्य-रचना होती है और वाक्यों से संसार का व्यवहार चलता है, अत: यह समस्त जगत नाद के अधीन है। भारतीय संगीत के महान् आचार्यद्वय मतंग (5-6 शती) और नि:शंक शाङ्र्गदेव (13वीं शती) ने अपने प्रख्यात संगीत शास्त्र ग्रंथों-बृहद्देशी और 'संगीतरत्नाकर' में नाद की इस महत्ता का विशेष रूप से निरूपण किया है-

नादरूप: समृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दन:।
नादरूपा पाराशक्तिर्नादरूपो महेश्वर:।।

(बृहद्देशी संगीत रत्नाकर, सुधाकर, टीका 1.2 में उद्धृत)

नादेन व्यज्यते वर्ण: पदं वर्णात्पदाद्भव:।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्।।

संगीत का जगत तो नादाधीन ही नहीं नादात्मक ही है। प्रायोगिक संगीत के स्वरूपत: तीन अंग हैं—गीत, वाद्य और नृत्त।[1] एक और भी प्राचीन परिभाषा में इन तीनों अंगों के आधार पर संगीत को 'त्रिवृत् शिल्प' कहा गया है—

त्रिवृत् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादित्र्य।

(शांखायन ब्राह्मण, 29.5)

संगीत का यद्यपि प्राधान्य गीत का ही है, तथापि नाद के बिना उसका अस्तित्व नहीं-स्वर, गीत और नृत्य सभी नादात्मक हैं।[2] गीत और वाद्य दोनों का अनुसरण नृत्य में होता है। अत: तीनों अंगों की नादाधीनता सहज सिद्ध है।[3]

नाद के मधुर-सुष्ठु कलात्मक प्रयोग से गीत आकार ग्रहण करता है। वह कण्ठ और वाद्य दोनों से अभिव्यक्त हो सकता है। नि:शंक शाङ्र्गदेव ने संगीत रत्नाकर[4] में गीत[1] (अथवा संगीत) के असाधारण माहात्म्य और प्रभाव के सम्बन्ध में कहा है कि ''गीत से सर्वज्ञ शिव तुष्ट होते हैं। गोपीपति कृष्ण भी वंश (वंशी) की ध्वनि के वश में हैं। ब्रह्मा सामगान में रत हैं। सरस्वती वीणा में आसक्त हैं फिर यक्ष, गन्धर्व, देव-दानव और मानवों का क्या कहना। पालने में लेटे हुए जिस शिशु को इन्द्रियों के किसी विषय-सुख का अभी ज्ञान नहीं हुआ है, वह भी यदि रो रहा हो तो गीत के अमृत को पानकर उल्लसित हो उठता है। कैसी विचित्र बात है कि वनचर, तृणाहारी, हिरन का बच्चा भी बधिक के संगीत से रीझकर अपने प्राण दे देता है। गीत के माहात्म्य की पूर्णता कौन वर्णन कर सकता है। संगीत धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—चारों पुरुषार्थों का एक ही सुलभ साधन है।[2] संगीत का धर्म साधना में प्रयोग 'ब्राह्मणो वीषरागाथिनौगायत:' आदि श्रुतियों से अश्वमेध प्रकरण में, देवार्चन में उसके अंग के रूप में बताया गया है। लोक में संगीत अर्थ-प्राप्ति के साधन अर्थ-प्राप्ति के साधन के रूप में देखा ही जाता है। काम-साधन के रूप में ''तस्माद गायन्तं स्त्रिय: कामयन्ते'' आदि प्रसिद्धोक्तियों से संगीत का महत्त्व स्पष्ट है। कृष्ण के संगीत ने प्रथमत: भौतिक धरातल पर व्रज-वनिताओं को आकृष्ट किया। कृष्ण चरित के प्राचीनतर दो आकर ग्रन्थों-हरिवंश पुराण और विष्णु पुराण में कृष्ण के द्वारा आकर्षक

कण्ठ संगीत से ब्रज स्त्रियों का मोहित होना कहा गया है।[1] हरिवंश में जब कृष्ण के गोवर्धन धारणादि अतिमानुष कार्यों से स्तब्ध गोप लोग उन्हें अपने से विशिष्ट अतिमानवीय शक्ति समझते हैं, तो स्वयं कृष्ण इस बात का खण्डन करते हुए स्वयं को उनका बान्धव बताते और साधारण मानव के रूप में व्यक्त होते हैं। वास्तव में यह लोकनिष्ठता ही कृष्ण की लोकोत्तरता है। लोक के इसी धरातल पर किशोर कृष्ण गोपकन्याओं के साथ नृत्य-गानादि में लीन हो परस्पर मनोरंजन करते हैं। हरिवंश में इस हल्लीसक क्रीडन में अलौकिकता का संकेत नहीं है।[2] किशोर कृष्ण हैं, अनेक गोपिकाएँ हैं, सुरम्य वन प्रान्तर है, चन्द्रज्योत्सना है और सौरभमयी रमणीय शरद्रात्रि है। उद्दीपन की सभी हृदयाकर्षक सामग्री प्रस्तुत है, ऐसे देशकाल में किन्हीं भी नवयुवक-युवतियों को आमोद-प्रमोद की इच्छा हो सकती है। हरिवंश के उपरान्त विष्णु पुराण में कृष्ण की इस संगीताधृत क्रीड़ा में थोड़ी-सी अध्यात्म-प्रवणता आती है[3] और श्रीमद्भागवत में वह चरमसीमा पर पहुँचकर कृष्ण की कामविजय लीला का रूप धारण कर लेती है।[4] इसी दृष्टि को लेकर श्रीमद्भागवत के प्राचीन प्रमुख टीकाकार श्री श्रीधर स्वामी ने अपनी 'भावार्थ दीपिका' टीका में कहा है—

ब्रह्मादिजयसंरुददर्पकन्दर्पदर्प हा।
जयति श्रीपतिगोपीरासमण्डलमण्डनः।।

(ब्रह्मादि को भी विजित कर लेने के कारण जिस कामदेव को गर्व हो गया था, उसके गर्व को नष्ट करने वाले गोपिकाओं की रासमण्डली के भूषणरूप श्रीकृष्ण सर्वोत्कृष्ट हैं।) संगीताधृत इसी भागवतीय रास की फलश्रुति में इस गोपी कृष्ण क्रीड़ा को मनुष्य के हृदय रोग रूपी काम से मुक्ति और पराभक्ति की प्राप्ति का त्वरितोपाय बताया गया है—

विक्रीहितं व्रजवधूभिरिदच विष्णोः
श्रद्धान्वितो अनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।

भक्तिं परां भगवति प्रतिहभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।।

(श्रीमद्भाग० 10.33.40)

भारतीय चिन्तन में संगीत के मूल नाद को ब्रह्मवत् उपासनीय कहा गया है। नादोपासना त्रिदेवोपासना के समकक्ष एवं मोक्षदायिनी है।

नादोपासनय नित्यं ब्रह्म विष्णु महेश्वराः।
भवत्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः।

गानमय भगवद्भक्ति पराभक्ति है—

पूजा कोटिगुणैं ध्यानं ध्यानात् कोटिगुणोजयः।
जपात् कोटिगुणं गानंगानात् परतरं न हि।।

संगीतमय भगवद्गुणानुवाद से भगवत्सान्निध्य की प्राप्ति होती है—

नाहं वसामि वैकुण्ठ योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

वीणावादनपूर्वक भगवद्पुराण गायकों में नारद अग्रणी भक्त हैं। वे नवधा भक्ति में द्वितीय कीर्तन भक्ति के प्रवर्तक हैं। कृत-संशब्दन धातु[2] से व्युत्पन्न कीर्तन में संशब्दन का अर्थ वास्तव में संगीत ही है। गीता के एक श्लोक से वीणादि तत (तन्तुवाद्यों) सहित कीर्तन भक्ति का बड़ा चमत्कारिक भाव उपलब्ध होता है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।। (गीता 9.14)

यहाँ 'सततं' क्रिया विशेषण अव्यय से 'निरन्तर' अर्थ के साथ ततेन सहितं यथा स्यात् तथा वीणादि ततवाद्य सहितं कीर्तनम् यह अर्थ-ध्वनि भी निकलती है। इस प्रकार मानव को नैसर्गिक रूप से प्रिय संगीत ने भारतीय अध्यात्म साधनों में भक्ति के अंग के रूप में अपना मुख्य स्थान बना लिया। आसेतु हिमाचल भारत के शत-सहस्त्र भक्तों, सन्तों, आचार्यों, भक्त-कवियों और फकीरों ने निर्विकल्प रूप से उस परमतत्व

तक पहुँचने के लिए संगीत के प्रशस्त राजमार्ग को अपनाया। हम प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी भक्ति काव्य में राग-रागिनियों का उल्लेख जो गीतियों और पदों के शीर्षक रूप में पाते हैं, वह उसकी संगीत-प्राणता के ही कारण है। हमारे आध्यात्मिक वाङ्मय में जोर देकर कहा गया है कि अपनी प्रियतम वस्तु को प्रभु को अर्पित कर देने से वह अनन्त फल देने वाली होकर निवेदक के पास लौटती है।

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानंत्याय कल्पते।।

(श्रीमद्भाग. 11.11.41)

भारतीय मनीषा ने अपने वल्लभतम कृष्ण के इस आप्तवाक्य का स्मरण रखते हुए उन्हीं से प्रवृत्त संगीत से उनकी कीर्तन भक्ति या सेवा का वरण किया। 5वीं शती से ही आलवार वैष्णव भक्तों की संगीताधृत कीर्तन परम्परा ने सारे भारत की भक्ति पद्धति को प्रेरणा दी है। आलवारों का 'नालायिर दिव्य-प्रबन्ध' (अर्थात् 4 सहस्र गीतों का भक्तिरस भरित संग्रह) जो 'तमिलवेद' नाम से भी पुकारा जाता है, समस्त भारत के भक्ति वाङ्मय की अमूल्य निधि है। श्री रामानुजाचार्य प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत की पूर्व पीठिका लोकभाषा तमिल के इन गीतों में विद्यमान हैं। श्रीनाथ मुनि (824-920 ई०) ने नम्मालवार (श्री शठकोपाचार्य) के लुप्त और नष्ट होते हुए तमिल गीतों को वेदपाठ के समान पुनीत अपनाते हुए संगीतबद्ध कराया। उनके समय से ही ये गीत वैष्णव मन्दिरों में इष्टदेव के समक्ष गाए जाने लगे थे। हमारा अनुमान है कि परवर्ती वैष्णवाचार्यों के द्वारा मन्दिरों में जो कीर्तन भक्ति और कीर्तन सेवा का प्रचलन हुआ, उसे नाथमुनि द्वारा प्रचारित तमिल दिव्य प्रबंधम् के भक्तिमय गान से प्रेरणा मिली है। इसका व्यापक प्रचार हम महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, समस्त ब्रजभाषा क्षेत्र, पंजाब (शब्द कीर्तन) उड़ीसा, बंगाल और सुदूर पूर्वांचल असम और मणिपुर तक पाते हैं। कालान्तर में इसमें लोक की रासक (संगीताधृत काव्य) की नृत्य परम्परा और भागवत की रास-परम्परा भी

जुड़ गई, जिसने सगुण कृष्ण भक्ति को एक विशेष आयाम दिया। आज ब्रज की रासलीला न केवल समस्त भारत में एक विशिष्ट आध्यात्मिक आनन्दानुभूति के साथ देखी जाती है, अपितु देशान्तर में भी हमारी अभिव्यक्ति के रूप में प्रेक्षणीय बन गई है। यह तो आपात दृष्टि से ही स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण का यह रास अथ से इति तक संगीत का ही एक विशिष्ट प्रयोग है। किन्तु हम देखते हैं कि रास के विशिष्ट संगीत के अतिरिक्त वैष्णव मन्दिरों में संगीत का नित्य व्यवहार होता है। श्रीवल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय के मन्दिरों में संगीतमय, वाद्य (मृदंग-झांझ आदि) वादनपूर्वक कीर्तन सेवा प्रात: मंगला से शयन पर्यन्त आठों दर्शनों में इस कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय की बहुत बड़ी विशेषता है। मूलत: तेलुगु भाषी श्रीवल्लभाचार्य ने यशोदात्संग लालित बालकृष्ण की उपासना में मानो संगीत की लोरी जोड़कर उसे एक सामान्य मानवीय आयाम प्रदान किया। पुष्टि सम्प्रदाय ने विशेषकर ब्रज गोकुल से लेकर राजस्थान होते हुए पश्चिम समुद्रपर्यन्त गुजरात समेत पश्चिम भारत को एक भावसूत्र में बाँध दिया। उधर महापुरुष शंकरदेव (जन्म 1449) ने अपने उपास्य श्रीकृष्ण को केन्द्र में रखते हुए महापुरुषीय धर्म या नामधर्म के अभिधान से नई अहिंसात्मक, वैष्णव धर्म दृष्टि देकर असम अर्थात् भारत के पूर्वांचल को ब्रजभूमि से जोड़ दिया। शंकरदेव की सर्वोत्कृष्ट गीतिरचना 'कीर्तन घोषा' और कालियदमन, केलिगोपास आदि अंकियानाटों ने संगीत के माध्यम से कृष्णचरित को कोटि कोटिजन तक पहुँचाया और भावैक्य स्थापित किया।

कृष्णार्पित संगीत ने सारे विश्व में ब्रज संस्कृति की एक विशिष्ट पहचान बनाई है। ब्रज के कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में सभी की अपनी संगीत-प्रणाली है। यदि पुष्ट सम्प्रदाय में वह भक्ति संगीत प्राचीन ध्रुपद धमार परक 'हवेली संगीत' के नाम से जाना जाता है और अष्टछाप के सूर, परमानन्द, गोविन्द स्वामी आदि प्रमुखतया संगीत कलाविद् भक्तों ने उसे मातु: और धातु: देकर अपनी वाग्गेयकारता प्रमाणित की है तो संगीत

के महान् आचार्य, रसिक अनन्य नृपति स्वामी हरिदास जी ने उसे अपने परमाराध्य, अनादियुगल श्यामा-श्याम की दिव्य नित्य केलि का अभिन्न अंग बनाया और समाज गायन की विशिष्ट परम्परा डाली। कृष्ण की वंशी के अवतार रूप में प्रतिष्ठित श्री हितहरिवंश जी के राधावल्लभीय सम्प्रदाय में अपनी समाज गायन की प्रणाली है। युगलोपासना के प्रवर्तक श्री निम्बार्काचार्य के सम्प्रदाय में तो भक्तिमय गान और कीर्तन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है और देवर्षि नारद को ही उसका पुरोधा माना जाता है। वर्तमान काल में निम्बार्कीय मन्दिरों में ब्रजभाषा के पदों से समाजगायन की पद्धति है, किन्तु प्राचीनकाल में महाकवि विजयदेव के मधुराभक्तिमय विश्वविश्रुत संगीतबद्ध काव्य 'गीतगोविन्द' तथा अन्य संस्कृत स्तोत्रों का गायन होता था—निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्री हरिव्यास देवाचार्य ने इस तथ्य की ओर लक्ष्य किया है—

ततः प्रभुदिततैर्भक्तैस्तालवीणादि भूषितैः।
कारयेद् गीतनृत्यादि कुर्यादानन्दयन् स्वयम्।।
आदावंते कथायान्तु कीर्तयेयुः सदाहरिम्।
संस्कृतैर्भाषाबद्धैश्च पद्यै रम्यै रसायनैः।।[3]

सम्प्रदाय के शत-सहस्र हस्तलिखित पद-गीति संग्रह उत्सवों और बधाइयों के संगीतमय रूप में उपलब्ध हैं और 16वीं शती से अखण्ड समाजगान परम्परा को सिद्ध करते हैं।

राधाकृष्ण मिलित तनु प्रेमावतार महाप्रभु कृष्ण चैतन्य देव ने तो संगीतमय कृष्णनाम कीर्तन को ब्रजभूमि से वंगभूमि की एकतानता का सेतु ही बना दिया। आज तो भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद प्रवर्तित कृष्ण भावनामृत संघ से विश्वभर में कृष्ण नाम संकीर्तन का उद्घोष हो रहा है। श्री चैतन्य से श्रीमद्भागवत के इस वचन से प्रेरणा ग्रहण की थी—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्तिह्येको महानगुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगःपरंव्रजेत॥
(श्रीमद्भा० 1003/51)

कृष्णभक्ति के आकर ग्रन्थों में श्रीचैतन्य मतानुयायी श्रीरूप गोस्वामी के हरिभक्ति सिन्धु में साधनाभक्ति के 64 अंगों में गीत, संकीर्तन और स्तव पाठ संगीताधृत ही हैं।[1] संकीर्तन में नाम, कीर्तन, लीला कीर्तन और गुणकीर्तन संगीतपूर्वक समाविष्ट हैं–

नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्तनम्।[2]

श्रीकृष्ण के नाम, लीला और गुणादि का उच्च स्वर में घोष ही कीर्तन है। विष्णु धर्म, श्रीमद्भागवतादि में इसके प्रभूत उदाहरण विद्यमान हैं।[3] सर्वत: निर्भयता की प्राप्ति के लिए हरिनाम संकीर्तन को भागवतकार ने अमोघ और अन्तिम साधन बताया है–

एततिन्नर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृख निर्णोतं हरेर्नाभानुकीर्तम्।।2.1.1।।

इस प्रकार कृष्ण के संगीतपूर्वक नाम संकीर्तन का संस्कार भारतीय मानस में बहुत पहले से पैदा हुआ है, जिसकी अखण्ड परम्परा कश्मीर से कन्याकुमारी और असम से सौराष्ट्र तक आज भी विविध रूपों में विद्यमान है।

जैसा पहले संकेतित है, कृष्ण भारतीय मानस में संगीत के अधिदेवता के रूप में सहस्राब्दियों से प्रतिष्ठित हैं। उनकी संगीत-प्रतिभा अप्रतिम है। संगीत पहले नाद रूप में शरीर या पिण्ड में ही प्रकाशित होता है। आत्मा जब विवक्षमाण (बोलने की इच्छा वाला) होता है, तब वह मन को प्रेरित करता है। मन देहस्थ अग्नि को ताडित करता है, अग्नि देहस्थ वायु को प्रेरित करता है, ब्रह्मग्रंथिष्यित वायु अग्नि-प्रेरित होकर ऊर्ध्वगमन करती है और आघात से नाभि, हृदय, कण्ठ, मूर्धा और मुख में होती हुई नाद या ध्वनि प्रकट करती है।[1] इसी ध्वनि या नाद को प्रतिभा और अभ्यास द्वारा कमाकार कण्ठ या वंशी आदि द्वारा संगीत के रूप में अभिव्यक्त कर जड़-चेतन प्रभावित करता है। कृष्ण की वेणुवादन दक्षता मूलत: उनकी हृदयस्थ संगीत रचना दक्षता ही है। प्राचीन साहित्य में कृष्ण के मौखिक गान की चर्चा भी है[2] सूर ने भी कृष्ण के मौखिक

गान का उल्लेख किया है–

गावत स्याम स्यामा संग।
सुधरगति नागरि अलापति, सुर पियसंग।।सूरसा. 170।।

किन्तु श्रीमद्भागवत में वहुधा वेणुवादन का ही उल्लेख है। अपने चतुर्दिक निसर्ग प्राप्त आरण्यक वंश (वांस) वृक्षों से वंशवाय या वंशी का निर्माण कर कृष्ण उससे सर्वभूत मनोहर संगीत की सृष्टि करते हैं। कृष्ण का मुरली से यह अविच्छेद सम्बन्ध समूचे भारतीय मानस में गहरे पैठा हुआ है। कृष्ण और उनके वेणु या मुरली के प्रभाव को लेकर सारे भारतीय साहित्य में विपुल सर्जनात्मकता और एकात्मकता के दर्शन होते हैं। कश्मीरी भाषा के रससिद्ध कवि स्वामी परमानन्द (19वीं शती) कृष्ण की मुरली-ध्वनि का ध्यान आते ही गोपीभाव से भावित हो जाते हैं–

राधाचि चीतचति पाद आयिवुछानि,
नारद आयि मुरली वो जानो।
X X
छोपारि फोरि कोनिंछसिलबान
मुरली आछ दूरि बोजाबो।[1]

(राधा आदि सब गोपियाँ कृष्ण के चरण-चिह्न को देखने लगीं।) जिधर से मुरली का निनाद आ रहा था, उधर दौड़ जाती थीं, किन्तु उस दूरागत वंशीरव को नहीं पा सकीं।

धुर दक्षिण में केरल के भक्त कवि सम्राट चेरूश्शेरि अपनी प्रख्यात 'कृष्णगाथा' में कहते हैं कि कृष्ण के मधुर वेणुनाद से आकृष्ट मछलियाँ तैरना भूलकर पूँछों से चलचल कृष्ण के समीप पहुँच जाती हैं। तमिल दिव्य प्रबन्धम् में जिनकी गीतियाँ सर्वप्रथम आती हैं, वे श्री पेरियालवार (विष्णुचित्त-7वीं शती) कृष्ण के वेणुवादन प्रभाव से विविध वर्ण जाति के पक्षियों का एक पर एक जमाव होना और एक पर्वताकार महारण्य निर्मित होना बताते हैं। आधुनिक युग के राष्ट्रीय महाकवि सुब्रह्मण्य

भारती ने कृष्ण के वंशीवादन के प्रभाव से गोपियों का मुँहबाए रह जाना और फिर कृष्ण का उनके मुँह में चींटों को डाल देना जैसी विचित्र क्ष्वेलना (क्रीड़ा, दिल्लगी) की कल्पना की है। बंगला की प्रख्यात वैष्णव पदावली के स्वनामधन्य कवि भक्त-गायक चण्डीदास ने गाया है—

राधार की होइलो अन्तरे व्यथा।
वशिया बिरले थाकोए एकले,
ना शुने काहारे कथा। घररे बहिरे दण्डे शतबारे।
तिलेतिले अइशे जाइ बाशीर शुरु शुने बार बार।।

इन्हीं बहुचण्डीदास के दसखण्ड विस्तृत श्रीकृष्ण कीर्तन के वंशीखण्ड के परिचय में कहा गया है, वंशी खण्डे, कृष्ण अपूर्व एक वंशी निर्माण करेन। बाशिर रन्ध्रेरन्ध्रे प्राणस्पर्शी शुर ध्वनित हय। राधार प्राण के करे आलोडित ऐसे दृश्य बंगला को ब्रजबुलि वैष्णव गीतियों का पदावली में अनेकश: प्राप्त होते हैं। पश्चिम भारत में नरसी मेहता (15वीं शती) कृष्णभावाविष्ट होकर स्वयं को 'नरसिंह गोपी' ही कहने लगते हैं और कृष्ण के वेणुगीत से आकृष्ट हो दुर्जरगेह शृंखला को तोड़ फेंकते हैं। कृष्ण प्रमोन्मत्ता मीरा पर तो कृष्ण की वंशी का मादन विश्वविश्रुत है ही। भारतीय अध्यात्म की काव्य और संगीत से परिपुष्ट मसृण अभिव्यक्ति के आलम्बन रूप में कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती है।[1] समस्त भारतीय वाङ्मय के एक विशाल भाग का प्राण स्पन्दन कृष्ण के कंठ संगीत और वेणु की स्वरालप्ति तथा लयताल में सहस्राब्दियों से अजस्र चल रहा है। कृष्ण की यह एकतान संगीत-साधना कवि, भक्त, गायक शिखामणि सूर की दृष्टि में उस कोटि को पहुँच चुकी है, जहाँ स्वयं गायक गीत और वादक वाद्य के वशीभूत हो जाता है—

बांस-बंस-बंसीबस सबै जगत-स्वामी।
जाकैं बस सुर नर मुनि, ब्रह्मादिक गुन गुनि-गुनि,

वासर निसि कथत, निगम, नेति-नेति बानी।
जाकी महिमा अपार, वि न लहत वार-पर,
करता संसार-सार ब्रह्मरूप ये हैं।
सूर नन्द सुवन स्याम, जे कहियत अनंत नाम
अति हीं आधीन बस्य मुरली के ते हैं।।

सूरसागर–ना.प्र.सं.पद सं. 1862

कृष्ण और संगीत के इस सहज और अविच्छेय सम्बन्ध का संस्कार भारतीय जनमानस में कश्मीर से कन्याकुमारी और अरुणाचल से सौराष्ट्र तक आज भी अक्षुण्य है। अपनी असमानोर्ध्व रूप श्री और मुरली के कल–कूजित से त्रैलोक्य के हृदय को आकर्षित और विस्मित करना कृष्ण के असाधारण गुणचतुष्क में लीला और प्रेम के कारण प्रियाधिक्य के साथ कृष्णभक्ति साहित्य में सुप्रतिष्ठित है।[2]

टिप्पणी

1. श्री जीव गोस्वामी के अनुसार हल्लोसक और रासक्रीड़ा एक ही हैं–

नर्तकी भिरनेकाभिर्मण्डले विचरिष्णुभिः।
यत्रैको नृत्यति नटस्तद् वै हल्लीसकं विदुः।।

तथा– **युदपदनेकरमणी कदम्ब संवलितं रासारख्यं लास्यम्।**

(श्री जीव गोस्वामी कृत बृहत्क्रमसंदर्भ)

2. द्रष्टव्य–अभिनवभारती, शोध पत्रिका, अं. 6 वर्ष 1968, अं. 7 वर्ष 1969 अलीगढ़, मु०वि०वि० में लेखक के शोधपत्र–'श्रीमद्भागवती रासक्रीड़ा के स्रोत' जिनमें हरिवंश पुराण और विष्णुपुराण में क्रमशः वर्णित कृष्ण–व्रजांगना क्रीड़ाओं की समीक्षा की है।

---

1. श्रीमद्भागवत में कहीं भी वंशी या मुरली शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ सर्वत्र पुल्लिंग वेणु शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु उस वेणु के सारे कार्य स्त्रियोचित सापत्न्य भाव लिए हुए हैं–

गोप्यः किमाचरदं कुशलं स्म वेणुः
दामोदराधर सुधामपि गोपिकानाम्।

भुंक्ते स्वयं यदवशिष्ट रसं ह्रदिन्यो,
ह्रष्यत्तवचोश्रुमुमुचुस्तरवो यथार्याः।। (श्रीमद्भाग० 10.21.9)

(गोपियाँ परस्पर बातचीत में वेणु के प्रति अपनी सपत्न्य ईर्ष्या व्यक्त करती हैं, हे गोपियो, इस वेणु ने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है कि यह हमारा भोग्य कृष्ण का अधरामृत स्वयं पीकर बचा-खुचा छोड़ देती है। क्योंकि जैसे श्रेष्ठजन आनन्दित होते हैं, वैसे ही नदियाँ अपने कमलों के मिष से रोमांच व्यक्त कर रही हैं और वे बाँस के वृक्ष मदधारा के रूप में आनन्द के आँसू बहा रहे हैं।) इसीलिए हम देखते हैं कि परवर्ती हिन्दी साहित्य में वेणु शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है और उसके स्थानापन्न वंशी और मुरली स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है। ब्रजभाषा कृष्ण काव्य में तो बंसी, बाँसुरी, मुरली, मुरलिया, बंसरिया आदि स्त्रीलिंग शब्दों का ही प्रधानतया प्रयोग हुआ है। वेणु का लोकभाषा रूप बेनु भी स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है।

2. रुन्धान्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरूम।
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन्वेधसम्।।
औत्सुक्याबलिभिर्वालं चटुतयन् भोगोन्द्रमाघूर्णवन्।
भिन्दन्नयडकटेहिभित्ति भमितोबभ्राम वंशीध्वनिः।।

(विदग्ध माधव)

(संगीता रत्नाकर की कल्लिनाथकृत 'सुधाकर' टीका (1.21)।

2. गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः।
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवंशगतः।।
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवाः।
अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्यकिकागतः।
रुदन्गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते।।
वनेचरस्तृणाहारशिचत्रं मृगशिशुः पशुः।
लब्धो लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम्।।
तस्य गीतस्य महात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
धर्मार्थकाममोक्षाणाभिदमेवैकसाधनम्।।

(सं० रत्ना० 1.25-30)

---

1. गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते। (सं० रत्नाः 1.1.21)

2. न नादेन विना गीतं ननादेन विना स्वराः।
न नादेन रिता नृत्तं तस्मान्नादात्मकं जगत्।।
(बृहद्देशी से उद्धृत स.र.टी. 1.2)

3. **गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्तन्या प्रशस्यते।**
तद्द्वयानुमर्त नृत्तं नादाधीन मतस्त्रयम्।। (सं०रत्ना० 1.2)

4. द्रष्टव्य- 1.1.25-30 संगीतरत्नाकर (शाङ्र्गदेव) सम्पादक पं० सं० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री, खण्ड 1, अध्याय 1।

1. रंजक : स्वसंदर्भी गीतमित्यभिधीयते। XX क्वचिद् गीत मात्रे संगीत शब्द प्रयोगस्त्ववयवेअवयव्युपचारात्खण्डपटे पटव्यवहारवत्।।2।। अर्थात् मनोरंजक स्वर विन्यास गीत कहलाता है। कहीं-कहीं गीत मात्र के लिए जो 'संगीत' शब्द का प्रयोग किया जाता है वह अवयव में अवयवी के उल्लेख की भाँति है, यथा कपड़े के टुकड़े के लिए भी 'कपड़ा' शब्द प्रयुक्त होता है।

श्रीकृष्ण भावाधारित रासलीला

❀ डॉ० वसन्त जामदग्नि

भारतीय संस्कृति के मूलाधार श्रीराम और श्रीकृष्ण हैं। भारतीय साहित्य हो, भारतीय संगीत हो अथवा भारतीय कला का कोई प्रकार– सभी रूपों में इन्हीं दिव्य विभूतियों के दर्शन सहज ही प्राप्त हो जायेंगे। भारत अपने समूचे स्वरूप में एक है, भारतीय जन-जीवन का प्रमुख स्वर है, भारतीय मनीषा के समक्ष यही एक, सदैव अन्वेषण का आधार रहा है। भारत की ऐसी पहचान भला क्यों कर बनी? आइये, यदि स्पष्टीकरण करना है तो हमें पूछना होगा दक्षिण के आचार्यों से—आलवार सन्तों से। हमें जानना होगा महाराष्ट्र के सन्तों से। हमें बतायेंगे बंगाल के बाउल सम्प्रदाय के प्रेमीजन। हमें बतायेंगे गुजरात के नरसी, राजस्थान की मीरा। पंजाब के गुरुजन भी इस तथ्य का उद्‌घाटन भली प्रकार कर देंगे। शैव-साधना की पीठस्थली-काश्मीर भी अपनी प्राकृतिक सुषमा में इसी तत्त्व की सुगन्ध को फैला रही है। महाप्रभु चैतन्य ने इसी भावभूमि पर बंगाल और उड़ीसा को राम-कृष्ण के संकीर्तन में रंगा था। सुदूर केरल से आदि शंकराचार्य ने सम्पूर्ण भारत को 'भज गोविन्दम्' के रँग में रंगित करके इसी धरती पर अपनी ध्वजा फहरायी थी। कहने का आशय यह है कि आसेतु हिमालय से सुदूर कन्याकुमारी तक निखिल भारत के मूल में एक ही स्वर है और एक ही है इसकी पहचान—अब चाहे वह इसकी कलाकृति हो, साहित्य कृति हो, संगीतकृति हो अथवा कोई भाव-कृति—सबका स्वरूप एक ही है—बस एक ही है। श्रीकृष्ण की रासलीला का अवलोकन करते हुए यह तथ्य और भी स्पष्ट रूप से उद्‌घाटित होता है।

अपने स्वरूप में रास एक संगीत प्रधान रचना है। नृत्य, वाद्य और गीत इसके प्राण हैं। वैदिक काल की कोई ग्रामगेय परम्परा हो अथवा आरण्यगान परम्परा-महाकाव्य काल की सूत-चारण और मागधों के द्वारा कलाओं के संगीतात्मक प्रस्तुतीकरण की परम्परा हो अथवा जैन-बौद्ध धर्म की कोई आख्यानक परम्परा नृत्य के स्वरूप का दर्शन हमें सभी जगह होता है। यह नृत्य क्या है—भारतीय कुछेक नृत्य शास्त्रीय विवेचनाओं के आलोक में जरा इस तथ्य का अन्वेषण करें। नृत्य के सम्बन्ध में एक शब्द आता है—'हलन' यानी गतिशीलता अंगों का संचालन, जिसमें सम्पन्न हो—चरण जहाँ थिरकने लगें—वह हल्लीशक। मास के बाद चरित रंग वाण के हर्षचरित में यह शब्द इसी अर्थ को लक्षित करता है। अभिनव गुप्त ने नारयादि से विलक्षण हल्लीसक को इस प्रकार शब्दायित किया है—

मंडलेन तु यन्नृत्यं हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेतास्याद् गोपस्त्रीणां यथा हरिः।।

हल्लीषक् अथवा हल्लीसक शब्द को लेकर इसी प्रकार की भावना सरस्वती कण्ठाभरण के रचयिता भोज ने भी व्यक्त की है। इस आधार पर हल्लीसक की नृत्यपरकता मण्डलात्मक है एवं इस नृत्य में एक पुरुष श्रीकृष्ण के साथ अनेक स्त्रियों के भाग लेने की बात स्पष्ट अवश्य होती है। भोज के संदर्भ से यह भी सिद्ध हो जाता है कि—"तदिदं हल्लीसकमेव तालबन्ध-विशेषयुक्तं रासएवंत्युच्यते" अर्थात् यही हल्लीसक तालबन्ध विशेष से युक्त होकर रस कहलाया है। भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या में इसे कोहल आदि प्राचीनों के साक्ष्य पर तोरक, सट्टक आदि उपरूपकों की श्रेणी में भी परिगणित कर लिया और इसके अनेक रूप यथा तालदासक, दण्डरासक एवं मंडलरासक आदि भी प्रचार में आ गये। यहाँ एक तथ्य विशेष ध्यातव्य है कि कतिपय विद्वानों द्वारा भ्रान्तिवश भरतमुनि प्रयुक्त रासक की चर्चा होती रही है परन्तु मेरा विनम्र निवेदन है कि भरत के नाम से जिन तीन रासकों—

तालरासक, दण्डरासक और मण्डलराजक की चर्चा हुई बताई गई है, उसका उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में न होकर राजशेखर की कर्पूरमंजरी के आधार पर शारदातनय ने अपने 'भाव प्रकाश' में किया है। भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र के मूलपाठ में रासक शब्द कहीं नहीं उपलब्ध होता। सुधानन्द प्रकाश नामक संस्कृत-तमिल संस्करण में विचित्र दण्डों को लेकर नर्तकियों द्वारा जिस दण्डरासक की परिभाषा की गई है, उसे पार्श्वदेव ने अपने 'संगीत समय सार' ग्रन्थ में युग्मों में प्रवेश करती नर्तकियों द्वारा सम्पन्न ताल के अनुरूप विविध स्थानों को और चारियों से युक्त अनेक नृत्य मुद्राओं वाला नृत्य बतलाया है। उपरूपक के रूप में रासक की नृत्यपरकता 'दशरूपक' की 'अवलोकगीका' से भी सम्पुष्ट होती है। आचार्य धनिक रासक को भाणवत् कहकर सप्त नृत्य भेदान्तर्गत परिगणित करते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहना अनुचित न होगा कि अपने प्रारम्भिक स्वरूप में हल्लीसक और रास समूह-नृत्य ही रहे हैं। रास का सम्बन्ध श्रीकृष्ण और गोपियों से रहा, जबकि हल्लीसक में एक नायक और अनेक नायिकायें रहीं। रास में युग्म होते हैं, अत: श्रीकृष्ण ही अपने अनेक रूप धारण कर प्रत्येक गोपी के साथ युग्म का निर्माण करते हैं। लक्षण ग्रन्थों के अनुसार इन युग्मों की परिकल्पना ठप तक पहुँची है। भोज के 'शृंगार प्रकाश', रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण' एवं शारदातनय के 'भाव प्रकाश' में रासक के सम्बन्ध में कतिपय स्वरूपगत स्थापनायें भी हुई हैं। इनके अनुसार रासक एक ऐसी नृत्य-रचना है जिसमें श्रीकृष्ण अनेक नायिकाओं के साथ युग्म निर्माण कर विविध पिण्डियों के माध्यम से अनेकविध हस्तबन्ध की मुद्राओं को प्रदर्शित करते हैं। प्रिय की चेष्टाओं का अनुकरण करते हुए कामनियों द्वारा नृत्य गीत के साथ उसे प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार आरम्भिक नृत्यरूप हल्लीसक अपने परिधान में रासक अथवा रास बनकर समस्त नाट्यविधा को समेट लेता परिलक्षित होता है। इस स्थिति तक आते-आते गोप

कन्यकाओं की यह रास-क्रीड़ा नाटकीय तत्त्वों-विषय का अनुकरण, विषय का अनुकथन और विषय की अनुभूति के समावेश से एक समर्थ नाट्यविधा के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। परन्तु इसे नाटक शब्द से सम्बोधित करना संगत न होगा क्योंकि वैष्णव जगत में मंचित रास की यह विधा न तो किसी व्यक्ति विशेष का चरित्र है और न किसी जागतिक घटना की अनुकरणात्मक प्रस्तुति-वरन् यह तो ''एतेचांशकलापुंसःकृष्णस्तु भगवानस्वयं'' की लीला है। प्रश्न उठता है—यह लीला क्या है?

लीला का अर्थ है—रहस्यपूर्ण व्यापार अथवा फल निरपेक्ष प्रवृत्ति। परमात्मा का रहस्यपूर्ण व्यापार ही लीला है। अपने लीलामय स्वभाव के कारण ही वह सृष्टि-रचना में संलग्न होता है। उसकी यह लीला प्रयोजन रहित है। इसी कारण परमात्मा के क्रिया-कलाप को 'क्रीड़ा' से ऊपर 'लीला' शब्द से जाना गया है। क्रीड़ा आत्मसुखरूपा है जबकि परमात्मा को आत्मसुख अभीष्ट नहीं। वह तो स्वयं पूर्ण है। उसकी लीला अहैतुकी है। यह लीला उसका स्वभाव मात्र है, अन्य कुछ नहीं। यह कृति तो है परन्तु बाह्य कार्य की उत्पत्ति से सर्वथा रहित है। यदि कोई कार्य होता परिलक्षित होता है तो उसमें कर्त्ता का कोई उद्देश्य नहीं होता। यह एक ऐसी विलक्षण कृति है जिसकी अभिव्यक्ति अन्तःकरण में पूर्ण आनन्द का बोध कराती है। यही भगवान की लीला है। वैष्णव आचार्यों की सम्मति में यही रसस्वरूप श्रीकृष्ण की रासलीला है। रसो वै सः की उपनिषदीय भाषा में जिस ब्रह्म का अभिधान किया गया है वह ब्रह्म श्रीकृष्ण से इतर कुछ भी नहीं है। यह रस ही अपनी सर्वरसमयता को लेकर रास है। एक ही रस अनेक रूपों में अनन्त रस का यहाँ समास्वादन करता है। 'रसानाम् समूहो रासः' में श्रीकृष्ण की यही सर्वरसमयता परिलक्षित होती है। एक ही रस यहाँ रस-समूह होकर आस्वाद, आस्वादक, लीला, धाय और विभिन्न आलम्बन-उपदीपनों के रूप में क्रीड़ा करता है और यही है रासेश्वर श्रीकृष्ण की रासलीला जो अपने स्वरूप में सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है।

रास की अध्यात्मपरक एवं उपासनापरक परिभाषायें भी अनेक प्रकार से हुई हैं। विभिन्न विद्वानों एवं साधकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से रासलीला के प्रतीकात्मक अर्थ भी किये हैं। श्रीकृष्ण को वेद-पुरुष एवं ब्रजगोपियों को उनकी ऋचाओं के रूप में स्वीकारते हुए रासलीला को वेद-तत्त्व के विस्तार रूप में देखा-परखा गया। तत्पदार्थस्वरूप श्रीकृष्ण में एवं पदार्थरूपिणी गोपियों के रमण को लेकर रासलीला की ब्रह्म विद्यापरक व्याख्यायें हुईं। योगस्वरूपा परिभाषा के अन्तर्गत भगवान की वंशी धुन को अनाहतनाद मानते हुए मस्तिष्क के सहस्र दल-कमल रूप वृन्दावन में ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा के रास को समाहित किये जाने का प्रयास भी हुआ। कहने का आशय यह है कि रासलीला के राजयोगपरक अर्थ हुए हैं, प्रेमयोग स्वरूपा भी उसे बताया है, ज्योतिष स्वरूपा एवं प्रकृति-पुरुषरूपा भी उसे माना गया। वैज्ञानिक दृष्टि से अणु-परमाणु परिमूरित सौर-जगत की चिन्तन गतिशीलता भी रासलीला के अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त करती बताई गई है। श्रीयन्त्र की मंडलाकारिता में एवं शाक्तों श्रीवक्र पूजा में रास को किसी प्रकार बैठाने का प्रयास भी रहा है परन्तु विचारणीय यह है कि वैष्णवीय दृष्टि रासलीला के माध्यम से किसी प्राकृत अथवा लौकिक तत्त्व का साक्षात्कार नहीं करती। यहाँ श्रीकृष्ण साधारण जीव नहीं, वे अप्राकृत दिव्य स्वरूप हैं। यहाँ की प्रकृति भी चिन्मय है। गोपियाँ भी परम रसमयी एवं सच्चिदानन्दमयी हैं—स्व-पर की जागतिक सीमा से परे है। यहाँ नित्यधाम-श्रीवृन्दावन भी अप्राकृत है। जो कुछ यहाँ उचित प्रतीत होता है, वह केवल चिद्विलात अथवा भगवान की लीला की सिद्धि के लिए ही है। इसी कारण वैष्णवों के लिये यह रासलीला न कोई रूपक है, न प्रतीक परक प्रसंग। यह तो अलौकिक क्षेत्र में घटित होने वाला प्रेम का स्वरूप मात्र है जिसका वास्तविक आस्वाद भगवद्कृपा से जीव की निर्मलीकृत चित्रवृत्ति के प्रादुर्भाव होने से ही सम्भव होता है। शृंगारादि लौकिक रसों के आस्वादन में जहाँ जड़ोन्मुखी विभावादि के विभावन व्यापार द्वारा रस का आस्वादन

होता है वहाँ रासरज में श्रीकृष्ण रति शरीर स्थानीय जड़ोन्मुखी न होकर परमतत्त्व श्रीकृष्ण स्थानीय है जो जड़ोन्मुखी वृत्तियों के चित्त में स्वयं ढल जाती हैं और शुद्ध सत्त्व विशेषरूपा रहती हुई रासप्रेक्षक की मनोवृत्तियों से तादात्म्य स्थापित करती हुई उसके लिये आस्वादनीय बनती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रासलीला का मंचन अपनी आत्मा में जहाँ सम्पूर्ण भगवत्ता को लेकर चला है, वहाँ उसका शरीर लौकिकता से असम्पृक्त नहीं है। रास लीलाओं का संगीत भी इसी प्रकार दिव्य संगीत है परन्तु यह संगीत लोक के लिये है, उसका प्रेक्षक साधारण शरीरधारी जीव है। अत: यह दिव्य संगीत स्थान विशेष की लयबद्धता, समयानुरूपता, स्वत्योजन, भावानुकूलता, लोक-धुनों की सरसता, आडम्बरहीनता एवं लोकभाषा की मधुरता एवं सरसता से भी अभिमण्डित हुआ। रासलीला ने अपने स्वरूप की प्रतिष्ठा में दूर-पास की अनेक लौकिक परम्पराओं को आत्मसात् किया। मध्ययुगीन संस्कृत नाटकों में द्विविध भाषा प्रयोग की परम्परा रासलीला के मंच पर ब्रजभाषा गद्य एवं पद्य रूप में देखी जा सकती है। सुदूर उत्कल के महाराणा कपिलदेव ने नाटकों में संस्कृत गद्य और हिन्दी पद्य (गीतों) का प्रयोग किया था। महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्र में भी देशीभाषा के गीत उपलब्ध हैं। यह जब आदान-प्रदान कला के क्षेत्र में भारत की एकरूपता का पोषक सिद्ध होता है।

संगीत के माध्यम से नाटक की कथावस्तु का अग्रसरन की भारतीयता की स्वरूपगत विशेषता रही है। अलाउद्दीन खिलजी के भय से आक्रान्त महाराज हरिसिंहदेव ने नेपाल में [illegible]च्य स्थापना की और उनकी छत्रछाया में राग-रागिनियों में निबद्ध मिथिला के नाट्य-प्रबन्ध नेपाल में भी जा पहुँचे। असम के अंकिया नाटों का प्रारूप तो मौखिक रूप से चले आ रहे ब्रज की रासलीला के प्रबन्धों का ही प्रतिरूप माना जा सकता है। इस विधा में पूर्वरंग नेपाली से प्रारम्भ होता है, इसे ब्रज के रास मंच की धमार कहना अनुपयुक्त न होगा। ब्रजमण्डल की रासलीलाओं

में जो नित्यरास का क्रम है थोड़े-बहुत परिवर्तन से उसी का दर्शन अंकियानाट के पूर्वरंग की योजना प्रतीत होती है जिसकी परिसमाप्ति पर वादकों के चक्राकार नृत्य विशेष अवलोकनीय होते हैं। साथ ही विविध हस्तमुद्राओं के प्रदर्शन आदि की परम्परा अपने स्वरूप में रास शैली के नित्यरास के नैकट्य को बोध कराती है। अपने साहित्यिक वैभव, अलंकरण सज्जा एवं रसास्वादन प्रक्रिया में भी ब्रज के रासमंच की समान भावभूमि यहाँ परिलक्षित होती है।

''यदि तुम ऐसे ही शक्तिशाली ब्रह्म हो, त्रिभुवन पति राम हो, जल-थल में और जीवों के घट में बसने वाले अन्तर्यामी हो, तो घर-घर में चोरी क्यों करते फिरते हो। तनिक दही के लिये तुमको रस्सी से बँधना पड़ा था तब याद है—हमने ही तुम्हारे बन्धन खोले थे और अब तुम इतरा-इतराकर बोल रहे हो।''

ब्रह्म का ब्रह्मत्व यहाँ गोपियों के प्रेम के आगे मलिन पड़ जाता है। उनकी 'छछिया भर छाछ' पर नाचने लगता है। माता यशोदा की छड़ी के आगे काँपने लगता है—श्रीकृष्ण की ऐसी ही है प्रेमवश्यता जो इन रासलीलाओं के माध्यम से प्रकाश में ही नहीं आई वरन् उसमें दूर-पास की अनेक भारतीय नाट्य परम्पराओं को प्रभावित करके प्रबन्ध के क्षेत्र में एकरूपता प्रदान की है।

रासलीलाओं के श्रीकृष्ण बालकृष्ण हैं, इनके बाल-स्वभाव का चित्रण सहज मानवीय धरा पर हुआ है। अत: वह देश काल निरूपेक्ष सबक अपना है। इनकी दामोदर लीला में ''मैया मेरी कबहिं बढ़ैगी चोटी'', कालीदह लीला में ''खेलन मैं को काकौं गुसैया'', उराहनो लीला में, ''मैं नहिं माखन खायौ'' अथवा परस्पर अनुराग लीला में ''बूझत श्याम कौन तू गौरी'' के माध्यम से राधाकृष्ण का पारस्परिक सम्वाद भला किसका अपना सम्वाद होगा। प्रस्तुत प्रसंग में राधाकृष्ण का परस्पर वेश विपर्यय की भावभूमि पर विकासमान लीला प्रसंग उद्धृत करना चाहूँगा—

कृष्णवेश की अभिलाषिणी राधा अपने प्यारे की मुरली को बजाने का उपक्रम करती है। लीला विस्तार में वे कृष्ण से राधावेश में मान करने के लिए अभ्यर्चना करती है परन्तु कृष्ण के सामने कैसी स्वाभाविक समस्या है—जरा ध्यान दीजिए—वे कहते हैं—

प्यारी जू मैं कैसें कि मान रचाऊँ
कैसे कि ओढ़िलऊँ सिर चूँदरि
कैसे कि कटि लचकाऊँ

और यदि शरीर के ये धर्म हो भी जाय तब मन से यह सब कर सकूँगा क्योंकि अब तो मेरी आराध्या हो। उस स्थिति में मैं—

कैसे कि भौंह तरेरों तुम पै
कैसे कि विनय कराऊँ

और मानो तुम्हारी प्रसन्नता के लिये यह सब करूँ भी तो फिर—

सूर स्याम यह भेष धरूँ तौ
कंचुकि फल कहाँ पाऊँ

सचमुच ये राधाकृष्ण कहीं बाहर के राधाकृष्ण नहीं हैं जन-जन में घुले-मिले राधाकृष्ण हैं जिनसे देश-विदेश को सभी परम्परायें सम्पृक्त रही हैं। समान भावभूमि पर पल्लवित ये लीला प्रसंग मानव को परस्पर क्यों न बाँध कर रखेंगे? और वही इन रासलीलाओं के माध्यम से हुआ भी है। द्वारिका में ऊषोद्धारी लात्य की शिक्षा का दिया जाना, मणिपुर से वसन्तरास का व्रजरास से प्रभावित होना, कत्थक का नटवदी नृत्य कहा जाना इसी प्रक्रिया का सुभाव माना जायेगा जिससे साहित्य संगीत रंग कला के क्षेत्र में भारत की भावनात्मक एकता की आज भी सम्हाले रखा है। भारत के सभी क्षेत्रों में कृष्ण एक ही हैं, उनकी रास एक ही है। हाँ स्थान-भेद से उनमें स्थानीय रंग अवश्य चढ़ा है। अन्यथा तमिल भाषा का 'मायोन' विष्णुवाची शब्द 'कन्नन' अर्थात् कृष्ण बनकर राधा क्या 'नथिन्नै' से अपनी प्रेमलीला क्यों कर रचता आयर अर्थात् यादव यानी अभीरों में रहकर गोचारण क्यों कर करता। वह वनदेश का अधिदेवता है

ग्वालों का अधिपति है, रंग से श्याम है, 'कुप्पल' यानी बाँसुरी वह बजाता है और परस्पर हस्तबन्धन के साथ ग्वालियों के बीच 'कुरब्रैकुमु' नृत्य का सम्पादन भी करता है। इतना ही नहीं रास के कृष्ण ने बौद्ध और जैन परम्पराओं को भी अपनी संगीत प्रधान नाटकों की शैली बोधिसत्व की जीवन-गाथा को प्रकाशित करने के लिए दी है। सौराष्ट्र में विविध रासमालाओं का संकलन एवं राजस्थान में रासक काव्यों की परम्परा इस विद्या का आवास्तर अवदान होगा। रास़मंच पर प्रचलित लघुगीतों के आधार पर निर्मित रासक छन्दोग्य उन्हीं की धुन पर विरचित रासकों का गेय रूप इसी एकत्व के आधार पर विराजमान हुआ है, ऐसा अनुमेय होता है। दक्षिण के तंजोर राज्य में वंशी विलास रास अपने भाषास्वरूप में ब्रज है जबकि उसकी लिपि तेलुगु है। पंजाब एवं हिमाचल की धरती पर भी जो काव्य धारायें विकासमान हुई हैं। इसी रासेश्वर श्रीकृष्ण के लीलाचरित से पृथक् नहीं मानी जा सकती। गुरुगोविन्द सिंह जैसे गुरुओं के रास ग्रन्थ इसके प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। रास नृत्य का यात्रा नाटकों में सम्मिलित होने का भी रोचक इतिहास है। महमूद गजनवी और शहाबुद्दीन गौरी आदि के आक्रमण से जब ब्रज के मन्दिर धराशायी हुए, मूर्तियाँ खण्डित हुईं इन्हीं दिनों उत्कल के राजा अनंग भीमदेव द्वितीय ने गोदावरी में हुगली तक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। 1205 में जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण हुआ। उल्लास में यात्रा का आह्वान और प्रकट हुआ नृत्य संगीत एवं नाट्याभिनय का समुल्लास जो ब्रज क्षेत्र के रूपरंग से बहुत दूर न था। जयदेव की कोकिल कण्ठी वाणी एवं आकर्षक नृत्य-नाट्य की ब्रज परम्परा। इस प्रकार जगन्नाथ जी की यात्रा में सहज ही प्रवेश पा गई।

वस्तुतः आदान-प्रदान का यह क्रम भारत की अपनी विशेषता है। ब्रज की भूमि इस दृष्टि से अपना महत्त्व रखती है। त्रिभुवन पति को जन्म देने एवं उसे पालपोसकर लोकहित के लिये बड़ा करने का गौरव इसी पुण्य धरा को है। भक्ति आचार्यों की दृष्टि में यह चिन्मय तत्त्व है।

भारत ही नहीं ब्रज की वंशी का मादक स्वर आज विदेशों में भी ससम्मान गुंजरित हो रहा है। साहित्य हो, संगीत हो, स्थापत्य हो अथवा कला हो सभी में ब्रज सदा प्रेरणा का स्रोता रहा है। भारत में ऐसा कोई प्रदेश नहीं जहाँ ब्रजवाणी का स्वर सम्मोहन का कारण न बना है। भारत माँ के प्रदेश विशेष के निवासी असंख्य सपूतों ने ब्रजवाणी में रचा-बसा है। भारत के प्रथम राष्ट्रपति महामना डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी की तो मान्यता ही थी कि जब-जब न्याय और धर्म पर संकट आया, तब-तब हमें ब्रज भूमि से आलोक मिला। ब्रज के इस आलोक में हम अपने को पहचाने सच्चे भारतीय बने रहे। कला और साहित्य के माध्यम से ब्रज़ भूमि का जो सन्देश जन-जन में प्रविष्ट हुआ है और होता रहेगा, उससे देश का ही नहीं विश्व का भी कल्याण होगा, आइये ऐसे ब्रज अभिराम ब्रजधाम का नमन करते हुए हम भी ब्रजवासी हैं। इस कृपा की अनुभूति कर कविवर सोम जी के स्वरों में अपने को भाग्यशाली माने—

ब्रजधाम महा अभिराम जहाँ
घनश्याम पे आब्रंहरासि भये
ब्रज व्योम के सोम गुविन्द कलानिधि
राधिका प्रेम प्रकासे परा
हम कौन से दाम दएजु अबै
नन्दनन्द के अभिलासी दए
किन पूरब पुण्य प्रताप्रभु तें
ब्रज में जनमें ब्रजवासे भये

●●

श्रीकृष्ण के चित्रण में सान्तता और अनन्तता की समस्या

❀ डॉ० जगदीश गुप्त

मृण्मयता धरती से उपजती है और चिन्मयता आकाशव्यापी सूर्य से संदीप्त होती है। मृण्मयता और चिन्मयता के द्वन्द्व का समाधान तन्मयता से ही हो पाता है। भारतीय अद्वैतवादी दृष्टि द्वन्द्व को आत्यन्तिक नहीं मानती और न मानव-विकास को केवल द्वन्द्वात्मक जीवन-दर्शन से निष्पन्न समझती है। पृथ्वी के सम्पर्क से जीव में चेतना आने पर अथवा चेतनता के जीवत्व ग्रहण करने पर जो स्थिति उत्पन्न होती है उसमें रसात्मकता के साथ ज्ञान की प्रधानता अनिवार्य है। अपने रसमय स्वरूप का ज्ञान, कर्म को अनुशासित करके, जिन दिशाओं में गतिशील होता है उनमें एक दिशा साहित्य और कला की भी है। कुछ लोग साहित्य और कला को अभिन्न मानते हैं पर कुछ दोनों की भिन्नता को रेखांकित करते हैं। साहित्य को विद्या की कोटि में रखते हुए कला को उपविद्या कहना स्तर-भेद हो सकता है, तत्त्वभेद नहीं। प्रतीक रूप में सरस्वती के लिए कहा भी गया है—

संगीतमथसाहित्यं सरस्वत्याः कुच द्वयम्।

संगीत सभी कलाओं में परिव्याप्त है और यदि कविता को काव्य-रूप में साहित्य मात्र का प्रतिनिधि मान लिया जाय तो रस और लयात्मका उसमें भी केन्द्रीय आधार बन जाती है। ज्ञान और रस के बीच जो विरोधात्मक व्यवधान अनेक मनो-वैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न होता है उसका परिहार लयात्मकता से हो जाता है, जो जीवन का सहज स्वरूप है, जहाँ गति है, वहाँ लयात्मकता अवश्यम्भावी है। केवल समग्रता के साथ उसका अनुभव करने की क्षमता तथा उसे सहेजने की प्रवृत्ति अपेक्षित होती है।

"अणोरणीयान् महतोमहीयान्" में सूक्ष्म और विराट की जो अखण्ड एकनिष्ठता भारतीय चिन्तन ने गहरायी के साथ अनुभूत की वह उसकी सांस्कृतिक दृष्टि का मेरुदण्ड बन गयी। सान्त का अनुभव अनन्त की प्रतीति का विरोधी न बनकर विलयन की प्रक्रिया अपनाने लगता है और यहीं से भारतीयता की पहचान उपजने लगती है। भारतीय संगीत, भारतीय कला और भारतीय साहित्य यहाँ तक कि भारतीय दर्शन सब एकता और अखण्डता का पर्याय बन जाते हैं। मुझे यहाँ कृष्णलीला परक एक श्लोक याद आ रहा है।

श्रृणु सखि कौतुकमेकं नैदनिकतं मयादृष्टुम्।
गोधूलि-धूतरांगो नृत्यति वेदान्त-सिद्धान्तः।।

जिसे वेदान्त के सिद्धान्त का नर्तन देखना हो तो वह नन्द के आँगन में आये। ब्रज लोक-जीवन में व्याप्त कृष्णलीला ही उसका समाधान करेगी।

लीला-तत्त्व और चित्रकला—लीला की धारणा विशुद्ध भारतीय संस्कृति से उत्पन्न हुई है क्योंकि उसी ने 'सच्चिदानन्द' की अभिन्नता को केन्द्र में रखकर दर्शन के स्तर पर आनन्दवादी दृष्टि का विकास किया है। ब्रह्मसूत्र (2, 1, 33) में "लोकवत्तुलीला कैवल्यम्" सूत्र के साथ लोक-जीवन और आध्यात्मिकता का सम्मिलन होने पर लीला को नया अर्थ मिला। श्रीमद्भागवत ने लीला-तत्त्व को कृष्ण-चरित का आधार मानकर उसे जो गहरा अर्थ प्रदान किया वह अद्वितीय है। "समाधि भाषा व्यासस्य" को चतुर्थ प्रतिष्ठान त्रयी के साथ प्रमाण के रूप में मान्यता मिल गयी जो किसी अन्य पुराण को नहीं मिली। जन्म से रास तक का चरित कृष्ण-लीला का सार माना गया है। 'कृष्णलीला त्रिधा प्रोक्ता' के अनुसार 'वृन्दावन-लीला', 'मथुरा-लीला' तथा 'द्वारका-लीला' के रूप में कृष्ण-चरित का विकास प्रायः अखण्ड माना जाता है परन्तु विद्वान लोग विष्णु पुराण, हरिवंश पुराण तथा भागवत पुराण आदि वैष्णव पुराणों में वर्णित कृष्ण-चरित में आन्तरिक संगति नहीं देखते। उनके अनुसार गीता के कृष्ण मथुरा-वृन्दावन के कृष्ण से भिन्न हैं। इस विषय

में पर्याप्त ऊहापोह हुआ है और आपत्तियों एवं आशंकाओं का निराकरण भी हो चुका है परन्तु लीलामयता जितनी कृष्ण के पूर्व-चरित में दृष्टिगत होती है उतनी उत्तर चरित में नहीं। यह सही है कि महाभारत के कृष्ण भी भगवान माने गये हैं और भागवत् के कृष्ण भी 'भगवानिति शब्द्यते' के प्रमाण से षड्गुणोपेत भगवान् ही माने गये हैं। मानव-चेतना का सर्वोच्च रूप कृष्ण में प्रतिफलित हुआ है। राम की शक्ति चौदह कलाओं तक सीमित है पर कृष्ण षोडशकला समन्वित पूर्णचन्द्र के प्रतीक हैं। पूर्णता की औपनिषदिक धारणा जो "पूर्णमद: पूर्णमिदम्" आदि शब्दों में प्रकट हुई है, कृष्ण-चरित में पूर्णत: घटित होती है। शब्दातीत को शब्द-बद्ध करना जितना दुष्कर है उससे भी अधिक दुष्कर है कल्पनातीत को साकार बनाना। साहित्यकार शब्दों तक सीमित रहता है पर कलाकार वस्तु-जगत के समस्त साधनों का उपयोग करके अपनी अवर्णनीय अभिव्यक्ति को नाद से लेकर पाषाण तक प्रतिमूर्त करता है। समस्त कलाभिव्यक्तियों को दृष्टि में रखकर तुलनात्मक ढंग से कहा जा सकता है कि कृष्ण-लीला का सर्वोत्कृष्ट निरूपण भारतीय चित्रकला में हुआ है। जो चित्रकार लीला-तत्त्व से दार्शनिक स्तर पर नहीं जुड़े, वे भी परम्परा का अनुसरण करते हुए सशक्त चित्रण करते दिखायी देते हैं। लीला-तत्त्व उनके भीतर भी आनन्द की सृष्टि करता रहा क्योंकि उनका मनोजगत् भिन्न संस्कारों से बना था। आज से संस्कार क्षीण हो गये हैं तथा लीला-दृष्टि यथार्थ की वैज्ञानिक धारणा से तर्कहीन लगने लगी है। 'नैषातर्केण मतिरायनेया' के मर्म को जानने वाले तर्काश्रित अनुभव की सीमा पहचानकर भी युग-दृष्टि का निषेध नहीं कर पा रहे हैं। आज 'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी' कहकर राम पर आस्था उत्पन्न करना कठिन हो गया है। उनके चरित को युगीन-संगति की अपेक्षा हो गयी है। कृष्ण-चरित रामचरित से कहीं अधिक जटिल है। अत: बुद्धि-संगत रूप में प्रस्तुत करना और भी दुष्कर हो गया है।

लीला की विभिन्न परिभाषाएँ और लयात्मकता—हिन्दी में किसी ने सगुण रहस्यवाद की परिकल्पना नहीं की, प्राय: सभी रहस्यवाद को

निर्गुण तक ही सीमित मानते हैं परन्तु मुझे लगता है कि लीला-तत्त्व सगुण को भी रहस्योन्मुख बना देता है। रहस्यवाद शब्द का उपयोग हम न भी करें तो भी यह रहस्य रघुनाथ कर "बेगि न जानै कोई" अथवा "अति विचित्र रचना रचित राखी" से यही प्रकट होता है कि सगुण मार्ग भी, जैसा ऊपर से दिखायी देता है वैसा भीतर से सरल नहीं है। कृष्ण-चरित की प्रत्येक लीला गूढ़ार्थ व्यंजक है। वल्लभाचार्य ने सुबोधिनी द्वारा तथा अन्य आचार्यों ने विभिन्न व्याख्याओं द्वारा विभिन्न लीलाओं की जो व्याख्या की है वह सामान्य जन के लिए दुरूह तथा श्रम-साध्य सिद्ध होती हैं। एक 'लीला' शब्द को ही लिया जाय तो प्रत्येक कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय ने उसे अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार उसे परिभाषित किया है।

ब्रह्म की धारणा में अनुकूल-प्रतिकूल, सृष्टि-विनाश, जीवन-मृत्यु, सुख-दु:ख, अमृत-विष सब कुछ समाहित है अत: 'विरुद्ध-धर्माश्रयता' के बिना उसकी कल्पना ही नहीं हो सकती। इस विरुद्ध धर्माश्रयता की लीला-दृष्टि से देखना बड़े साहस की बात है। जिस संस्कृति ने आनन्द को सर्वोच्च स्थान दिया उसी का कलेजा था कि उसने लीला को विरुद्धधर्माश्रयता से जोड़ दिया। अहंकार का इतना पराभव कि सब कुछ अपने आराध्य को समर्पित हो जाय भक्ति के द्वारा ही सम्भव था अतएव कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-लीला भारतीय कला में पर्यायवाची हो गये। नवधा से आगे दशधा और उसके भी आगे प्रेम-भक्ति, रागानुगाभक्ति आदि की जो अवधारणाएँ व्यक्त की गयी हैं, वे कृष्ण-लीला में गोपी-भाव एवं राधा-भाव को अद्वितीय महत्ता देती हैं। सख्य भाव से भी ऊपर माधुर्य-भाव प्रतिष्ठित हुआ और अन्तत: सखी-भाव में दोनों एकस्थ हो गये। भावों की इतनी विपुलता तथा सूक्ष्मता और उसके आधार पर साधना-रूपों की देशव्यापी मान्यता आश्चर्यचकित कर देती है। कलाओं ने उनसे प्रेरणा पायी है और साधनाओं को प्रेरित भी किया है। हर लीला, हर प्रसंग और हर पात्र की स्थिति विशेष में रखकर देखने से परिव्यय लयात्मकता से अभिन्न रूप से जुड़ जाता है। सामान्य जीवन

नृत्यात्मक प्रतीत होने लगता है। ठीक वैसे ही जैसे भारतीय चित्रकला मूलत: नृत्यानुसारी सिद्ध होती है। 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के अन्तर्गत 'चित्रसूत्रम्' इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है जो सुविदित है—

दिना तु नृत्य शास्त्रेण चित्रसूत्रम् सुदुर्विदम्।

'यथा नृत्ये तथा चित्रे' की धारणा जिन सिद्धान्त से उत्पन्न हुई है उसमें शैव और वैष्णव दोनों मत एकात्म दिखायी देते हैं। एक ताण्डव नृत्य का प्रतीक बना दूसरा लास्य का। स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी अब गोलोकवासी हो गये, रास की व्युत्पत्ति 'लास्य' से मानते हैं। द्रष्टव्य–भागवत विचार दोहन, पृ० 129।

''यह रास लास्य है। यह भगवत् तत्त्व की आनन्दात्मक स्फूर्ति है।''

लीला, लास्य और लय की एकात्मकता—लीला की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं, पर मुझे तीन विशेष उल्लेखनीय लगती हैं। द्रष्टव्य है लीला : अर्थविमर्श—कृष्ण काव्य में लीला वर्णन—डॉ० जगदीश भारद्वाज।

1. नहि लीलाया: किंचित् प्रयोजनमस्ति लीला एव प्रयोजनत्वात्। (लीला का कोई प्रयोजन नहीं, लीला स्वयं प्रयोजन है। (अणुभाष्य 2, 1, 32)
2. ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति का विकास ही लीला है।
3. अचिन्त्य महिमा अथवा विरुधर्माश्रयता ही लीला है।

रहस्यपूर्ण व्यापार के अर्थ में भी लीला का प्रयोग मिलता है जो मूल अर्थ से ही निष्पन्न माना जाता है। अध्यात्म के अर्थ में माया लीला नहीं सिद्ध होती किन्तु शांकराद्वैत से भिन्न अद्वैतवादी मत लीला को स्वीकार करते हैं। अज्ञान का नाश ज्ञान से हो जाता है इसमें आनन्द की भूमिका वैसी नहीं रहती जैसी सगुण लीला–तत्त्व में मानी जाती है। भागवत ने उसी का निरूपण किया है। शुद्धाद्वैत में बाल–लीलाओं का महत्त्व सर्वोपरि दृष्टिगत होता है। इसीलिए कला और साहित्य में उसका प्रभाव सबसे अधिक रहा और आज भी वह वात्सल्य धारा नि:शेष नहीं हुई है।

ताण्डव विखण्डनकारी नृत्य है जिसे नटराज शिव ही साध सकते हैं। उसमें नृत्य की भूमिका को शैव-दृष्टि ही आनन्दप्रद मान सकती है। वैष्णव दृष्टि लास्य तक आनन्द को ले जाती है और इसीलिए कृष्ण द्वारा रास का सूत्रपात ''जगौ कलं वामदृशां मनोहरं'' के साथ हुआ। योगमाया के द्वारा कृष्ण ने ''वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे'' के रूप में एक मानसी सृष्टि उत्पन्न की। वह अलौकिक रास देश-काल की सीमाएँ पार कर जाता है। 'वेणुगीत' प्राणगीत बन जाता है। जैसे शिव ने तीसरे नेत्र द्वारा काम-दहन किया था वैसे ही रासलीला द्वारा कृष्ण ने काम-विजय प्राप्त की। प्रभूत साहित्य और असंख्य चित्र विविध माध्यमों से सृजित हुए। एक नयी प्रेरणा समस्त भारतीय साहित्य और शिल्प को आप्लावित कर गयी।

लयात्मकता लीला और लास्य के बीच एकसूत्रता उत्पन्न करती दिखायी देती है। 'लीन' धातु से लीला और लय दोनों व्युत्पन्न हुए हैं।

''लीला की व्युत्पत्तिपरक अर्थ-ग्रहण में लय के प्राय: इन सभी अर्थों को सम्पादित अथवा प्रकटित करने वाली क्रिया या स्थिति को लीला कहा जा सकता है।'' -(पृ० 9, वही)

कविता और चित्रकला में अभिव्यक्ति-विधान का अन्तर—चीनी कहावत के अनुसार एक चित्र एक हजार शब्दों के बराबर होता है अर्थात् चित्र अधिक समर्थ है, रूपाकारों को प्रस्तुत करने में। परन्तु जहाँ तक विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रश्न है कविता निश्चय ही अधिक सक्षम प्रतीत होती है। चित्रकार की इस असमर्थता को बिहारी ने पहले ही कह दिया है—

लिखन बैठि जाकी सबिहिं गहि-गहि गरव गरूर।
भये न के ते जगत के चतुर चितेरे कूर।

इस दोहे के कितने भाव टीकाकारों ने प्रदर्शित किये हैं यह सुपरिचित है पर मेरा ध्यान बस असमर्थता की ओर जाता है जो सान्तता के कारण अनन्ता को बाँधने में असफल हो जाती है। ''चारि आँखि होत ही हजार आँखि है गयीं'' इसमें हजार शब्द जिस त्वरा के साथ प्रतीक

रूप में संख्याहीनता की व्यंजना देता है वह चित्रकार को सुलभ नहीं होती। नेत्रों के कमल, खंजन आदि उपमान वस्तु को उस तरह प्रस्तुत नहीं कर सकते जैसा कविता में सम्भव है। राधा के नेत्रों की विशालता चित्रित करने की एक सीमा है, जिसके आगे चित्रकार नहीं जा पाता पर कवि नेत्रों को काननवारी बनाने से आगे बढ़कर उनकी विशालता को विश्वव्यापी बनाने की क्षमता रखता है। भिखारीदास की एक छन्द का मुझे स्मरण आ रहा है जो निश्चय ही असाधारण है। एकावली अलंकार का सहारा लेकर कवि ने राधा की आँखों से पूरा ब्रह्माण्ड नाथ लिया है।

होत मृगादिक से बड़े बारन, बारन-बृंद पहारन हेरे।
सिंधु मैं कैसे पहार परै, पुहुयी में विराजत सिंधु घनेरे।
लोकनि मैं पृथिवी त्यौं किती, हरिबोदर में बहु लोक बसेरे।
ते हरि ''दास'' बसे इन नैनन, एते बड़े दृग राधिका तेरे।

यह दिशातीत विशालता सीमित फलक पर कोई चित्रकार नहीं उतार सकता। उसको प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है पर प्रतीक भी तो रूपाकारों से बँधे रहते हैं। ''वणी-ठणी जी'' नामक राधिका का प्रसिद्ध चित्र उनके नेत्रों की विशालता का ही द्योतक है पर दोनों में कितना अन्तर है।

रंगमयता के क्षेत्र में चित्रकार अधिक सामर्थ्यवान सिद्ध होता है क्योंकि शब्द रंगों को कभी प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। देखने से ही उनकी प्रतीति होती है। 'स्याम' शब्द कहाँ नीले का अर्थ देता है, कहाँ काले का और कहाँ जामुनी रंग का यह चित्रकार ही समझ सकता है। ''जित देखौं तित स्याम मई है'' से किस श्याम रंग का अभिप्राय है यह सर्वथा स्पष्ट नहीं होता। फिर उसकी गहराई कितनी है और बहिरन्तर व्याप्ति कितनी, वह भी अनुमेय ही रहता है। ''देव के इस छन्द में विविध उपमानों के द्वारा श्यामता का आशय स्पष्ट करने का उपक्रम किया गया है।

''आँखिन में तिमिर अमावस की रैन जिमि जम्ब्रस बिन्द्र जमुनाजल तरंग हैं। कहकर कवि ने अपने भाव को सान्त से अनन्त बनाने की चेष्टा की है।

कृष्ण-लीला के चित्रण की समस्याएँ और उनका निदान—

अद्वितीयता, अनेकता, गतिशीलता, प्रतिबिम्बमयता, सूक्ष्मता, रूप-भेद, भाव-भेद, रस-भेद तथा शैली-भेद को कृष्ण-लीला-चित्रण में किस प्रकार असाध्य से साध्य बनाया है, यह कलाविदों के सत्संग और जीवन्त सम्पर्क से ही जाना जा सकता है। संश्लेषणात्मक अनुभव को विश्लेषणात्मक बनाये बिना, प्रतिमा ज्ञान से कलाकार कैसे समाधान खोजता रहा है, यह चित्रों की विपुल राशि और विविध परम्पराओं के अनुशीलन से ही प्रकट हो पाता है। कृष्ण-लीलाएँ अपूर्ण को पूर्ण बनाने की शक्ति रखती हैं जिसका अनुभव तादात्म्य भाव से, पहले चित्रकार की होता है फिर वही दर्शकों को भी तदाकार परिणति कराता है। तन्मयता स्वयं उत्पन्न होने लगती है क्योंकि विषय-वस्तु, शैली-शिल्प तथा करण-उपकरण सब गहरी पहचान से उपजे लगते हैं। प्रकृति में प्रत्येक कृति किसी बाहरी साधन की मुँहताज नहीं रहती पर कला का क्षेत्र साधनों से बँधा रहता है। कैसे कलाकार उन साधनों को साध्यमय बना लेता है यह बात उसकी उपासना-पद्धति, भक्ति-भावना तथा रचना कर्म को समर्पण के रूप में देखने से ही जानी जा सकती है। वैष्णव भाव कला-चेतना में शैव-भाव से कम सिद्ध नहीं हुआ। वरन् कृष्ण-लीला में वह अधिक रसात्मक, अधिक काव्यात्मक होकर प्रकट हुआ है। काँगड़ा शैली के चित्र सबसे अधिक सुन्दर और रसात्मक लगते हैं क्योंकि उनकी रूप-योजना में लयात्मकता सर्वोपरि दिखायी देती है। रंगों का वैभव भी वैसा ही है।

रास-चित्रण में प्रत्येक गोपी के बाद कृष्ण और प्रत्येक कृष्ण इनके बाद गोपी का निरूपण असाधारण कौशल की अपेक्षा रखता है ध्यान केन्द्रित न होने पर ऐसा चित्रण असंगत और कृत्रिम लग सकता है अतएव स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णलीला ध्यान-केन्द्रित रूप में उकेरी गयी है।

कालिया-नाग के सहस्त्र फन चित्रकारों ने प्रतीकात्मक रूप में चित्रित किये हैं पर प्रत्येक फन पराजय और विह्वलता का निदर्शन करता है। अहंकार का विसर्जन कृष्ण के नर्तन द्वारा कितना ललित हो जाता है

कि ध्यान ही नहीं रहता कि भयंकर सर्पराज के विषैले फनों को एक बालक के पैरों का आधार बना लिया गया है। ब्रजवासियों की चिन्ता, नाग-पत्नियों की कातरता सब कुछ कलाकार देखता है पर उसका ध्यान-केन्द्र कृष्ण का दीप्तिमान मुखमण्डल ही होता है। बिना ऐसे स्फुरण के न तो लीला का आधीन होता है और लीला का चित्रण सफल हो पाता है।

आधुनिक कला में कृष्ण-लीलाओं का चित्रण वैचित्र्य और विलक्षणता का द्योतक लगता है, पर उसमें रसात्मकता का कहीं अनुभव नहीं होता। आधुनिक कला पुरानी पहचान को मिटाकर नयी पहचान पैदा करने का साहस तो करती है, पर भाव के धरातल पर उसकी पहुँच या तो निष्प्रेरक हो जाती है या कृत्रिम। उदाहरणार्थ, मन्जीत बाबा के कृष्ण और उनकी गउएँ। -समकालीन कला, मई 86 सं. 6, पृ. 33। व्यंग्य-विटुप के रूप में इन लीलाओं का उपयोग स्वयं व्यंग्यात्मक बन जाता है। बिडम्बना अर्थपूर्ण न होकर निरर्थक लगने लगती है। बंगाल-शैली के कलाकारों में वह भाव-सम्पत्ति थी कि कृष्ण-लीला को वे अपना समर्थ आत्मदान दे सके।

श्री अवनीन्द्र नाथ ठाकुर के सहयोगियों में सबसे अधिक कृष्ण-विषयक चित्र शरदाचरण उकील ने बनाये हैं पर सबसे प्रगाढ़ भावात्मकता मेरे गुरु श्री क्षितीन्द्र नाथ मजूमदार के चित्रों में पायी जाती है क्योंकि वे स्वयं चैतन्य-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। कीर्तन-मण्डली में कीर्तन करते हुए जो भाव उन्हें अनुभव होते थे उससे कहीं अधिक भाव उनकी चैतन्य-चित्रावली तथा 'चित्रे गीत-गोविन्द' में दृष्टिगत होते हैं। वस्त्र-विन्यास और वृक्ष-विन्यास में जो लयात्मकता उनके चित्रों में प्राप्त होती है वह वस्तुत: उनके भाव-विन्यास से ही उपजी प्रतीत होती है। राजस्थानी चित्रों में भी इतनी लयमयता नहीं मिलती। वाश-टेकनीक से बनाये गये कृष्णलीला के चित्र अतिरिक्त रहस्यात्मकता से दिखायी देते हैं। मध्य-कालीन चित्रों में वर्णों के प्रयोग की सूक्ष्मता के साथ रेखाओं की गतिमय संगति विशेष प्रभावी लगती है पर बंगाल-शैली के कृष्णपरक चित्र

निजी गरिमा प्रदर्शित करते हैं। राधा-कृष्ण के अनेक रसात्मक संदर्भ उकील की तूलिका से स्मरणीय बन गये हैं। मेरे पास उनके चित्रों की मुद्रित प्रतिकृतियाँ वर्षों से सहेजी हुई हैं। कृष्ण-जन्म का अंकन भी मार्मिक है। अब्दुर्रहमान चगताई ने होली में पिचकारी चलाती हुई मुद्रा में कृष्ण-राधा का अंकन बारीक रेखाओं में अपनी कोषात्मक शैली में भी लयात्मकता का समावेश कर दिया है। मुसलमान सामान्यतया न तो होली खेलता है और न कृष्णोपासक ही होता है पर अपवाद रूप में जैसे रसखान कृष्ण-भक्त हो गये, कुछ-कुछ वैसे ही चगताई के ऐसे चित्र प्रतीत होते हैं। यहाँ भक्ति-भावना की जगह रसात्मकता प्रधान हो गयी है जो मनुष्य को विभेदों से ऊपर उठा देती है। कृष्णलीला के चित्रों ने वैसा ही वातावरण उपस्थित कर दिया जैसा संगीत में सूर-मीरा आदि के पदों के द्वारा सम्भव हुआ। चित्रकारों के नाम अवश्य उतने जाने-पहचाने नहीं हैं जितने कवियों के। विशेषज्ञों ने मोलाराम जैसे कुछ नाम सामने रखे हैं जो प्रामाणिक हैं। बहुत कम लोग जानते हैं कि वे कृष्ण भक्त न होकर उनके पुत्र प्रद्युम्न के अनुयायी थे। 'मन्मथ-पंथ' कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न के नाम पर ही तो विकसित हुआ।

लीला, लास्य और लय की परिणति सान्त से अनन्त की ओर ले जाती है। सान्त की प्रस्तुति ऐसी कलात्मक रीति से होती है कि सहृदय को उसी में अनन्त का बोध होने लगता है। कलाकारों ने इसके लिए जो समाधान खोजे हैं उनका निरूपण अन्यत्र किया जायेगा। विश्रान्ति से परमानन्द की ओर जो कला ले जाती है वह साधारण कोटि की कला न होकर पराकोटि में पहुँच जाती है। कृष्णलीला का चित्रण अवश्य ही उस कोटि तक पहुँच गया था इसमें मुझे कोई संदेह नहीं।

विश्रान्तिर्यस्याः सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा।।

●●

राजकीय संग्रहालय मथुरा में कृष्ण विषयक लघु चित्र

❀ स्व० श्रीमती पुष्पा ठकुरैल

विश्व प्रसिद्ध लाल चित्तीदार प्रस्तर में तरासी गई हजारों कुषाण-युगीन बौद्ध, जैन एवं ब्राह्मण धर्म की अद्‌भुत कलाकृतियों के अनूठे भण्डार राजकीय संग्रहालय, मथुरा में कृष्ण-कथानक अत्यल्प हैं। आश्चर्य का विषय है कि एक ओर जहाँ ब्रजभूमि का श्रीकृष्ण से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, वहीं उनकी प्रारम्भिक कालीन प्रस्तर प्रतिमाएँ संख्या नगण्य सी हैं। गीता में वर्णित वासुदेव कृष्ण के जिस चतुर्भुज रूप को देखने की प्रार्थना अर्जुन ने की थी, उसी रूप में ब्रज क्षेत्र से मिली विष्णु प्रतिमाएँ प्रारम्भ काल की हैं।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामित्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन, सहस्त्रबाहो भव विश्वभूते।।

परन्तु प्रारम्भिक कालीन इन चतुर्भुजी प्रतिमाओं को वासुदेव कृष्ण की न कहकर विष्णु की प्रतिमाएँ माना गया है, जो सम्भवतः हमारी भूल हो सकती है। वैसे तो वह जगत नियन्ता परमात्मा चाहे विष्णु हो अथवा कृष्ण, बात एक ही है। परन्तु विशेष रूप से ब्रज एवं ब्रजवासियों के मन में रमा-बसा उसका गोपवेश, गायों को घेरता, वंशी बजाता, गोपियों को छेड़ता, राधा के प्रेम में आसक्त, नन्द-यशोदा के बेटे का रूप पत्थर के चितेरे कलाकारों की भावनाओं से कुछ अलग ही हैं और जब इन विन्दुओं पर दृष्टिपात करके हम पुरातात्विक साक्ष्यों का आधार लेते हैं तो एक निराशा ही हाथ लगती है। संग्रहालय में संग्रहीत कलाकृतियों के माध्यम से यदि श्रीकृष्ण की प्राचीनता पर विचार किया जाय तो वह द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दी ई०पू० से परे नहीं जाती जहाँ शोहास के

एक लेख में भगवान वासुदेव के मन्दिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। जैन तीर्थंकर नैमिनाथ से श्रीकृष्ण एवं बलराम के सान्निध्य सम्बन्ध की प्रतिमाएँ भी उनकी प्रामाणिकता प्रथम शताब्दी में सिद्ध करती हैं। श्रीकृष्ण के जन्म की घटना को दर्शाते हुए कलाकार ने उस भीषण काली रात का दृश्य जहाँ उफनती यमुना नदी मानो अपने जल से समूचे ब्रजमण्डल को स्नान कराना चाहती है, इस खुशी में कि ब्रज का रखवाला कन्हैया आज पैदा हो गया है और जो कंस राजा अपने दर्प में यह भूल ही गया कि वह तो एक अकिंचन है उस जगत नियन्ता के समक्ष, मानो उस राक्षस का अन्त अब निकट आ गया है। श्रीकृष्ण जन्म की इस घटना का वर्णन पुराणों में मिलता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के जीवन की विभिन्न लीलाएँ जैसे काली दमन, गोवर्धन धारण आदि घटनाओं को लेकर गुप्तयुगीन एवं गुप्तोत्तर युगीन कलाकारों ने अनेक प्रतिमाएँ तरासीं परन्तु स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि इस मानद मन में कि ब्रज मण्डल का महत्त्व ही श्रीकृष्ण के जीवन-दर्शन एवं उनकी अलौकिक लीलाओं को लेकर है उसको चित्रित करना ई० पू० के कलाकारों का इतना प्रिय विषय क्यों नहीं था जितना कि ब्रज में बौद्ध एवं जैन धर्म के उपासकों की प्रेरणा से यहाँ मूल विशिष्ट कला शैली को जन्म मिला और ब्राह्मण धर्म में विष्णु एवं अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ गढ़ी गईं।

कालान्तर में श्रीकृष्ण के जीवन की विभिन्न घटनाओं पर अनेकों साहित्यिक रचनाएँ लिखी गईं। चित्रकला में भी राजस्थानी, पहाड़ी अथवा स्थानीय लोककला के माध्यम से लघु चित्रों को चित्रकारों ने चितेरा और इस लेख का मुख्य आधार 'भारत-भाव श्रीकृष्ण' के रूप का अंकन स्थानीय संग्रहालय के लघुचित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करना ही है—ये सभी चित्र 18वीं तथा 19वीं शती ई० के हैं। वैसे संग्रहालय में कुल 334 लघुचित्र हैं।

1. 48.3442—बच्चों को बदलने की घटना का अंकन राजस्थानी शैली में बने लघु चित्रों से हुआ है। श्रीकृष्ण को सिर पर रखकर वसुदेव

गोकुल पहुँचाते हैं; क्योंकि उनके 7 पुत्रों को कंस पहले ही मार चुका है। बालक कृष्ण को छिपाने की नीयत से वे नन्द यशोदा के यहाँ पहुँचाते हैं जिनके यहाँ उसी क्षण एक पुत्री जन्मी होती है, जिसे वसुदेव उठा लाते हैं। इस घटना को भागवत पुराण में भी यथावत् प्रस्तुत किया गया है।

2. 85.177—नन्द बाबा को चित्र में लेटे दर्शाया गया है और बालक कृष्ण उनके वक्ष पर बैठे अठखेलियाँ कर रहे हैं। माता यशोदा समीप ही बैठी हैं। रोहिणी अपने पुत्र बलराम को लिए कक्ष में प्रवेश कर रही हैं तथा उन्हें भी वे नन्द बाबा के ही पास छोड़ना चाहती हैं। चित्र में बहुत ही सजीवता लिए परिवार का चित्रण है। बूढ़े नन्द अपने खेलते परिवार को देखकर परमानन्द की प्राप्ति कर रहे हैं। यह लघु चित्र भी लगभग 18वीं शती ईसवी में पहाड़ी स्कूल में चित्रित किया गया है।

3. 85.176—यह लघु चित्र श्रीकृष्ण के बालजीवन से हटकर उनके उभरते यौवन व उसकी चपलता को प्रदर्शित करता है। वह चूँकि अब बड़े हो गये हैं। अत: गाय चराने जाना प्रारम्भ कर दिया है तथा जंगल में ग्वालबालों के साथ गोपियों से छेड़खानी करते फिरते हैं। इस लघु चित्र में गायों को चराते बलराम-कृष्ण दर्शाये गये हैं जो जमुना तट पर खड़े हैं। भागवत पुराण में भी यह घटना वर्णित है यह चित्र कोटा स्कूल में बना 19वीं शती का है।

4. 85.179—राधा और कृष्ण को वर्षा में लौटते हुए प्रदर्शित किया गया है। तेज हवा के झोंकों व वर्षा के कारण प्रेमी युगल छिपने के लिये एक दूसरे में सिमटे हाथ में छाता लिये खड़े प्रदर्शित हैं तथा गाय और कुछ ग्वाले भी झुके हुए दिखाये गये हैं जो वर्षा से अपना बचाव चाहते हैं। पहाड़ी शैली की यह पेंटिंग कांगड़ा स्कूल की है।

5. 85.175—बिहारी सी सतसर्ग जो लगभग 13वीं शती ई० की रचना है, पर आधारित नायक-नायिका के प्रेम की कहानी को दर्शाती यह पेंटिंग श्रीकृष्ण और राधा के मिलन को प्रस्तुत करती है। राधा की एक प्रिय सखी के उकसाने पर वह अपने प्रियतम के निकट जाती हैं और

उनके समीप पहुँचकर मानो खो जाती हैं, दोनों अपलक मुद्रा में एक-दूसरे को देख रहे हैं। दूसरी ओर बने पुष्पों से लदे वृक्ष मानो इस प्रेम मिलन को अपनी सहज अनुमति प्रदान कर रहे हैं।

यद्यपि साहित्य में राधा का प्रसंग बहुत बाद का माना जाता है परन्तु भागवत पुराण ने इसे राधा नाम न देकर एक प्रिय विशेष की संज्ञा दी है जिसके साथ श्रीकृष्ण प्रेमासक्त थे। यह चित्र भी पहाड़ी शैली में निर्मित है।

6. 85.118—यह लघुचित्र महारास का अंकन प्रस्तुत करता है जिसमें श्रीकृष्ण ने अपना विविध रूप परिवर्तित कर हरेक गोपी के साथ अपने आपको उपस्थित कर कार्तिक माह पूर्णिमा की रात को ब्रज मण्डल में महारास किया था। कृष्ण की वंशी की धुन सुनकर ब्रज गोपियाँ विह्वल हो जाती थीं और अपना घर-बार छोड़कर उसी स्थल पर दौड़ी चली आती थीं जहाँ उनके प्रिय श्रीकृष्ण होते थे। गोपियों को चिड़ाने के लिए श्रीकृष्ण उन्हें उनके घर, बच्चे व पति छोड़कर आने पर भला बुरा कहते हैं तब बेचारी गोपियाँ कहती हैं कि पहले तो तुमने हमें छल लिया और अब शिक्षा देते हो। तब श्रीकृष्ण उनसे कहते हैं कि "आओ तो मिलकर रास करते हैं। समस्त गोपियाँ अपने साथ कृष्ण को पाकर प्रेम विह्वल हो जाती हैं। यह चित्रण मथुरा की स्थानीय कला की लगभग 19वीं शती ईसवी की कृति है।

7. 85.2170- चित्र में राधा को हाथ में छड़ी लिए श्रीकृष्ण को चोर की तरह एक ओर खड़े इस दृश्य को देख रहे हैं। भागवत पुराण में इस घटना का वर्णन है। यह चित्र पहाड़ी शैली में निर्मित है।

8. 85.110- चित्र में राधा और कृष्ण गोप-ग्वालों के साथ खड़े प्रदर्शित हैं तथा कृष्ण राधा को पूर्ण चंद्रमा की ओर इशारा कर रहे हैं। मानो कृष्ण कह रहे हैं कि हे राधे! तुम चन्द्रमा से भी ज्यादा सुन्दर हो। यह चित्र राजस्थान की लोक कला में निर्मित लगभग 18वीं शती ई० का है।

9. 85.1138- प्रस्तुत लघु चित्र चीरहरण का है जहाँ गोपिकाएँ जमुना में स्नान कर रही हैं जिन्होंने अपने कपड़े उतार घाट पर रख दिए हैं तथा पानी में श्रीकृष्ण की बातों को लेकर आपस में बतिया रही हैं। उसी समय श्रीकृष्ण आ जाते हैं, चरती हुई गायों को छोड़कर और गोपियों को छेड़ने की दृष्टि से। उनके कपड़ों को लेकर कदम्ब के पेड़ पर चढ़ जाते हैं। नहाने के बाद गोपियाँ जब घाट पर आती हैं तो कपड़ों को न देखकर घबरा जाती हैं। तभी एक गोपी की दृष्टि कृष्ण पर पड़ती है। और वे सभी चिल्ला उठती हैं- हमारे कपड़े लाओ। उनको सताने की दृष्टि से श्रीकृष्ण उनसे कहते हैं कि हमारे पास आओ और कपड़े ले लो। निर्वस्त्र गोपियाँ शर्म से लाल हो जाती हैं और विनय करती हैं कि हम तुम्हारे हाथ जोड़ते हैं हमारे कपड़े दे दो। काफी विनय के बाद श्रीकृष्ण कपड़े लौटाते हैं। यह चित्र भी पहाड़ी स्कूल में बना है।

10. 85.108-वंशीवादक कृष्ण गोपियों के मध्य खड़े प्रदर्शित हैं। लगभग 1775 ई0 की स्थानीय कला का नमूना है।

11. 85.111-वंशी वादक कृष्ण खड़े हैं तथा एक ओर राधा खड़ी उन्हें कुछ दे रही हैं, यह चित्र जयपुर की स्थानीय कला का उन्नीसवीं शती का नमूना है।

12. 85.112-चित्र में राधा को झुला रहे हैं- जयपुर स्थानीय कला का चित्र। इस प्रकार संक्षिप्त रूप से संग्रहालय की कृष्ण विषयक कुछ महत्वपूर्ण पेंटिंग्स को यहाँ वर्णित किया गया है।

●●

भारतीय चित्रकला और कृष्ण चरित्र

❀ डॉ० जयसिंह नीरज

विष्णु के विभिन्न अवतारों में कृष्ण चरित्र समाज में अत्यधिक महात्त्वपूर्ण, प्रचलित एवं परिवर्तनशील रहा है। कृष्ण चरित्र की विविधता रसमयता एवं लोकरंजकता ने भारतीय संस्कृति को जितना प्रभावित किया है उतना अन्य किसी चरित्र ने नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, ''महाभारत के कृष्ण का उल्लेख लोकरक्षा और लोकमंगल का प्रत्यक्ष साधन करने वाली कर्मशक्ति का स्वरूप था, जिसमें शील, शक्ति, सौन्दर्य और ऐश्वर्य का समन्वय था।'' भगवत गीता में कृष्ण का कर्मयोगी, वीर और वेदान्ती स्वरूप प्रस्तुत हुआ है। धीरे-धीरे सामयिक प्रवृत्तियों के कारण लोकरक्षक और गीतोपदेशी कर्मयोगी कृष्ण का स्वरूप तिरोहित होने लगा और कृष्ण का माधुर्यपूर्ण प्रेममय चरित्र समाज में अधिक लोकप्रिय होने लगा।

भागवत-धर्म की स्थापना के साथ ही भागवत-पुराण ने विस्तृत और सांगोपांग होने के कारण कृष्ण के माधुर्य पक्ष को अधिक उभारा। राधा-कृष्ण की प्रेममयी लीलाओं के शृंगारी स्वरूप का जो चित्रण काव्य और चित्रकला में हुआ वह भारतीय संस्कृति का एक जीवन्त पृष्ठ बन गया। उसमें कृष्ण के प्रेममय सौन्दर्य पक्ष से सम्बन्धित आलम्बन, उद्दीपन और अनुभावों के विभिन्न चित्र अंकित हुए हैं।

मध्यकालीन कवियों, चित्रकारों और संगीतकारों का मन जितना बालकृष्ण, गोपाल कृष्ण और रासबिहारी कृष्ण में रमा है उतना अन्य किसी विषय में नहीं। कृष्ण के विविध स्वरूपों का चित्रांकन काव्य और चित्रकला के क्षेत्र में बेजोड़ हुआ है। काव्य को आधार बनाकर चित्र

बनाये जाते रहे हैं और चित्रों के आधार पर काव्य-रचना होती रही हैं। राधाकृष्ण का अनुरंजक चरित्र भारतीय चित्रकला का आधार-स्तम्भ रहा है।

कलाकारों ने कृष्णलीला के जिस सीमित किन्तु गहन क्षेत्र को अपनी भक्ति एवं कला का माध्यम बनाया है वह सगुण और मनोहारी होने के कारण समाज को अत्यधिक आकर्षित करने वाला रहा। कृष्ण चरित्र में कृष्ण, राधा, गोपियाँ, नन्द, यशोदा आदि सीमित आलम्बन एवं यमुना तट, वंशीवट निकुंज, वृन्दावन की कुंजगली आदि सीमित उद्दीपक वातावरण है। कृष्ण के चरित्र में हाव-भाव मुद्राएँ आदि अनुभावों की जितनी बहुलता है, उतनी अन्य किसी चरित्र में नहीं।

कृष्ण चरित्र अनुभावों और दृश्यात्मकता की बहुलता के कारण चित्रकला के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। चित्रण की अपनी सीमा-रेखाएँ हैं। अनुभावों के चित्र जितनी स्पष्टता से बन सकते हैं उतनी स्पष्टता से अन्य किसी के नहीं। चित्रकार आलम्बन के अनुभावों को दृश्यात्मकता देकर भावाभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। यही कारण है कि राधाकृष्ण के रूप तथा उनकी माधुर्य-लीलाओं की सौन्दर्यानुभूति के कोमल, सात्विक और सजीव चित्र चित्रकारों ने बड़ी तल्लीनता से अंकित किये हैं।

सगुण भक्ति की सरसता तथा माधुर्य भावना ने कलाओं को अत्यधिक प्रोत्साहित किया। धर्माचार्य स्वयं निर्गुण की नीरसता के स्थान पर सगुण की स्थापना हेतु मूर्तिपूजा एवं चित्रांकन को अधिक महत्त्व देते थे इसलिए मध्यकाल में मन्दिर एक ऐसा माध्यम था जहाँ ललितकलाओं का स्वरूप प्रस्फुटित हो उठा। इस दृष्टि से राधाकृष्ण की रागमयी लीलाओं ने मध्यकालीन चित्रकला को अत्यधिक प्रभावित किया।

भारतीय चित्रकला की सर्वोपरि विशेषता यह रही है कि उसने समय-समय पर काव्य को अपने चित्रण का आधार बनाया है। अजन्ता के भित्तिचित्र जातककथाओं पर आधारित हैं। अनेक ताड़पत्रीय बौद्ध

और जैन ग्रन्थ तथा संस्कृत हिन्दी के ग्रन्थ चित्रण के आधार रहे हैं; जिनमें भी कृष्ण चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थों का चित्रण बहुलता से हुआ है। काव्य के चित्रण के लिए देश, काल और परिस्थिति के अनुसार कलाकारों ने समय-समय पर विभिन्न माध्यम चुने हैं, जो प्रमुखता भित्तिचित्र, पटचित्र, पोथीचित्र और लघुचित्र के रूप में उपलब्ध हैं।

कृष्ण चरित्र समाज में सगुण स्वरूप की स्थापना, अनुभावों की बहुलता एवं माधुर्यभाव के आकर्षक स्वरूप के कारण अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ, किन्तु ब्रज के इतिहास में 1500 ई० पूर्व चित्रकला के उदाहरणों का न मिलना आश्चर्यजनक है। सचित्र पुस्तकों की परम्परा में कृष्ण चरित्र का चित्रांकन कब से प्रारम्भ हुआ, यह बता पाना कठिन है।

अब तक की उपलब्ध जानकारी के अनुसार श्री डब्ल्यू.जी. आर्चर ने लगभग 1450 ई० में पश्चिमी भारत में चित्रित 'गीत गोविन्द' और 'बालगोपाल स्तुति' के प्राप्त क्रमशः एक और दो पन्नों को कृष्ण चरित्र का प्रथम अंकन माना है तथा स्वर्गीय एन.सी. मेहता ने अहमदाबाद में लिखित एवं 1451 ई० में चित्रित लिपटवापट-चित्र (स्क्रोल) वसंत-विलास को प्रेम के अंकन का उपलब्ध प्रथम चित्रण माना है, जो आज फ्रियर आर्ट गैलेरी वाशिंगटन में द्रष्टव्य है।

पन्द्रहवीं शती के उपरान्त से तो कृष्ण लीला के चित्रण की परम्परा ही चल पड़ी। धीरे-धीरे भक्ति के प्रसार के कारण शैव मत का कलाओं पर प्रभाव कम होने लगा। 8वीं शती के बारहवीं-तेरहवीं शती तक भारतीय मन्दिरों की मूर्तिकला में शिव-पार्वती का बाहुल्य था, पर सगुण भक्ति की परम्परा में शिव और पार्वती का स्थान कृष्ण और राधा ने ले लिया। अब साहित्य, कला और संस्कृति के नायक-नायिका राधाकृष्ण की जुगल जोड़ी ने समाज पर एक जादू का कार्य किया। बृहदाकार और कलात्मक नागर शैली के मन्दिरों के निर्माण की परम्परा मुस्लिम आतंक के कारण प्रायः विलीन होने लगी। पुष्टि-सम्प्रदाय की परम्परा में कृष्ण की सेवा-पूजा हवेलियों में होने लगी और इसी कारण

हवेली संस्कृति का जन्म हुआ। इस हवेली संस्कृति ने काव्य चित्रकला और संगीत का विशेष योगदान दिया।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मध्यकाल में काव्य, संगीत और चित्रकला की त्रिवेणी बह चली। तीनों कलाएँ अन्योन्याश्रित थीं। संत और कवियों की वाणी प्रस्फुटित हुई। उन पदों को पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में गाया जाने लगा, जिससे हवेली संगीत की परम्परा चल पड़ी। काव्य को आधार बनाकर चित्र बनाये जाने लगे। कपड़े पर पिछवाइयों और हवेलियों की दीवारों पर भित्तिचित्रण की परम्परा ने सारे वातावरण को चित्रमय बना दिया। इन चित्रों में सर्वाधिक चित्र राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के बने जो भारतीय चित्रकला की अमर धरोहर हैं। ग्रन्थ-चित्रण, लघुचित्रण, भित्तिचित्रण, पटचित्रण तथा अन्यान्य माध्यमों से कृष्णलीला साकार हो उठी।

कृष्ण चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थों में सर्वाधिक चित्रण गीतगोविन्द, श्रीमद्भागवत, सूरसागर, रसिकप्रिया आदि ग्रन्थों का हुआ। जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि थे। 12वीं शती में रचित 'गीत गोविन्द' राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं के कारण चित्रण का विशेष आधार ग्रन्थ रहा। भारत की विभिन्न कला शैलियों में 'गीत गोविन्द' की चित्रित प्रतियाँ अनेक संग्रहालयों और संग्रहकर्ताओं के पास उपलब्ध हैं। राजस्थानी चित्रकला की तो लगभग सभी प्रमुख शैलियों में 'गीत गोविन्द' का चित्रण हुआ है। मेवाड़ शैली का 1650 ई० का चित्रित 'गीत गोविन्द' जिसके कुछ पन्ने प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम बंबई में उपलब्ध हैं। कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। मेवाड़ शैली के ही दो ग्रन्थ उदयपुर संग्रहालय में, जयपुर शैली का सिटी पैलेस म्यूजियम में, अलवर शैली का अलवर संग्रहालय में, किशनगढ़ शैली का किशनगढ़ दरबार के निजी संग्रह में तथा अन्यान्य पहाड़ी ओड़िसी शैली के 'गीत गोविन्द' विभिन्न संग्रहकर्त्ताओं के पास उपलब्ध हैं, जिसमें राधा-कृष्ण की लौकिक और अलौकिक लीलाओं का मनोहारी चित्रण है। राधाकृष्ण की माधुर्य भावना

का सतरंगा चित्रण उपर्युक्त सचित्र ग्रन्थों में खुलकर हुआ है।

'गीत गोविन्द' के उपरान्त श्रीमद्भागवत ही कृष्ण चरित्र सम्बन्धी ऐसा संस्कृत ग्रन्थ है, जिसका चित्रण बहुलता से हुआ है। कृष्ण चरित्र की अभिव्यक्ति की दृष्टि से उसे स्तोत्र-ग्रन्थ माना जा सकता है। भक्तिकालीन कृष्ण काव्य तथा चित्रण का आधार यह ग्रन्थ अनेक शैलियों और उपशैलियों में समय-समय पर चित्रित होता रहा है। मध्य-कालीन कवियों एवं कलाकारों को भागवत के दशम् स्कन्ध ने अत्यधिक प्रभावित किया है।

अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर भागवत पुराण के दो प्रारम्भिक सचित्र ग्रन्थ क्रमश: 1538 तथा 1610 ई० पोथीखाना जयपुर और पुस्तक-प्रकाशप, जोधपुर में उपलब्ध हैं, जो मेवाड़ शैली के उत्तम उदाहरण हैं। इसके उपरान्त तो राजस्थान में मेवाड़, बून्दी, कोटा, जयपुर, अलवर तथा पहाड़ी शैली में चित्रण की परम्परा में श्रीमद्भागवत का सम्पूर्ण या ईषत् चित्रण हुआ, जिसमें बालकृष्ण, गोपीकृष्ण, राधाकृष्ण तथा रसिक बिहारी कृष्ण का बहुरंगी चित्रण विस्तार से हुआ।

हिन्दी ग्रन्थों में सूरसागर का ईषत् चित्रण भी श्रीमद्भागवत की परम्परा में ही हुआ जिसमें सूर की कल्पना को चित्रकारों ने साकार कर दिया है। सन् 1650-51 ई० में महाराणा जगतसिंह, उदयपुर के राज्यकाल में चित्रित सूरसागर के कुछ पन्ने गोपीकृष्ण कानोड़िया कलकत्ता के निजी संग्रह में उपलब्ध हैं। सन् 1659 में चित्रित भ्रमरगीत पर आधारित कुछ महत्त्वपूर्ण चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में क्रम सं० 59-1-84 पर द्रष्टव्य हैं। रसिकप्रिया नामक नायिका भेद का ग्रन्थ है वह केशव ने राधाकृष्ण को ही नायकत्व का आधार बनाया है, अत: राधाकृष्ण की लीला का चित्रण रसिकप्रिया के माध्यम से बहुलता से हुआ है जो सभी शैलियों में मिलता है।

संस्कृत और हिन्दी के ऐसे कितने ही ग्रन्थ हैं जिनका सम्पूर्ण या ईषत् चित्रण कर कलाकारों ने काव्य की भावना को राधाकृष्ण की

लीलाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। लघुचित्रण मिनएचर पेंटिंग परम्परा में राधाकृष्ण की छवि का मुक्त चित्रण कलाकारों ने अपनी-अपनी शैली में किया है। राधाकृष्ण की लीलाओं का जितना अधिक चित्रण मिनीएचर के माध्यम से हुआ है उतना अन्य किसी माध्यम से नहीं।

राजस्थानी, मुगल, पहाड़ी, दक्कनी, गुजराती, बुन्देलखण्डी, मालवी और न जाने किस-किस शैली में राधाकृष्ण की लीला, असंख्य लघुचित्रों के माध्यम से उपलब्ध है, जिससे देश और विदेश के राजकीय एवं व्यक्तिगत संग्रहालय भरे पड़े हैं। राजस्थानी और पहाड़ी स्कूल के लघुचित्रों का तो प्राण ही राधाकृष्ण की लीलाएँ हैं, जिनमें चित्रकारों ने अनोखी कल्पना का प्रदर्शन किया है।

भित्ति चित्रण के माध्यम से कृष्णलीला का चित्रण बहुलता से हुआ है। पुष्टि सम्प्रदाय के मन्दिर, राजमहल, किले, छतरियाँ तथा श्रेष्ठियों की हवेलियों में जो परम्परानुसार चित्रण हुआ है, उसमें कृष्णलीला का अंकन विस्तार से हुआ है। ऐसा कोई मन्दिर, छतरी, हवेली या राजमहल नहीं होगा जो चित्रों से सुशोभित न हो और उसमें कृष्णलीला का अंकन न हो।

राजमहलों में चित्रशाला या शीशमहल बनाने की परम्परा रही, अत: ऐसे महलों में शीशे की जड़ाई के साथ ही दीवारों पर सामंती जीवन के चित्रण के साथ राधाकृष्ण की मनोहारी युगल छवियों का भी चित्रण हुआ है। ओरछा, कोटा, बून्दी, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, अलवर तथा अनेक ठिकानों के महलों का चित्रण राधाकृष्ण की छवियों से सुशोभित है। इसी परम्परा में चम्बा, मण्डी, गुलेर आदि पहाड़ी रियासतों के महलों में भी कृष्णलीला जीवन्त हो उठी है।

पुष्टि सम्प्रदाय के मन्दिरों में तो कृष्णलीला के अंकन की परम्परा रही है, अत: बालकृष्ण की दुष्टदलन लीलाओं तथा माखन चोरी, रासलीला आदि का चित्रण ऐसे मन्दिरों में विशेष रूप से हुआ है। श्रीनाथजी का नाथद्वारा मन्दिर इस परम्परा का प्रेरक रहा है। मन्दिरों में

भगवान की झाँकी की शोभा के लिये बड़े-बड़े पटचित्र बनाने की नाथद्वारा में परम्परा रही है, अत: कृष्णलीला सम्बन्धी ये पिछवाइयाँ व्यावसायिक रूप से भी बहुलता से बनी हैं। श्रीनाथजी की विभिन्न झाँकियाँ तथा रासलीला इन पिछवाइयों के प्रमुख विषय रहे हैं।

इस प्रकार भारतीय चित्रकला में कृष्ण चरित्र को आधार बनाकर चित्र बनाने की परम्परा ने जनजीवन के सांस्कृतिक परिवेश को रसमय बना दिया। यह परम्परा दो रूपों में प्रवाहित हुई—एक सामंती कला एवं दूसरी लोककला के रूप में। मध्यकाल में राज-दरबारों में गुणीजन खाना और मुसव्विर खाना होता था, जिसमें दरबार के आश्रय में कितने ही कलाकार अंकन में संलग्न होते थे। वे कलाकार सामंती जीवन की अभिव्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सचित्र अंकन करते थे। वहीं राधाकृष्ण के बहाने शृंगारी भावों को भी चित्रांकित कर दरबारी संस्कृति को उजागर करते थे। ऐसे चित्रों में कृष्ण की वेशभूषा राजसी एवं राधा ठकुरानी के रूप में अधिक अंकित की गयी है।

मुगल शैली में अंकित राधाकृष्ण की लीलाएँ मुगलिया वेशभूषा और रहन-सहन से प्रभावित हैं तो राजस्थानी स्कूल के बहुत से चित्रों में राधाकृष्ण की रंगरेलियों का परिवेश राजसी महल, फव्वारों, निकुंजों से युक्त उपवन हैं। ऐसे चित्रों में शीशे जड़ी एवं मणिकुट्टिम से युक्त चित्रसारियाँ, विशाल राजपूत शैली की कलात्मक बारहदरियाँ, रंग-बिरंगे फर्श से युक्त प्रांगण, चित्रित स्तम्भ, सुनहरी कामदार पधंक, कसीदा कढ़े रंग-बिरंगे पर्दे और चिकें, उच्च अट्टालिकाओं के कलात्मक भवन में राधाकृष्ण की रंगरेलियाँ अंकित की गयी हैं। राजसी ठाट-बाट का चित्रण खुले परिवेश में भी हुआ है, पर वह परिवेश परकोटों से घिरे उपवनों का है, जो लतागुल्मों से आच्छादित है। कमलों से सुशोभित सरोवर, पशु-पक्षियों से युक्त कुंज, फूलों और फलों से लदे पेड़-पौधे और ऐसे वासंती वातावरण में रंगरेलियाँ करते राधा और कृष्ण वास्तव में ऐसे राजस्थानी और पहाड़ी चित्रों में रीतिकाल साकार हो उठा है।

लोककला के रूप में प्रस्फुटित चित्रकला अधिकतर धर्मपीठों एवं जनजीवन में अधिक पल्लवित हुई। भित्ति चित्रण की परम्परा ने लोक कला को अधिक बढ़ावा दिया। पुष्टि सम्प्रदाय के मन्दिरों में ब्रज की लोकसंस्कृति का पुनर्स्थापन हुआ, अत: ब्रज के लोकजीवन की झाँकी यथा माखनचोरी, गोचारण, दुष्टदमन, गोवर्धन धारण, रासलीला आदि का चित्रण मन्दिरों की दीवारों पर बहुलता से हुआ। धीरे-धीरे यह परम्परा कस्बाती हवेलियों और छतरियों में भी अंकित होने लगी। राजस्थान में शेखावाटी क्षेत्र की सैकड़ों हवेलियों में यह चित्रण की परम्परा आज भी उपलब्ध है। स्वच्छंद वातावरण में कृष्ण का गौवें चराना, जंगल में अनेक प्रकार के खेल रचाना, पूतना से लेकर कंस तक का उद्धार करना, गोवर्धन धारण करना, कालीदमन, दानलीला, माखनलीला आदि का चित्रांकन चित्रण की दृष्टि से तो लोकजीवन के समीप है ही, साथ ही चित्रांकन की शैलीगत विशेषताओं के कारण भी लोकतत्त्व के अधिक समीप है। ऐसे चित्र धर्मपीठों, छतरियों और दरबारों की धार्मिक भावना के कारण राजमहलों में भी विपुल रूप से अंकित किये गये हैं। छतरियों की गोलाकृति के कारण रासलीला का चित्रण छतरियों की विशेषता बन गया है।

चित्रकला के माध्यम से कृष्ण चरित्र को सर्वाधिक प्रसार नाथद्वारा उपशैली ने दिया है। नाथद्वारा में श्रीनाथजी के स्वरूप को स्थापित होने के साथ ही गुसाइंयों के साथ अनेक चित्रकार भी ब्रजक्षेत्र से अपनी जीविका उपार्जन हेतु आ बसे और श्रीनाथजी के स्वरूप एवं अन्य लीलाओं का अंकन करने लगे। ये चित्रकार अधिकतर कपड़े पर चित्रांकन करते थे जो श्रीनाथजी की पिछवाइयों के रूप में प्रचलित हुआ। माता यशोदा की प्रमुखता के कारण स्त्रियों की आकृति में प्रौढ़ता, शारीरिक स्थूलता और भावों में वात्सल्य की झलक विशेष दर्शनीय है। पुरुषों में गुसाइंयों के पुष्ट कलवेर, बालगोपालों की ग्रामीण आकृतियाँ तथा गाय, बछड़े, वन, निकुंज, यमुना तट, वंशीवट का अंकन सरस एवं सौम्य बन

पड़ा है। इसलिये ये चित्र लोककला के सच्चे प्रतीक हैं।

कृष्ण चरित्र की चित्रोपमता के कारण मध्यकाल में भारत भर की चित्रशैलियों में चित्र बने, जिसमें राजस्थानी और पहाड़ी शैलियाँ सर्वप्रमुख रहीं। राधाकृष्ण की छवि को उपर्युक्त माध्यम के अतिरिक्त हाथी दाँत, लकड़ी के कपाट, भोडल आदि पर भी कलाकारों ने बनाया। वास्तव में कृष्ण चरित्र ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन में जो रस घोला है वह अनोखा है। साहित्यिक संगीत और चित्रकला के माध्यम से कृष्णलीला साकार हो उठी है। इन चित्रों के कारण प्रत्येक संग्रहालय और स्थान विशेष वृन्दावन बन गया है।

●●

श्रीकृष्ण अट्टम: श्रीकृष्ण कथा पर आधारित केरलीय प्राचीन नाट्य रूप

❀ डॉ० एन० ई० विश्वनाथ अय्यर

नटनागर गोपाल की कथा ने भारत के सभी प्रान्तों के कवियों, गायकों, नर्तकों एवं मूर्तिकारों को अभिभूत किया है। उन्होंने अपनी अतिशय श्रद्धा व भक्ति प्रदर्शित करते हुये श्रीकृष्ण के चरित्र का चित्रण अपनी-अपनी कला के माध्यम से किया। श्रव्य काव्य से बढ़कर दृश्य नाटक अधिक प्रभावशाली होता है। इसलिये कृष्ण की गाथा का नाट्यरूप पूरे भारत में अब भी अत्यन्त लोकप्रिय है। श्रीकृष्ण की कथा के नाट्यरूप का इतना प्रसार हो जाने का मुख्य श्रेय जयदेव कवि को है। जयदेव का जन्म उड़ीसा में जरूर हुआ था मगर उन्हें हर प्रदेश ने अपना ही माना। नाट्यशैलियाँ भले ही अलग-अलग हों, पर सभी जयदेव के गीतगोविन्द की प्रस्तुति करती हैं।

कृष्ण-भक्ति की महिमा का गान केरल में प्राचीन युग से ही होता आया है। यहाँ के चेरगान पेरुनाल कुलशेखर मुकंदमाला के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनके विषय में एक श्लोक प्रसिद्ध है–

श्रूयते यस्य नगरे रंगनायात्रा दिने दिने
राजानं तमहं वन्दे कुलशेखरनायकम्

जयदेव का गीत गोविन्द यहाँ से मन्दिरों में आरती के समय इटक्का (ढक्का) बाजे की संगत में गाया जाता है। इस गायन प्रक्रिया में केरलीय गायन शैली का प्रयोग होता है। इसे सोपान शैली पुकारा जाता है। गीत गोविन्द का दूसरा नाम अष्टपदी भी है। इस अष्टपदी पर आधारित नृत्यनाट्य का भी प्रयोग शुरू हुआ। इसे अष्टपदियाट्टम पुकारते थे। यह वर्षों तक चलता रहा। विशेषकर गुरुवायूर के विष्ण-मन्दिर में

यह नियमित रूप से चलता था। गुरुवायूर मन्दिर कोविकोड के सामुतिरि राजाओं के कुलदेवता का मन्दिर था। सामुतिरि यहाँ अष्टपदियाट्टम भी देखा करते थे। अब अष्टपदियाट्टम प्रचलित नहीं है। सत्रहवीं सदी में मानवेद नामक सामुतिरि हुए जिन्होंने अष्टपदियाट्टम से प्रभावित होकर अपनी तरफ से कृष्णाट्टम प्रस्तुत किया। उन्होंने 'कृष्णणीति' नाम से कृष्णाट्टम का आधार-ग्रन्थ लिखा। इसी को नाट्यरूप में प्रस्तुत किया जाने लगा जो बाद में 'कृष्णाट्टम' प्रसिद्ध हुआ।

कृष्ण गीति में संस्कृत के श्लोक हैं और पद भी। 'पदं' का अर्थ है गेय वार्तालाप। इस ग्रन्थ का मूल आधार भागवत अवश्य है परन्तु नारायणीधाम का सीधा प्रभाव स्पष्ट है। नारायणीयकार मेलपत्तूर भट्टनिरि और कृष्ण गीतिकार मानोद संभवत: समसामयिक तक एक-दूसरे से परिचित भी थे। कृष्णगीति के कवि नाट्यकला के मर्मज्ञ थे ही कविता में भी कुशल थे, अनुप्रास की माधुरी के तो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

1. अवतार-प्रसंग में ब्रह्माजी द्वारा पृथ्वी को आश्वासन—

उर्वी गुर्वी बहन्तीं विपदपिति
वदन्ती पतन्तीं पदान्ते
पश्यन् वाष्पं वमन्तीं न्वयि स कुतमना
व्याजहाराधिहार:
वत्से सर्वसहे त्वं क्षणसमय मये
साध्वि सर्व सहेथा:।
लक्ष्मीनाथ: स साक्षाज्जागदवनकला-
दीक्षितो रक्षिता न:।।

2. केलीलोलमुदारनाद मुरली
नातीनिलीनाधरं
धूमी धूमलकांतकुन्तलभर-
व्यासंगि पिंछाचलं

नालीकायतलोचनं नवघनश्यामं
क्वणात्किंकिणी-
पालीदन्नर पिंगलांबर धरं
गोपालबालं भजे।

कृष्णगीति की कथा आठ खण्डों में विभाजित है। उन्होंने आठ दिनों की प्रस्तुति के लिये ऐसा विभाजन किया। आठ दिनों के प्रसंग हैं— 1. अवतार, 2. कालियमर्दन, 3. रासक्रीड़ा, 4. कंसवध, 5. स्वयंवर (रुक्मिणी स्वयंवर), 6. मल्लयुद्ध, 7. विविदवध और 8. स्वर्गारोहण। सामुतिरि ने अपने वैभवकाल में इनकी प्रस्तुति का विस्तृत प्रबन्ध किया। बाद में वह गुरुवायूर मन्दिर में सीमित रह गया। कृष्णगीति के रचयिता ने यह नाट्यरूप सामान्य जनता के भी मनोरंजन व कथा श्रवण के उद्देश्य से प्रस्तुत किया था।

कलापक्ष :—कृष्णाट्टम अब प्राचीन नाट्य-नृत्य-कला के रूप में ही सम्मानित है। उसके उदाहरण के रूप में ही वह प्रस्तुत होता है। केरल की प्राचीन नाट्यकला कुटियाट्टम से ही इसकी अनेक नाट्य मुद्रायें की गईं। कई रूढ़ियाँ भी उससे आई होंगी। कुटियाट्टम का लक्ष्य सामान्य कोटि का दर्शक था। अतएव उसमें कई लोकप्रिय तत्त्व जोड़े गये। इस नाट्य में मुद्राएँ तो हैं लेकिन कथकलि की तरह प्रत्येक शब्द का भाव मुद्राओं में अंकित करने की अनिवार्यता नहीं रही। कथकलि की तरह इसमें भी नायक अलग होता है, नर्तक अलग। गायक के गीत या पद से प्रस्तुत भाव को सामान्यत: मुद्रा से और शेष रसाभिनय से प्रस्तुत किया जाता है। इसमें नृत्य-नृत्य विशेष महत्त्व के हैं। कथकलि में जो कलाशप जैसी नृत्य-भंगिमाएँ हैं वे कृष्णाट्टम में भी हैं। इसका आहार्याभिनय कथकलि से कुछ भिन्न है। कथकलि की वेशसज्जा अपनी विलक्षणता से संसार भर के कलाप्रेमियों को मोहित कर सकी है। सात्विक कथापान के मुखमण्डल पर हरा रंग होता है तो उद्धत (कन्ति) पात्रों के मुखमण्डल पर इसका विशेष चिन्ह और कुछ अरुण वर्ण भी होता है। तामस एवं रौद्र

पात्रों के लिये दाढ़ी आदि सज्जाएँ होती हैं। काला रंग, ऐसी ही दाढ़ी, बृहदाकार किरीट और काली वेशभूषा करुत्त ताहि (काली, दाढ़ी) के लिये है तो रौद्र के लिये ये सब लाल रंग के होते हैं। इसी प्रकार सन्त, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री आदि के लिये मिनुक्कु नामक सज्जा है। कृष्णाट्टम के दिनों में लोगों पर कुछ प्रभाव बनाने के लिये कई कथापात्रों के लिये मुखौटे वाले पात्र मुद्राभिनय और नृत्य ही कर पाते हैं। जैसे ब्रह्मा के लिये चतुर्भुज, मुरासुर के लिये पंचमुख, नरकासुर के लिये लाल दाढ़ी वाला मुखौटा आदि विधान हैं। ये अब कुछ पुराने लग सकते हैं, लेकिन कृष्णाट्टम की प्राचीनता को सुरक्षित रखने के लिये ये आवश्यक माने गये हैं।

कृष्णाट्टम का संगीत केरलीय शैली का है, यह कहा जा चुका है। इसके वाद्यों में गायक चेंङला और इलत्तालम (झाँझर) का उपयोग करते हैं। इसके अन्य वाद्य मछलं के दो भेद हैं—शुद्धमछलम् एवं तोधिमछलम्। मछलं पखावज के आकार का तो है, पर इससे जो नाद निकलता है वह बड़ा ही मधुर व गम्भीर है। मौन रात्रि में कुशल मछलयात्मक की उँगलियों की थाप का नाद कितनी ही दूर तक गूँज उठता है। केरलीय संगीत की कुछ रागिनियों के नाम हैं—पाटि, सामंत, लहरी, भैरवी, सौराष्ट्र, कामोदरी, वम्नुवराटि आदि। इसकी विशेषता इसके आलाप की शैली में है।

कृष्णाट्टम की प्रस्तुति की प्रणाली पर भी जो शब्द बताना संगत रहेगा, वह गुरुवायूर मन्दिर की अपनी कला का रूप धारण कर चुका है। इसकी प्रस्तुति दो प्रसंगों पर होती है। एक तो मन्दिर द्वारा निश्चित दिनों में दूसरे भक्तों की मनौती के अनुसार। इसका प्रारम्भ रात को नौ बजे के बाद अर्थात् भगवान की शयन-आरती के पश्चात् किया जाता है। मन्दिर के खुले प्रांगण में बृहद् दीपदान की रोशनी में इसकी प्रस्तुति होती है। कथकलि की तरह इसमें भी एक पर्दा दोनों तरफ खड़े सेवक सम्भालते हैं। प्रत्येक दृश्य के अन्त में पर्दा सम्भाला जाता है। बड़े तड़के तीन बजे

भगवान की निर्माल्य पूजा होती है। यह वाकच्चार्नु नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रक्रिया के पहले कृष्णाट्टम समाप्त करने का नियम है। इस नृत्य विभाग के लिये अलग कलाकार नियुक्त किये जाते हैं। स्त्रियों की भूमिका पुरुष ही लेते हैं। जिस दिन स्वर्गारोहण की प्रस्तुति होती है उस दिन स्वर्गारोहण के बाद दुबारा अवतार प्रसंग भी संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है। अमंगल शंका के कारण यों किया जाता है।

कृष्णाट्टम के पात्रों में सबसे अधिक आकर्षक सज्जा श्रीकृष्ण की है। कथकलि में श्रीकृष्ण की जो वेशभूषा है वह कृष्णाट्टम के कृष्ण का ही परिवर्धित रूप है। मोर-पंखों का किरीट परम रमणीय होता है। इसको लेकर दंतकथाएँ भी चलती हैं किन्तु ऐतिहासिक तथ्य के अभाव में इसे मैं नहीं दुहराना चाहता।

एक दिन की प्रस्तुति में औसतन 16 से 18 तक दृश्य, 15-16 श्लोक और 45-45 पद होते हैं। कृष्णाट्टम का मुख्य रस भक्ति है। शृंगार आदि रसों की भी कुछ अभिव्यक्ति अवश्य होती है।

इस हृदयहारी भक्तिपूर्ण कला-नैवेद्य का प्रयोग अभी कुछ दिन पहले तक गुरुवायूर के भक्ति के प्रांगण तक सीमित रहा था। लेकिन कलाप्रेमी इसे प्राचीन केरलीय नाटय-नृत्य के रूप में अधिक प्रचार देने के लिये प्रयत्नशील हैं। कई सार्वजनिक मंचों पर देश में व विदेश में भी इसे प्रस्तुत किया जाने लगा है।

कृष्णाट्टम पर इन विचारों का संक्षेप करते हुये मुझे तमिल की एक लोककथा स्मरण आती है। मयूर को नृत्य करते देखकर एक अन्य पक्षी को इच्छा हुई कि मैं भी ऐसा मनभावन नृत्य करूँ। उसने मोर के छूटे हुए पंख जुटाये और अपने परों के बीच में खोंस लिये। अपनी बिरादरी की चिड़ियों का एक सम्मेलन करके वह मयूर नृत्य प्रस्तुत करने लगा। सारे मोर पंख झड़ गये और उस महत्त्वाकांक्षी पक्षी की बड़ी दुर्गति हुई। मुझे कृष्णाट्टम व कथकलि से प्रेम जरूर है। मित्रवर डॉ० भाटिया जी ने समझा कि ये कृष्णाट्टम प्रस्तुत करें। मैंने उनका आदेश मानकर

तथ्यों के मोर पंख तो जमा किये मगर इससे आगे बढ़कर तमिल कहावत को फिर से सार्थक करने को जी नहीं चाहता। मैं प्रिय पाठकों को धन्यवाद देने के साथ निमंत्रण देता हूँ—आप लोग गुरुवायूर पधारिये, कृष्ण-दर्शन एवं कृष्णाट्टम का दर्शन-दोनों कीजिये।

मोहिनियाट्टम—केरल भारत के अन्य प्रदेश के निवासियों को एवं विदेशियों को भी मोहित करता रहा है। जानलेवा महँगाई केरल को भी ग्रस्त कर चुकी है। इसलिए सस्तापन यहाँ लोगों को खींच नहीं लाता। यहाँ की प्रकृति की हरियाली हर दर्शक का दिल हर लेती है। हिन्दी के विख्यात लेखक डॉ० विनयमोहन शर्मा ने केरल की दूसरी विशेषता का उल्लेख अपने संस्मरण में किया था। वे कहते हैं कि केरल महाश्वेताओं की भूमि है। उनका मतलब इस शब्द के शब्दार्थ से ही है। केरलीय परम्परा की औसत रमणी श्वेत वस्त्र पहनती है। सम्पन्न हो तो वस्त्र की किनारी सुनहली होती है। जहाँ अन्य प्रदेशों में स्त्री के लिये श्वेत वस्त्र अमंगल चिन्ह है वहाँ केरल में धुले श्वेत वस्त्र शुभ हैं, उनसे नारी के अंगों की कान्ति दुगुनी-चौगुनी होती है। केरलीय परम्परा की नारियों की घनी केश राशि का लक्षण यही दिया है कि केश घुटनों को छूते थे। ऐसी केरलीय रूपसियों की एक नृत्य-विद्या मोहिनियाट्टम है।

मोहिनियाट्टम नाम सुनने पर पहले यह आभास हो सकता है कि भगवान विष्णु 'मोहिनी' बनकर अमृत-मंथन के प्रसंग पर आये थे। उसी मोहिनी का इससे सम्बन्ध हो सकता है। किन्तु किसी भी केरलीय पण्डित ने ऐसा उल्लेख नहीं किया है।

मोहिनियाट्टम को केरलीय लोक नृत्य-कला का परिमार्जित और बाद में शास्त्रीयकृत नृत्य कहा जा सकता है। यह बहुत पुरानी भी नहीं है। वैसे संगीत व नृत्य स्त्रियों की विशेष देन के रूप में हमेशा जारी रहे हैं। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के किसी-किसी काव्य में मोहिनियाट्टम करती नर्तकियों की चर्चा है। मगर उन्हें बड़ी गरिमा नहीं दी गई थी।

इस नृत्यविधा के प्रारम्भ के विषय में दो विचारधाराएँ हैं। प्रथम

यह कि देवदासियाट्टम ही बाद में मोहिनियाट्टम में रूपान्तरित हुआ। पहले मन्दिरों में भगवान की षोडशोपचार पूजा के अंग के रूप में नृत्य का भी तत्त्व था। सम्पन्न मन्दिरों में इसके लिये देवदासियाँ नियुक्त होती थीं। इनका नृत्य होता था। समय के फेर में देवदासियों का सामाजिक ह्रास-अवमूल्यन होता गया। देवदासी अनैतिकता की मूर्ति मानी जाने लगी। उसका नृत्य भी उसी कोटि का माना गया। यहाँ तक कि आधुनिक युग के प्रारम्भिक दिनों में भी अभिजात परिवारों की माताएँ पुत्री की नृत्तोत्सुक देख डाँटती थीं कि तुम देवदासी (तम्दवतेवटिरिश-देसया) होने जा रही हो?

मोहिनियाट्टम के प्रारम्भ के विषय में दूसरा विचार यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में तिरुविमांकूर के कलाप्रेमी शासक स्वाति तिरुनाल रामवर्मा महाराजा ने अपने दरबार में तंजाऊर की दो देवदासियों को नर्तकी नियुक्त किया था। महाराजा के कलाकार मित्र थे इरियम्मन तेंपि। उन दोनों ने मिलकर कुछ खास प्रकार के गीत लिखे। इन्हें 'पदं' पुकारते हैं। इन पदों का अभिनय एक विशेष नृत्यशैली में उन देवदासियों से कराया और उसे मोहिनियाट्टम नाम दिया। उसमें दरबार के नाट्याचार्य तमिल भाषी वहिवेलु की सेवाएँ ली गई थीं।

केरल के पण्डित मोहिनियाट्टम को इतनी आधुनिक नहीं मानना चाहते जो भी हो, स्वाति तिरुनाल एवं इरयिम्मन तेंपि ने मोहिनियाट्टम के प्रचार के लिये उल्लेखनीय सेवाएँ अवश्य की हैं।

केरलीय स्त्रियों ने कंई परम्परागत लोकनृत्यों को सुरक्षित रखा है। उनका एक उदाहरण है तिरुयानिराकलि। अगहन महीने के आर्द्रा नक्षत्र के दिन विशेष रूप से यह नृत्य प्रस्तुत किया जाता है। यह नृत्य अन्य पर्वों में सांस्कृतिक मनोरंजन में भी गाया जाता है। इसमें गीत और तालाश्रित नृत्य का विधान है। मोहिनियाट्टम में इसका कुछ अंश माना जाता है।

मोहिनियाट्टम को जब शास्त्रीय रूप दिया गया तब उसको नृत्य के अलावा मुद्राओं और खास अदाओं (अटवु) का भी विधान किया

गया। केरल के लिये भरतनाट्य परिचित था। इसलिये भरतनाट्य का कुछ अंश लेना सहज था। किन्तु यहाँ कथकलि नृत्य इतना लोकप्रिय व शास्त्रीय बन गया था कि उसके प्रमाण-ग्रन्थों (हस्तलक्षणदीपिका, अभिनयदर्पणम्) से मोहिनियाट्टम के लिये आवश्यक हस्तमुद्राएँ और नृत्यशैली भी की गईं। ये मुद्राएँ कथकलि की तरह गहरी नहीं।

यह एक लास्य प्रधान नृत्य है। सीमित क्रम से ही इसमें चरण-नृत्य होते हैं। आन्दोलनात्मक वृत्ताकार अंग चलन इस भाष्य को अधिक मोहक बनाता है। मोहिनियाट्टम का प्रयोग दो रसों की प्रस्तुति के लिये किया जाता है—शृंगार और भक्ति। शृंगार में भी विरहिणी की अपनी व्यथा का वर्णन इसका मुख्य विषय है। भक्ति के क्षेत्र में राधा का विरह वर्णित होता है या लक्ष्मी का भगवान नारायण के विरह का कष्ट। ये 'पदं' नामक गीतविधा की संगत में प्रस्तुत किये जाते हैं। मोहिनियाट्टम के शिक्षण-क्रम के अंग हैं—चोल्केट्टु (बोल), जातिस्वर, वर्ण, पदं, तिल्लाना (तराना) श्लोक और सप्त। इस नृत्य की चारुता का सबसे मुख्य कारण नर्तकी की रूपमाधुरी व सज्जा है। जैसा कि अन्यत्र कहा है—शुभ्रश्वेत, सुनहली किनारी के वस्त्र और ऐसी ही चोली पहनती है। कभी अनधुले ही श्वेत रंग के वस्त्र पहने जाते हैं। हाथ, गला और पैरों पर उचित भूषण तथा घुँघरू होते हैं। केशराशि का जूड़ा बायीं तरफ जरा टेढ़ा बाँधा जाता है। उस पर जूही की माला लपेटी जाती है। आँखों में काजल चितवन को और भी तेज करती है। जब नर्तकी मंच पर इस वेशभूषा से सजी अपनी नृत्यमुद्रा में खड़ी शृंगार रसपूर्ण मंदहास करती है तब वह सचमुच मोहिनी होती है। उसके नृत्य की शास्त्रीयता-अशास्त्रीयता पर कौन माथापच्ची करे।

मोहिनियाट्टम की संगत में गायिका का गायक होता है जो गीत गाता है बोल भी बोलता है। संगत के परम्परागत वाद्य मछलं और इटक्का (ढक्का) हैं। मगर अब इसमें मृदंग, बांसुरी आदि का भी प्रयोग किया जाता है।

स्वाति तिरुनाल का युग मोहिनियाट्टम का एक युग था। उसके बाद वह फिर से कुछ तिरस्कृत होता चला। इसका नये सिरे से विकास वल्लत्तोल ने किया। उन्होंने कलामण्डलम् की स्थापना और अन्य प्रचार-आन्दोलन से कथकलि की पुन: प्रतिष्ठा की। उन्होंने मोहिनियाट्टम को भी अपने विद्यापीठ में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। कलामण्डलम् की मोहिनियाट्टम की परम्परा श्रीमती कल्याणिक्कटिट अम्मा ने चलाई है। अब उस संस्था ने इस नृत्य में कुछ शैलीगत उद्‌भावनाएँ भी की हैं। पुराने पदों के अलावा गीत गोविन्द के पद आदि भी अभिनीति होते हैं।

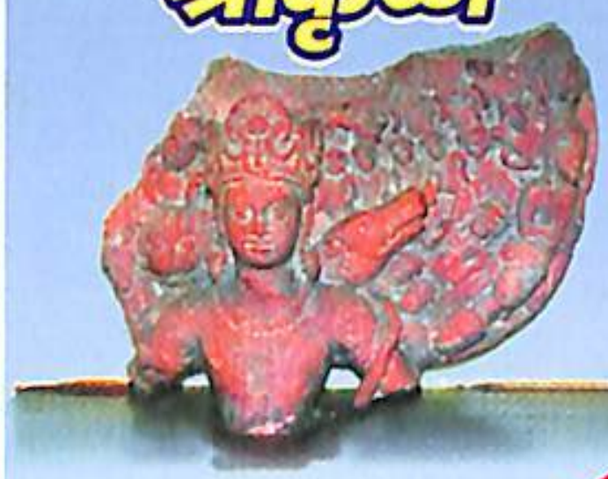
मोहिनियाट्टम की मोहिनी ने केरल से बाहर की नर्तकियों को भी मुग्ध किया है। उनमें श्रीमती कनक रेले का विशेष स्थान है। वे बम्बई में कन्याओं को इस कला का प्रशिक्षण देती हैं। उन्होंने इस विषय पर अनुसन्धान करके कई सिद्धान्त भी रूपायित किये हैं।

केरल में सांस्कृतिक कार्यक्रमों में अब मोहिनियाट्टम अनिवार्य अंग-सा हो गया है। स्कूलों-कॉलेजों के युवजनोत्सव में मोहिनियाट्टम की प्रतियोगिताएँ चलती हैं। परम्परागत मोहिनियाट्टम के प्रति श्रद्धालु लोगों की शिकायत है कि अब उस कला के विषय में बड़ी ज्यादती हो रही है। यह प्रवृत्ति 'इंस्टन्ट कला' की तैयारी में होती ही है। मोहिनियाट्टम का आनन्द देखने से ही प्राप्त होता है। सोने के कागज पर भी 'शक्कर' शब्द लिखने से वह मीठा नहीं होता। इसलिये मुझे अफसोस है कि मोहिनियाट्टम की एक झलक भी मैं नहीं दिखा सका।

●●

भारत भाव रूप

श्रीकृष्ण



भवानीशंकर शुक्ल
हरिमोहन भारतीय

वृन्दावन शोध संस्थान
रमणरेती, वृन्दावन - 281121 (भारत)

प्रकाशक

वृन्दावन शोध संस्थान

रमणरेती, वृन्दावन - 281121 (भारत)